हिन्दी के परम-भक्त : शान्ति के देवता

भारत-संघ के प्रथम प्रधान

देशरत्न डा. राजेन्द्रप्रसाद जी

जिनके पावन दर्शनों से

मुझे अपूर्व शान्ति और स्फूर्ति प्राप्त हुई

के कर कमलों में

श्रद्धा पूर्वक : सप्रेम

सादर समर्पित

भारत संघ के प्रधान
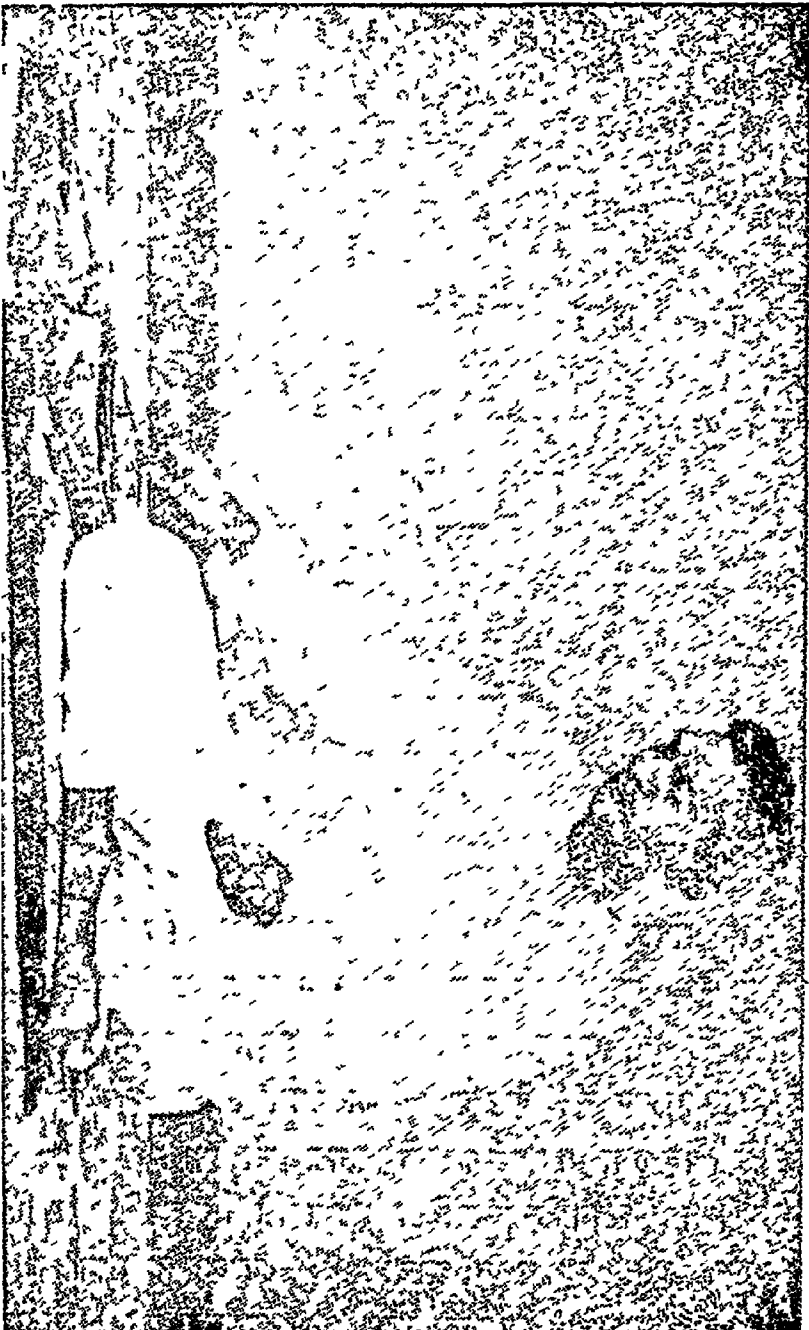
माननीय डा० राजेन्द्रप्रसाद

निवेदन

साहित्य वास्तव में मानव की भावनाओं तथा आन्तरिक अनुभूतियों का ही लिपि-बद्ध रूप है। इन अनुभूतियों के निर्माण में और परिष्कार में राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव होता है। प्रत्येक देश की राजनैतिक तथा सास्कृतिक परिस्थितियाँ भी उस की विगत परम्परा का ही विकसित रूप होती हैं। वे युग की मांग से प्रभावित होती हैं, तथा परंपरागत चिन्तन-पद्धति का प्रभाव उन पर स्पष्ट रूप से लक्षित होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक काल की विशिष्ट प्रवृत्ति के प्रदर्शन से पूर्व राजनैतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के विकास-क्रम को भी स्पष्ट कर दिया गया है ताकि पाठक विशिष्ट काल की विशिष्ट प्रवृत्ति के अध्ययन और समीक्षा में वैज्ञानिक दृष्टि-कोण अपना सकें। साहित्य की किसी भी विशिष्ट प्रवृति का निर्माण राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम तो होता ही हैं, साथ ही उस विगत परपरा से भी सम्बन्ध होता है। अतः यथासम्भव पूर्वापर परंपरा को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

काल-विभाजन करते हुए आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा निर्देशित तथ्यों का ही आधार ग्रहण किया गया है, परन्तु इतिहास में काल-विभाजन से उत्पन्न भ्रान्तियों का संकेत कर उसके निवारण का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक काल की विशिष्ट प्रवृत्ति की विशेषताओं को भी प्रदर्शित कर दिया गया है। प्रत्येक काल के विशिष्ट कवियों का आलोचनात्मक परिचय देकर उस की कला पक्ष तथा भाव पक्ष की विशेषताओं को यथासम्भव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास को आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने का श्रेय तो आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल को ही है, परन्तु मिश्रबन्धु, डा० श्यामसुन्दरदास, प० अयोध्यासिंह उपाध्याय इत्यादि के इस विषय में किए गए प्रयत्न भी स्तुत्य हैं। इधर नवीनतम

दृष्टिकोण के अनुसार भी हिन्दी साहित्य के अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक में इन सभी महानुभावों की विद्वत्ता पूर्ण गवेषणाओं का पूर्ण लाभ उठाया गया है; अतः इन के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित न करना धृष्ठता होगी।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे अपने मित्र श्री योगेन्द्र कुमार मल्लिक बी.ए., साहित्य-रत्न से विशेष सहायता मिली है। मुझे यह लिख देने मे तनिक भी संकोच नहीं कि उन के क्रियात्मक सहयोग के विना यह पुस्तक कदापि इतनी शीघ्र समाप्त न हो सकती थीं। उन के द्वारा मुझे गुरुकुल महाविद्यालय रायकोट के मुख्याधिष्ठाता आदरणीय पं० परमानन्द जी शास्त्री से भी स्थान-स्थान पर संशोधन तथा सुझाव प्राप्त होकर पुस्तक की उपादेयता को बढ़ाने में अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ है; एतदर्थ मै इन दोनों महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ।

इस बुस्तक मैं कहीं-कहीं प्रेस की अशुद्धियाँ रह गई हैं। उदार पाठकों से निवेदन है कि उन को सुधार लेने की कृपा करें। मानव की कृति पूर्ण नही होती; अतः इस को पढ़ते-पढ़ते जो भी दोष आप की दृष्टि मे आवें, आप उन्हें निस्सकोच मुझे भेजने की कृपा करें। मैं उन का स्वागत करूँगा तथा अगले संस्करण में उन से लाभ उठाऊँगा।

विनीत

तुलसी जयन्ती, सं० २००७

हंसराज अग्रवाल

लेखक के महत्वपूर्ण ग्रन्थ

मौलिक

१. आदर्श कथा मजरी (पंजाब में कहानियों की पहली मौलिक पुस्तक)

२. रणजीत सिंह (महाराज रणजीत सिंह का जीवनचरित्र—समाप्त)

३. संस्कृत साहित्य का इतिहास (अंग्रेज़ी में) द्वितीय संस्करण (प्रेस में)

४. „ „ „ (हिन्दी मे) तृतीय संस्करण ४॥)

५. „ „ „ (सस्कृत में) दो भागों में प्रति भाग ५)
लायब्रेरी संस्करण „ ७॥)

६. हमारी सभ्यता और विज्ञान-कला २॥)

७. प्रबन्ध पूर्णिमा (प्रभाकर, एम० ए०, साहित्य-रत्न आदि उच्च परीक्षाओं के लिए प्रस्तावों की परमोपयोगी पुस्तक) ४)

८. हमारी विभूतियाँ (आदर्श नेताओं के चरित्र) २)

इत्यादि

संग्रह

१. साहित्य प्रवेश (नवयुवकों के लिए गद्य-पद्यात्मक अतीव उपयोगी संग्रह) ३॥)

२. उत्कृष्ट कहानियाँ (कहानी संग्रह) १॥)

३. दिव्य-बलिदान (एकांकी संग्रह) २)

इत्यादि

विषय-सूची

उत्तर-मध्य काल

हिन्दी साहित्य का महत्त्व

विगत एक हज़ार वर्ष की हिन्दी भाषी जनता की भावना, अनुभूति और सुख-दुःख आदि का प्रतिबिम्ब, तथा भारत के इस क्षेत्र की परम्परागत चिन्तन-विधि का विकासक्रम हम हिन्दी साहित्य के अध्ययन द्वारा ही जान सकते हैं। विगत एक हजार वर्ष में हिन्दी भाषी क्षेत्र ने क्या सोचा, उसका मानसिक तथा आत्मिक विकास किस दशा में हुआ, उसने परिवर्तित होती हुई राजनैतिक परिस्थितियों का कैसे सामना किया, और नवीन समाज तथा संस्कृति के निर्माण में उसका क्या सहयोग रहा, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर हमें हिन्दी साहित्य के अध्ययन द्वारा सहजही प्राप्त हो जाता है; क्योंकि प्रत्येक सजीव साहित्य समाज की भावनाओं, कल्पनाओं तथा आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है। साहित्य के विद्यार्थी यह जानते ही हैं कि साहित्य मनोवेगों की ही सृष्टि होता है, वह मानव की आत्मिक और मानसिक अनुभूतियों को प्रतिबिम्बित करता है, और उनके विकासक्रम को स्पष्ट करता हुआ हमारे सम्मुख रखता है। साहित्यिक की विचारधारा और मानसिक अनुभूतियों पर सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और वह जिस समाज में रहता है उसके वातावरण और परिस्थितियों से प्रभावित होता रहता है। अतः साहित्य समाज की मानसिक चिन्तन-विधि और उसके आत्मिक विकास को प्रगट करने का सबसे बड़ा साधन है। इसीलिए किसी भी समाज के बौद्धिक, आत्मिक तथा मानसिक विकास को जानने के लिए उसके साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। देश का इतिहास हमें केवल राष्ट्र के बाह्य जीवन—राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों—से ही अवगत कराता है। वह जनता के मनोवगों को, मनोविचारों और अनुभूतियों को प्रदर्शित नहीं करता। वह कर भी नहीं सकता, क्यों कि उसमें क्षमता ही नहीं होती।

अतः हिन्दी भाषी क्षेत्र के मानसिक तथा बौद्धिक उत्थान-पतन और उसके विकास क्रम को जानने के लिए हिन्दी साहित्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। निश्चय ही हिन्दी साहित्य की उपेक्षा की गई, और इसका कारण था तत्कालीन भारत के राजनैतिक इतिहास में घटित एक महती घटना—भारत पर उत्तर पश्चिम से मुसलमानों का आक्रमण। इस घटना के कारण इतिहासज्ञों की दृष्टि उसी समय उत्पन्न तथा विकसित होते हुए हिन्दी साहित्य की ओर अधिक न जाकर, इस आक्रमण द्वारा उत्पन्न महान् राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तनों की ओर चली गई।

दूसरे मुसलमानी शासन के स्थापन से फारसी आदि विदेशी भाषाओं को राजभाषा का पद मिला और इस प्रकार हिन्दी राज्याश्रय से भी वंचित रही। परिणामस्वरूप विदेशी विद्वान फ़ारसी को देश की प्रमुख भाषा मान कर उसी द्वारा देश की परिस्थितियों और उसकी संस्कृति का अध्ययन करने लगे। परन्तु उन्हों ने अपनी भूल को शीघ्र ही अनुभव किया। क्योंकि यदि हिन्दी को व्यापक राज्याश्रय प्राप्त नहीं था तो उसे जनता का आश्रय तो अवश्य ही प्राप्त था, क्योंकि हिन्दी जनसाधारण की भाषा थी, जनसाधारण इसी में अपने भावों को व्यक्त करता था, और इसी के काव्यों और महाकाव्यों को सुन कर, पढ़ कर और अध्ययन कर आनन्द प्राप्त करता था। हिन्दी का जनभाषा होना ही इस की सबसे बड़ी विशेषता है, तथा इसके महत्व का सबसे बड़ा कारण है।

हिन्दी साहित्य की विशेषताएँ

ऊपर हम लिख चुके हैं कि हिन्दी का जनभाषा होना उसकी सब से बड़ी विशेषता है। यहाँ उसके महत्व को अच्छी तरह समझने के लिए हम हिन्दी साहित्य की उन विशेषताओं पर विचार करेंगे जो कि उसे उत्तराधिकार और देश तथा काल की परिस्थितियों से प्राप्त हुई हैं।

हिन्दी संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन आर्य भाषाओं की पुत्री है। इन भाषाओं का साहित्य महान् और उत्कृष्ट है। निश्चय ही विश्व की प्राचीन भाषाओं के साहित्य से भारत की प्राचीन भाषाओं का साहित्य

कहीं अधिक समृद्ध और उन्नत है। अनेक महान् दार्शनिक, साहित्यिक और कवि जनों ने अपनी अमूल्य रचनाओं द्वारा इन भाषाओं के भण्डारों को परिपूर्ण किया है, तथा माँ भारती की अर्चना में अनेक उत्कृष्ट पुष्प भेंट किए हैं। अनेक वर्षों तक इन भाषाओं के साहित्य का अनुशीलन किया जा सकता है, और अब भी इन से अमूल्य रत्नों की प्राप्ति हो सकती है। इन्हीं महान् साहित्य-सम्पन्न भाषाओं का विशाल और अगाध साहित्य अपनी अद्भुत विशेषताओं के साथ हिन्दी साहित्य को उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है। वास्तव में ये विशेषताएँ तो भारतीय सभ्यता और संस्कृति की ही विशेषताएँ हैं, जो कि हिन्दी को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं।

(१) भारतीय साहित्य मे धार्मिक भावनाओं की बहुलता—

भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्म की प्रधानता है। क्या राजनीति क्या साहित्य, और क्या समाज सभी में हम धार्मिक नियंत्रण को अनुभव करते हैं; क्योंकि यहाँ धर्म केवल आध्यात्मिक जीवन से ही सम्बन्धित न हो कर मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित है। परन्तु धर्म की यह अधिकता हमारे धार्मिक दृष्टिकोण को संकुचित नहीं बनाती, अपितु वह हमें अधिक से अधिक व्यापक और विस्तृत दृष्टिकोण अपनाने को ही प्रेरित करती है।

इन धार्मिक विचारों की बहुलता का ही परिणाम है कि जहाँ हमारे साहित्य में मानव के लोकोत्तर और आध्यात्मिक जीवन पर अत्यन्त गम्भीरता के साथ विचार किया गया है, और उसमें पवित्र तथा उत्कृष्ट भावनाओं को भरने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ जीवन के लौकिक पक्ष और तत्सम्बन्धी विचारों की अवहेलना ही होती रही है। हमारा लौकिक जीवन सदा विभिन्न रूपों में प्रगट होता है, और यह विभिन्नता ही जीवन में अद्भुत रंगीनता को उत्पन्न कर देती है, परन्तु भारतीय साहित्य लौकिक जीवन के इस पक्ष को अभिव्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ रहा है। हिन्दी साहित्य को भी भारतीय साहित्य की यह विशेषता उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है।

(२) भारतीय साहित्य की समन्वयात्मक भावना—

हमारे दार्शनिकों के मतानुसार भगवान् सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है, और अमृत पुत्र मानव जहाँ सत् और चित् है वहाँ जब वह मायारूपी अज्ञान को समाप्त कर देता है, तो उसकी आत्मा में आनन्द की लहर उठती है, और वह उस आनन्द स्वरूप भगवान् में ही लीन हो जाता है। भारतीय दर्शन आत्मा तथा परमात्मा में भेद नही मानता, उसका दोनों की एकता में अविच्छिन्न विश्वास है। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में परस्पर विरोधी भावनाओं और तत्त्वों में भी समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। भारतीय साहित्यिक आस्तिक और ईश्वर-विश्वासी होने के कारण कभी भी मानव-जीवन को दु.खान्त रूप में प्रस्तुत नहीं करता। यही कारण है कि हमारे यहाँ दुःखान्त नाटकों की परम्परा नहीं। यद्यपि जीवन संघर्षमय माना जाता हुआ भी अन्त में उसकी परिणति आनन्द में ही समझी जाती है। भारतीय साहित्यिक इस बात को नहीं सह सकता कि एक धार्मिक सत्यवादी और प्रत्येक प्रकार से उच्च महापुरुष चरित्र नायक का जीवन दुःखान्त हो। वह आदर्शवादी है अतः अपने आदर्शवाद पर आँच न आने देने के लिए ही वह सदा ही जीवन की परिणति आनन्द में ही करता है, और परस्पर विरोधी भावनाओं में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। राम का जीवन यद्यपि अत्यधिक संघर्षमय है परन्तु उसकी परिणति भी आनन्द में ही होती है। इसी प्रकार कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अन्त भी दुष्यन्त और शकुन्तला के मधुर मिलन में होता है।

इस प्रकार साहित्य में यह समन्वय की भावना उसमें वर्णित सुख दुःख, हर्ष विषाद, उन्नति तथा अवनति आदि परस्पर विरोधी भावनाओं के एक अलौकिक आनन्द में विलय के रूप में ही होती है। यही समन्वय की भावना एक भारतीय साहित्यिक को, जीवन को आदर्श रूप में चित्रित करने को प्रेरित करती है। हिन्दी साहित्य ने भी इसी आदर्श को उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त किया है। यह ठीक है कि आज हिन्दी में कुछेक

दुःखान्त उपन्यास तथा नाटकों की सृष्टि हो रही है, परन्तु वह पश्चिम का अनुकरणमात्र ही है।

(३) भारतीय कवि का प्रकृति प्रेम—

यह तो निश्चित ही है कि देश की भौगोलिक और जलवायु सम्बन्धी स्थिति का देश के साहित्य पर प्रभाव पड़ता है। देशों के जलवायु और उनकी भौगोलिक तथा प्राकृतिक स्थिति में विभिन्नता का होना स्वाभाविक है। यह विश्व विचित्रताओं से भरा हुआ है; यदि पृथ्वी पर सदा हिम से आच्छादित रहने वाली हिमालय की चोटियाँ हैं, तो दूसरी ओर अफ्रीका और अरब के महान् मरुस्थल हैं। यदि एक देश में नित्य बहने वाली नदियाँ कल २ निनाद करती हुई बहती हैं, तो अन्य देश में शुष्क पठार हैं जहाँ कि जल के लिए भी मानव की आत्मा तरसती है।

भारत की यह सुजला, सुफला, शस्य श्यामला भूमि अपने अङ्क में मलय पवन से झूलती हुई लताओं, नित्य बहने वाली मुस्काती हुई नदियों तथा शशि किरणों की क्रीड़ाओं से युक्त धवल हिम से आच्छादित हिमालय को श्रृङ्गों को लिए भारतीय कवि के लिए अत्यन्त अनुराग का विषय बन गई है। नदियों के तटों पर बैठे प्राचीन वैदिक कवि जब बसन्त की अद्भुत सौन्दर्यश्री को देखते, जब वे नभचारी पक्षियों के कलरवों को सुनते, जब वे झरझर कर बहने वाली निर्झरिणियों और निकटवर्तिनी लताओं को आम्र-वृक्षों से लिपटा हुआ पाते, और जब प्रातः उषा के अद्भुत सौन्दर्य को देखते तो इस प्राकृतिक सौन्दर्य में किसी रहस्यमय शक्ति का अनुभव करते हुए उषा की वन्दना में अमर गीतों की सृष्टि करते। भारत के इस सौन्दर्य से मुग्ध हो प्राचीन वैदिक कवि ने मातृ वन्दना करते हुए लिखा—

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोरण्यं ते पृथिविस्यो नमस्तु।

× × ×

पवस्य माता भूमिः पुत्रों अहं पृथिव्या।

(ये तेरे पर्वत और हिम से आच्छादित पर्वत श्रृङ्ग, ये तेरे वन हमारे लिए सुखकर हों। तू मुझे पवित्र कर, मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।)

बौद्धकालीन वीतराग भिक्षु जब आकाशचारी पक्षिवृन्दों के सौन्दर्य को देखते हैं तो वह आनन्दविभोर हो लिखते हैं कि :—

सुनीला सुसिखा सुपेखुणा सचित्तपत्तच्छदनाविहङ्गमा।
सुमञ्जु घो सत्थ नितामिगज्जिनो तेतं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिन ॥

(जब तुम वन में ध्यान से बैठे होगे, तब गहरी नीली ग्रीव वाले, सुन्दर-शिखा, शोभी तथा चित्रित पङ्खों से युक्त आकाशचारी विहङ्गम अपने समुधर कलरव द्वारा घोष भरे मेघ का अभिनन्दन करते हुए तुम्हें आनन्द देंगे।)

इसी प्रकार—

यदा बलाका सुचिपिण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं ॥

(जब ऊपर (आकाश में) श्याम घन घटा से सभीत बगुलों की पांत अपने उज्ज्वल श्वेत पङ्ख फैला कर आश्रय खोजती हुई बसेरे की ओर उड़ चलती है तब (नीचे उनका प्रतिबिम्ब लेकर प्रवाहित) अजकरणी नदी रे हृदय में प्रसन्नता भर देती है।) *

प्राचीन वैदिक ऋषियों ने इस प्रकृति प्रेम को अपनी अमर कविताओं में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है। इसी प्रकार थेरी गाथा लेखक और अन्य संस्कृत, प्राकृत आदि काव्य लेखकों ने भी उत्कृष्ट प्रकृति वर्णन किया है जिनके सैकड़ों पद्य उत्कृष्ट प्रकृति वर्णन के उदाहरणस्वरूप उद्धृत किए जा सकते हैं; परन्तु स्थानाभाव आज्ञा नहीं देता।

प्रकृति के विभिन्न रम्य रूपों में तल्लीनता के कारण कवि उसके सौन्दर्य में अद्भुत रहस्यमयी भावनाओं का अनुभव करते हुए अत्यन्त भावुक ढंग से पूछता है—

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्नि क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

अथर्व० १०-७-४

---

* ऊपर लिखे पद्य (अनुवाद सहित) श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय द्वारा सकलित 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' से लिए गए हैं।

(यह सूर्य किसकी अभिलाषा में दीप्यमान है? यह पवन कहाँ पहुँचने की इच्छा से निरन्तर बहता है? यह सब जहाँ पहुँचने के लिए चले जा रहे हैं उस आश्रय को बताओ। वह कौनसा पदार्थ है?)

इस प्रकार कवि इस प्रकृति के अदभुत सौन्दर्य को देखकर अत्यन्त जिज्ञासापूर्ण भाव से उपर्युक्त प्रश्न पूछता है। ठीक इसी प्रकार की रहस्य-पूर्ण तथा जिज्ञासाभरी भावनाओं वाली कविताएँ हम आज भी हिन्दी साहित्य में पाते हैं। हिन्दी कवियों की यह प्रकृति के प्रति रहस्यपूर्ण ढंग की उत्सुकता देशीय वातावरण से ही प्राप्त हुई है। प्राचीन कवियों का-प्रकृति-प्रेम और उन द्वारा किया प्रकृति का सुन्दर वर्णन हिन्दी साहित्य के लिए अमर देन है।

(३) भारतीय साहित्य में वर्णनात्मक कविता की प्रधानता—

साहित्य के विद्यार्थियों को यह विदित ही है कि पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य के दो भेद किए हैं, एक तो विषयीगत (Subjective) और दूसरा विषयगत (वस्तुगत) (Objective)। प्रथम प्रकार—विषयीगत—में कवि के व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है। दूसरे प्रकार—विषयगत—में कवि के साथ शेष विश्व को प्रमुखता दी जाती है। परन्तु अनेक विद्वानों का यह मत है कि ये भेद काव्य के न होकर उसकी शैली के हैं। क्योंकि कवि तो दोनों ही प्रकार के काव्यों में अपने आदर्शों तथा विचारों को चित्रित करता है, हाँ, उसके चित्रण करने के ढंग में अन्तर होता है। एक प्रकार में तो वह अपने आपको गौणरूप में रखकर या छिपाकर अपने आदर्शों को अभिव्यक्त करता है, यह प्रकार वर्णनात्मक (Narrative) कहलाता हैं, जबकि दूसरे प्रकार विषयीगत—आत्मप्रधान—में कवि सब प्रकार के लुकाव छिपाव को छोड़कर स्पष्ट रूप से अपने आदर्शों को आत्मकथन के रूप में कहता है; यह प्रकार प्रगीतात्मक काव्य (Lyric poetry) कहलाता है। भारतीय साहित्य में वर्णनात्मक (Narrative) शैली को ही अधिक अपनाया गया है।

हिन्दी काव्य शैली पर भी इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

भक्त-कवियों की रचनाओं को छोड़कर शेष कवियों के काव्य में तो प्रायः यही शैली अपनायी गई है।

हाल में ही हिन्दी में भी अंग्रेज़ी ढंग की (Lyric poetry) प्रगीतात्मक कविता का प्रारम्भ हुआ है, परन्तु इस प्रकार की रचनाओं का तो अभी श्री गणेश मात्र ही है।

भारतीय साहित्य की इन विशेषताओं को हिन्दी ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया है। यह ठीक है कि आज अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव भी हिन्दी साहित्य पर बहुत पड़ रहा है, और बहुत सी प्राचीन परम्पराओं का प्रभाव क्षीण पड़ता जा रहा है, परन्तु इनके प्रभाव का पूर्ण रूप से विलोप तो तभी हो सकता है जबकि कवि या साहित्यकार को इस विशेष भूमि और उसके चारों ओर व्याप्त स्वदेशी वातावरण से पृथक् कर दिया जाए।

हिन्दी से पूर्ववर्तिनी भाषाओं का संक्षिप्त परिचय

हिन्दी की साहित्यिक परम्परा के विकास-क्रम को जानने से पूर्व यह चित होगा कि हम हिन्दी से पूर्ववर्तिनी भाषाओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करलें।

वैदिक संस्कृत—भारत में आने वाले आर्य भिन्न भिन्न बोलियों को बोलते थे। इनका रूप एक दूसरे से थोड़ा बहुत विभिन्न था। ऋग्वेद में प्रयोग की गई भाषा भी आर्यों द्वारा बोली जाने वाली अनेक बोलियों में से एक बोली थी। इसी में बाद में वैदिक साहित्य की रचना की गई, और यही वैदिक संस्कृत कहलाई। मन्त्र-स्त्रष्टा ऋषिगण विभिन्न बोलियों के बोलने वाले थे अतः इसमें विभिन्न बोलियों के शब्दों का मिश्रण होना स्वाभाविक ही था।

(लौकिक) संस्कृत—जैसा कि ऊपर कह आए हैं कि वैदिक संस्कृत जन भाषा थी जो कि साहित्यिक प्रयोग के लिए अपनाली गई। अन्य बोलियों का स्वतंत्र रूप से विकास होता रहा जो कि पश्चात् में प्राकृत आदि रूपों में परिवर्तित होती हुई वर्तमान आर्य-भाषाओं में परिणत हो गई।

इधर आर्य सभ्यता के केन्द्र परिवर्तन के साथ आर्यों की साहित्यिक भाषा में भी परिवर्तन होता चला गया। विभिन्न बोलियों के प्रभावों को निश्चित करने के लिए और भाषा के स्वरूप को स्थिर करने के लिए पश्चात् मे यही साहित्यिक भाषा व्याकरण के नियमों द्वारा परिमार्जित तथा संशोधित कर दी गई। इसी परिमार्जन या संस्कार के कारण यह संस्कृत कहलाई और जन सामान्य की भाषा न रह कर विशिष्टवर्ग की भाषा बन गई। इस प्रकार व्याकरण द्वारा शृङ्खलाबद्ध कर दी जाने पर यह परिवर्तन से मुक्त हो गई, और इस में एकरूपता तथा स्थिरता आ गई, यद्यपि यह देश के सम्पूर्ण पण्डितवर्ग में बड़े सन्मान से साहित्यिक भाषा के रूप में अपनाई गई। सदियों तक संस्कृत भारत की राष्ट्रभाषा या साहित्यिक भाषा रही है, इसका साहित्य अगाध है, हिन्दी ही क्या संसार की भाषाओं की एक बहुत बड़ी सख्या इसकी ऋणी है।

पाली :—संस्कृत प्रतिदिन जनसामान्य से दूर हटती हुई केवल पण्डितों और शिष्ट जनों तक ही सीमित रह गई, जब कि जनता अपने स्वाभाविक रूप से अपनी भाषा का सृजन करती चली गई। लोकभाषा होने के कारण इस मे जन-साहित्य का ही सृजन हुआ, परन्तु विशिष्टवर्ग के साहित्य सृजन की भाषा संस्कृत ही रही। जनसाधारण से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए इसका आश्रय आवश्यक था। यही कारण है कि भगवान् बुद्ध ने अपने सन्देश को जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए इसी को अपनाया। सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेख भी इसी भाषा मे अङ्कित करवाए हैं।

पाली को प्रथम प्राकृत या मागधी अथवा मागधी मूल-भाषा भी कहते हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि पाली जनता की प्राकृत—स्वाभाविक—भाषा थी, जब कि इसी का संशोधित या परिमार्जित रूप—संस्कृत—विशिष्टवर्ग की साहित्यिक भाषा बन गई।

साहित्यिक प्राकृत :—यह एक नियम ही है कि जनसाधारण की भाषा कालान्तर में साहित्य को भाषा के पद पर आसीन हो जाती है, तथा शीघ्र ही साहित्य की भाषा का रूप परिमार्जित करने के अनन्तर व्याकरण के नियमों मे बांध दिया जाता है। परिणाम स्वरूप इसका स्वाभाविक

विकास रुक जाता है और जनसाधारण अपनी बोलचाल की भाषा के विकासक्रम को जारी रखता है। अतः प्रथम नियम के अनुसार तो पाली या प्राकृत साहित्य की भाषा बन गई, जब कि द्वितीय नियम के अनुसार जनता ने अपभ्रंश के रूप में अपनी भाषा के विकासक्रम को जारी रखा।

दूसरी प्राकृत के चार रूप थे—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी तथा अर्द्धमागधी। महाराष्ट्री इन में सब से प्रमुख है। यह अनुमान किया जाता है कि कभी इसका प्रचलन सम्पूर्ण देश मे था। शौरसेनी देश के मध्य भाग तथा प्रदेश में बोली जाती थी। यह प्रदेश शूरसेन के अधिकार में था, इसी कारण इसका नाम शौरसेनी पड़ा। प्रायः संस्कृत के नाटकों में स्त्रियों की तथा मध्यमवर्ग के पुरुष पात्रों की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। मगध की भाषा मागधी थी और कौशल की भाषा अर्द्धमागधी थी।

अपभ्रंश :—जब द्वितीय प्राकृत ने साहित्यिक और परिमार्जित रूप धारण किया तो साधारण जनता की भाषा ने अपना पथ स्वयं निर्माण करना प्रारम्भ किया। इस बार साधारण जनता की भाषा अपभ्रंश अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा कहलाई। सदा की भाँति विशिष्टवर्ग में यह 'बिगड़ी हुई' भाषा भला कैसे सम्मान पा सकती थी! तिरस्कार का मिलना स्वाभाविक ही था; परन्तु धीरे धीरे परिस्थितियाँ बदलीं, इसे भी उचित सम्मान प्राप्त हुआ। साहित्य की रचना प्रारम्भ हुई, जिस में कि जैनाचार्यों ने और बौद्ध सिद्धों ने विशेष भाग लिया। इधर आचार्य हेमचन्द्र ने इस के व्याकरण की रचना कर इस के रूप को स्थिरता प्रदान करने का प्रयत्न किया।

जैसे प्रत्येक प्रान्त की विभिन्न प्राकृत भाषाएँ थीं, जिनका स्वतन्त्र विकास हुआ। वैसे ही प्रत्येक प्रान्त की विभिन्न अपभ्रंश भाषाएँ थीं जिन की संख्या २७ तक पहुँचती है, इन सब का अपने अपने प्रान्त में स्वतन्त्र विकास हुआ। इन में मुख्य चार हैं, जो कि इस प्रकार हैं :—

१. गुजरात, राजपूताना में प्रचलित तथा शौरसेनी से अधिक प्रभावित—नागर।

२. सिन्ध में प्रचलित—व्राचड़।

३. नागर तथा व्राचड़ बोलेजानेवाले प्रान्तों की मध्य की भाषा—उपनागर।

४. अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच की श्रेणी की भाषा—प्राचीन हिन्दी—अवहट्ट या अपभ्रष्ट।

प्राकृत अवस्था के विकास का अन्तिम रूप अपभ्रंश को कहा जाता है, इस के पश्चात् आधुनिक भाषायुग का प्रारम्भ होता है।

—०—

हिन्दी और उस की उपभाषाएँ

हिन्दी का विकास मुख्य रूप से दो धाराओं में हुआ :—

१. पूर्वी हिन्दी। २. पश्चिमी हिन्दी।

पूर्वी हिन्दी का विकास अर्द्ध मागधी अपभ्रंश से हुआ। इसका प्रयोग पश्चिमी हिन्दी के पूर्व में संयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त तथा मध्यभारत के भागों में होता है। पूर्वी हिन्दी की मुख्य तीन बोलियाँ हैं—

१ अवधी, २ बघेली तथा ३ छत्तीसगढ़ी।

(१) अवधी :—१४०० ई० से इसका साहित्यिक प्रयोग प्रारम्भ हुआ, और १६०० ई० तक अनेक कवियों ने अपने काव्य ग्रन्थों का माध्यम इस भाषा को बनाया है। कवि शिरोमणि श्री गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी अमर रचना 'राम-चरित-मानस' की रचना इसी भाषा में की है। उन से पूर्व प्रेमाश्रयी शाखा के अमर कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने महा-काव्य 'पद्मावत' की रचना भी अवधी में ही की। इसी प्रकार अनेक अन्य कवियों ने भी अपनी रचनाओं द्वारा इस के भण्डार को अपने ग्रन्थ रत्नों से पूर्ण किया है।

(२) बघेली :—का मुख्य केन्द्र रीवां-राज्य है। इस में विशेष साहित्यिक रचना नहीं हुई।

(३) छत्तीसगढ़ी :—रामपुर, मध्यप्रान्त, उदयपुर आदि में प्रचलित है। उत्कृष्ट साहित्य का इस में अभाव है।

पश्चिमी हिन्दी :—नागर या शौरसेनी अपभ्रंश से पश्चिमी हिन्दी का विकास हुआ है। उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में मध्यभारत के उत्तरी भाग तक, पश्चिम में अम्बाला से लेकर पूर्व में प्रयाग तक यह भाषा अपनी चार मुख्य शाखाओं के रूप में व्यवहृत होती है। ये चार उपभाषाएँ इस प्रकार हैं—

१. खड़ी बोली, २. ब्रज, ३. कन्नौजी, तथा ४. बुन्देली।

(१) खड़ी बोली :—आज की हमारी साहित्यिक भाषा है। लगभग १७०० ई० से इस का साहित्यिक प्रयोग प्रारम्भ होता है। इस से पूर्व तो यह दिल्ली, मेरठ तथा आगरा के आसपास बोली जानेवाली एक लोक भाषा मात्र थी। १८०० ई० से इस का वर्त्तमान रूप में विकास प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् इस की धारा दिन प्रतिदिन प्रबल से प्रबलतर होती गई और आज तो यह हमारी साहित्यिक भाषा बन चुकी है।

(२) ब्रज :—को पिंगल भी कहते हैं। दक्षिण में करौली राज्य तक; पश्चिम में जयपुर तक पूर्व में एटा तथा उत्तर में गुड़गाँव तक इस का प्रचलन है। बोली के रूप में तो यह बहुत प्राचीन है, परन्तु लगभग १५०० ई० से इस में साहित्य सर्जना का प्रारम्भ माना जाता हैं और १८०० ई० तक इस का हिन्दी-काव्य-क्षेत्र पर एकछत्र अधिकार रहा, तथा यह लगभग सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा रही। सूरदास आदि मध्ययुगीन महान् कवियों ने इसी में अपनी साहित्यिक रचनाएँ रची हैं। अब निश्चित ही यह खड़ी बोली द्वारा पदच्युत कर दी गई है, फिर भी इस में काव्य रचना होती रहती है।

(३) कन्नौजी :—कन्नौज तथा उस के समीपवर्तीय प्रदेश की बोली है, परन्तु साधारण लोक गीतों के अतिरिक्त इस में साहित्य रचनाएँ नहीं हो पाईं।

(४) बुन्देली :—बुन्देलखण्ड, ग्वालियर और मध्यप्रदेश के कुछ जिलों

की लोक भाषा है। इस में भी साधारण लोक साहित्य के अतिरिक्त उच्च-कोटि के साहित्य की रचना नहीं हो पाई।

उपरोक्त विकासक्रम को दिखाने से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य अधिकतर तीन प्रकार की शैलियों—अवधी, व्रज तथा खड़ीवोली में फला फूला। व्रज तो बहुत काल तक हिन्दी प्रदेश की साहित्यिक भाषा रही, और अवधी में भी अनेक अमर कवियों ने अपनी रचनाएँ रचीं, जब कि खड़ीवोली तो हाल मे ही गद्य तथा पद्य की भाषा के रूप मे अपनायी गई है, परन्तु इस धारा में अभूतपूर्व साहित्यिक रचनाएँ हुई हैं, और अभी इस का विकास जारी है। शेष तो हिन्दी की विभिन्न बोलियाँ ही हैं, जो कि साहित्य की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। यह ठीक है कि इन बोलियों का हिन्दी की साहित्यिक शैलियों पर प्रभाव पड़ा है, परन्तु इन का अधिक महत्त्व तो भाषा विज्ञान के लिए ही है। हाँ, इन सभी बोलियों में जन-साहित्य की रचना लोक-गीतों के रूप में हुई है, जिन की खोज और संग्रह अभी प्रारम्भ हुआ है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी और पं० रामनरेश त्रिपाठी इस दशा में विशेष प्रयत्नशील हैं।

——o——
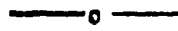
हिन्दी-साहित्य का कालविभाजन

विगत एक हजार वर्ष के हिन्दी साहित्य में समय समय पर विभिन्न प्रवृत्तियों और भावनाओं का प्राबल्य रहा। हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्य मे वीररस काव्य की प्रधानता रही, जब कि पूर्व मध्ययुग में अध्यात्मवाद की प्रमुखता हुई तथा रामभक्त और कृष्णभक्त कवियों ने अपनी भक्तिरसपूर्ण कविताओं से हिन्दी-साहित्य के भण्डार को परिपूर्ण किया। इधर उत्तर मध्ययुग में मुगलराज्य की सुख समृद्धि के समय हिन्दी साहित्य में शृङ्गार-रस की प्रचुरता हुई और बिहारी, देव आदि कवियों ने शृङ्गार-रस की अद्वितीय रचनाएँ कीं। फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के अनन्तर और भारतेन्दु बाबू के उदय के पश्चात् हिन्दी साहित्य के गद्य का विकास प्रारम्भ हुआ। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि साहित्य के विभिन्न

अङ्गों पर रचनाएँ प्रारम्भ हुईं और इस प्रकार हिन्दी-साहित्य का विभिन्न प्रवृत्तियों को परिलक्षित करनेवाला आधुनिक युग प्रारम्भ हुआ। इन्हीं विभिन्न प्रवृत्तियों का विचार रखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का कालविभाजन इस प्रकार किया है:—

१. आदि काल:—(वीरगाथा काल) सवत् १०५०—१३७५
२. पूर्व मध्य काल :—(भक्ति काल) संवत् १३७५—१७००
३. उत्तर मध्य काल :—(रीति काल) संवत् १७००—१६००
४. आधुनिक काल :—(गद्य काल) संवत् १६००—

प्रत्येक काल का नामकरण तत्कालीन प्रवृत्तियों की प्रधानता पर किया गया है। जैसे आदिकाल में वीररस प्रधान काव्यग्रन्थों की रचना हुई अतः उस काल में इस प्रवृत्ति की प्रमुखता के कारण उसका नाम वीर गाथा काल किया गया है।

काल विभाजन के लाभ और हानियाँ :—

मनुष्यजाति या उस के साहित्य का विकासक्रम तो निरन्तर जारी रहता है, अतः उस के इतिहास को विभिन्न कालों या खण्डों में बाँटना एक अनुचित प्रथा है। क्योंकि इस प्रकार का विभाजन हमारे सम्मुख इतिहास के गतिभंग को प्रस्तुत करता है, और हमारे मस्तिष्क में ऐसी धारणा बैठ जाती है कि इन अवयवों या खण्डों में कोई सम्बद्ध शृङ्खला नहीं। जब कि वास्तविकता इस के सर्वथा विपरीत होती है। साहित्य का प्रत्येक काल या खण्ड पूर्व की परिस्थितियों का ही विकसित रूप होता है। नदी का स्रोत चाहे पर्वत पर बहे, चाहे समतल भूमि पर, उस की धारा सदा ही अविछिन्न रहती है। इसी प्रकार साहित्य का स्रोत भी विभिन्न कालों और परिस्थितियों में विभिन्न रूपों को धारण करता हुआ भी कभी विछिन्न नहीं हो पाता।

काल विभाजन हमारे मस्तिष्क में किसी एक घटना को ही महत्त्वपूर्ण बना देता है और हम यह समझ बैठते हैं कि यह घटना ही परिवर्तन का कारण है जब कि वह घटना भी वास्तव में धीरे धीरे परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों का ही परिणाम होती है। काव्यधारा कभी भी अकस्मात्

रूप परिवर्तित नहीं करती, वह धीरे धीरे अपने प्राचीन रूप को त्याग कर नवीन रूप को धारण करती है।

दूसरा काल विभाजन का अर्थ यह समझ लिया जाता है कि इन विभिन्न कालों में एक ही प्रकार की रचनाएँ हुईं और अन्य प्रकार की नहीं। जैसे यह समझा जा सकता है कि वीरगाथा काल में केवल वीररस प्रधान काव्य ही लिखे गए और भक्ति या शृङ्गार रस विषयक कोई भी रचना नहीं हो पाई। जब कि वास्तविकता इस के विपरीत है, क्योंकि इसी काल में विद्यापति ने अपनी शृङ्गारिक रचनाओं की सृष्टि की और अनेक सिद्ध और जैनाचार्यों ने धार्मिक रचनाएँ भी कीं।

अभी हमारे प्राचीन साहित्य के विषय में पर्याप्त खोज की आवश्यकता है। क्योंकि अभी तक की गई खोज अपर्याप्त और अधूरी है, अतः इसी खोज की हुई सामग्री के आधार पर अपने निर्णयों को स्थापित करना अनुचित है। अभी अभी हिन्दी के आदिकाल के विषय मे की गई खोज से यह पता चलता है कि हिन्दी के प्रारम्भिक साहित्यिक केवल राजपूताना के चारण कवि ही नहीं थे, अपितु जैन साधु और नाथ पंथी सिद्ध भी अपने धार्मिक साहित्य द्वारा हिन्दी की श्रीवृद्धि कर रहे थे। इस प्रकार नवीन ख़ोज द्वारा हमारी धारणाओं में परिवर्तन की सम्भावना अवश्य है।

अनेक कवि अपनी आसपास की परिस्थितियों को भेद कर और साहित्य में प्रचलित रूढ़ियों को तोड़ कर अपना पथ स्वयं प्रशस्त करते हैं। ऐसा साहित्यकार अपने महान् व्यक्तित्व की छाप न केवल अपने साहित्य पर ही छोड़ जाता है, अपितु अपने युग को भी काफी अंशों तक प्रभावित करता है। हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में 'भूषण' एक ऐसे ही प्रतिभा-सम्पन्न और व्यक्तित्ववाले कवि थे। 'भूषण' जैसे कवि ही काल विभाजन की व्यर्थता को सिद्ध करते हैं।

लाभ :—कालविभाजन से इतिहास का अध्ययन अत्यन्त सुगम हो जाता है तथा हम विभिन्न परिस्थितियों के ज्ञान द्वारा कालविशेष की विशेषताओं से भी परिचित हो जाते हैं।

जो त्रुटियां काल विभाजन की ऊपर कही गई हैं, उनका यथासम्भव प्रतिकार भी किया जा सकता है। कालविभाजन द्वारा इतिहास में गति-भंग न होने देने के लिए हमें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों का भी परिचय प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि परिस्थितियों का अध्ययन हमारे सम्मुख उस विकासक्रम को एक अविछिन्न धारा के रूप में प्रस्तुत करेगा।

कालविभाजन से हमें यह नहीं समझना चाहिये कि एक काल में एक ही प्रकार की रचनाएँ हुईं, अन्य प्रकार की नहीं। इससे केवल हमें यही अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि एक काल में एक विषय पर ही अधिक रचनाएँ हुईं दूसरों पर कम। जैसे भक्तिकाल में अधिक रचना भक्ति-साहित्य की हुई, परन्तु वीर या शृङ्गार आदि पर रचनाएँ वन्द नहीं हो गई थीं, इन विषयों पर भी रचनाएँ हो रही थीं, परन्तु प्रमुखता भक्ति की ही थी। अतः काल विशेष विषय विशेष पर की गई रचनाओं की प्रचुरता का ही सूचक है।

—o—
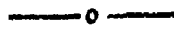
हिन्दी-साहित्य का प्रादुर्भाव

तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ

इस से पूर्व कि हम हिन्दी साहित्य के प्रादुर्भाव, और उस के विभिन्न युगों के अनुसार विकासक्रम पर विचार करें, यहाँ यह उपयुक्त होगा कि हम उन धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का भी ज्ञान प्राप्त करलें जो कि हिन्दी-साहित्य के प्रादुर्भाव के समय विद्यमान थीं और जिन का वाद के हिन्दी-साहित्यिकों के मानसिक चिन्तन पर प्रभाव पड़ा। इन परिस्थितियों के ज्ञान से हमारे लिए उन के चिन्तन के विकास-क्रम को समझना सहल होगा।

धार्मिक स्थिति :—जिस समय हिन्दी अपभ्रंश से पृथक् होने का प्रयत्न करती हुई अपने स्वतन्त्र विकास की ओर अग्रसर हो रही थी, उस

समय हिन्दी भाषी प्रदेश मे तीन प्रमुख धर्म चल रहे थे। यह बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म थे।

(१) बौद्ध-धर्म :—एक समय था जब कि सम्पूर्ण भारत बौद्ध-धर्म की छत्रछाया में था। इसे देश के प्रमुख नरेशों का आश्रय प्राप्त था, और प्रजा मे बौद्ध साधु-सन्यासियों का बहुत आदर था। परन्तु इस का अर्थ यह कदापि नहीं कि ब्राह्मण-धर्म भारत से सर्वथा विलीन हो चुका था। ब्राह्मण-धर्म भारत मे विद्यमान था, और वह उस समय की ताक मे था जब कि वह बौद्ध-धर्म को पछाड़ सके। जिस समय हिन्दी-साहित्य का जन्म हो रहा था उस समय भारत में बौद्धमत का ह्रास हो रहा था, और ब्राह्मण-धर्म का पुनर्जागरण हो रहा। धीरे धीरे बौद्धमत विलुप्त हो गया और उस का स्थान ब्राह्मण-धर्म ने ले लिया। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि बौद्धमत का विलय एकदम न हो कर धीरे धीरे हुआ और वह अन्त समय तक अपनी महायानीय शाखा के विभिन्न रूपों द्वारा ब्राह्मण धर्म को प्रभावित करता हुआ, अन्त मे उसी में विलीन हो गया। इसी का परिणाम है कि हिन्दी साहित्य के प्रादुर्भाव के युग में हम वज्रयानी, नाथ-पन्थी और कनफटे साधुओं को रहस्यपूर्ण ढंग से अटपटी बातें कहते हुए पाते हैं। यह नाथपन्थी योगियों का सम्प्रदाय बौद्ध और शैव साधनाओं के समिश्रण का परिणाम था। बौद्धमत के इस ह्रासकाल के समय हम उस में एक विशेष प्रवृत्ति को लक्षित करते हैं, और वह प्रवृत्ति बौद्धमत का लोक-मत की ओर निरन्तर झुकाव है। अतः लोकमत का और लोकचिन्तन का बौद्धमत द्वारा प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। हिन्दी के सन्त साहित्य पर बौद्ध चिन्तन का और सगुणोपासक कवियों की अवतारवाद विषयक भाव धारा पर महायानीय सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव है।

(२) ब्राह्मणधर्म :—बहुत काल से बौद्धमत ब्राह्मणधर्म का प्रतिद्वन्द्वी चला आ रहा था। इधर बहुत समय पहले ही से ब्राह्मणधर्म अपने दर्शन, पाण्डित्य और साहित्य को लोक-जीवन से पृथक् कर चुका था और उसने अपने विचार तथा जीवन-क्षेत्र को अत्यन्त परिमित बना लिया था। ज्ञान की परिपाटी भी जीवन की साधारण समस्याओं से दूर हटती हुई केवल-

मात्र पुस्तकों से ही बँध गई। बौद्धिक और मानसिक विकास रुक गया। साहित्य या दर्शन क्षेत्र में कोई भी नवीन आविष्कार या रचना न की गई। परम्परागत विचारों और धारणाओं का ही पिष्टपेषण बार बार होता रहा। कभी प्राचीन पुस्तकों को लेकर नवीन भाष्य किए गए और कभी उन्हीं भाष्यों पर अनेक वादविवाद किए गए। कभी कभी इन में भी मौलिकता के दर्शन हो जाते हैं, परन्तु जो कुछ भी कहा गया उसे आर्ष और प्राचीन ग्रन्थों से सम्बन्धित करने का ही प्रयत्न किया गया। इस प्रकार हिन्दी युग के प्रारम्भ से पूर्व ही ब्राह्मणधर्म में स्वातन्त्र्य की समाप्ति हो चुकी थी। लोकमत से सम्बन्ध टूट चुका था। परन्तु इधर हिन्दी-साहित्य के प्रादुर्भाव के साथ, जब बुद्धमत निरन्तर ह्रास की ओर जा रहा था, तो ब्राह्मणधर्म को पुन. विकसित होने का अवसर प्राप्त हुआ। ८वीं शताब्दी में स्वामी शंकराचार्य के तीव्र तर्कों के सम्मुख बौद्ध भ्रान्ति का विलोप होने लगा और ब्राह्मणधर्म अपने कर्मकाण्ड और अनेक परिपाटियों सहित फिर उदय हो गया। परन्तु एक बात यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मणधर्म किसी एक रूप में प्रचलित नहीं हुआ। इस ने अनेक रूपों को धारण किया, तथा अपने इन विभिन्न रूपों में स्थानीय विशेषताओं को साथ लेता हुआ बौद्धमत की ह्रासकालीन विविध धाराओं से प्रभावित होता हुआ प्रचलित हुआ। इन रूपों में प्रमुख शैव और वैष्णव थे। शैव धर्म प्रधान रूप से हिन्दी प्रदेश में १२वीं शताब्दी तक रहा, इस के अनन्तर इस का विलोप तो नहीं हुआ, परन्तु प्रमुखता अवश्य कम हो गई। वैष्णव सम्प्रदाय में भक्तिभाव की प्रधानता है। हिन्दी के प्रादुर्भाव के समय में यह उत्तर से हट कर दक्षिण में चला गया जहाँ इस की बहुत समय तक प्रधानता रही। इधर १२वीं शताब्दी के मध्य में जब मुसलमान आक्रमणकारियों ने भारत पर आक्रमण कर अपने राज्य की स्थापना की तो इस का प्रवेश उत्तर में फिर हुआ, तथा इसी प्रदेश में एक शताब्दी के अनन्तर हिन्दी की भक्तियुग की कविता का प्रारम्भ हुआ जिसे कि इस वैष्णव सम्प्रदाय से विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के प्रादुर्भाव के समय में ब्राह्मणधर्म के

पण्डित और धर्माचार्य लोकमत की ओर झुकने को विवश हुए, परन्तु उन का अतीत के प्रति मोह किसी प्रकार भी कम नहीं हुआ था।

(३) जैन-धर्म :—इस मत का प्रमुख क्षेत्र हिन्दी-भाषी क्षेत्र नहीं था, यह प्रधान रूप से दक्षिण मे और विशेष रूप से गुजरात में फला फूला। राजपूताना और मालवा प्रदेश मे भी इस ने पर्याप्त समृद्धि प्राप्त की। दक्षिण में शैव सम्प्रदायवादियों की अनुदारता तथा असहनशीलता के कारण इसे काफी क्षति उठानी पड़ी। परन्तु गुजरात के सोलंकी राजाओं का आश्रय प्राप्त होने से और हेमचन्द्र तथा सोमप्रभु सूरी जैसे आचार्यों की प्राप्ति के कारण इस की काफी क्षतिपूर्ति हो गई।

जैनधर्म अपने शुद्ध रूप को स्थिर न रख सका। वैष्णव, बौद्ध और ब्राह्मणधर्म की अनेक भावनाओं को इस ने ग्रहण कर लिया। मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद उस में मुख्य हैं। अपभ्रंश भाषा के साहित्य की वृद्धि में जैनाचार्यों ने विशेष भाग लिया।

(४) इस्लाम:—लगभग इसी युग में भारत में मुसलमानों का प्रवेश हुआ। यद्यपि इन को भारत में पैर जमाने मे कुछ देर तो अवश्य लगी, परन्तु इन का प्रभाव हिन्दी-भाषी क्षेत्र पर पड़ना तो पहले से ही प्रारम्भ हो गया था। इस्लाम एक जीवित, शक्ति सम्पन्न और सुसंगठित सम्प्रदाय है, इस की अपनी पृथक् सामाजिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि है। अतः हिन्दी-साहित्य के प्रादुर्भाव के समय इस प्रकार के मतवाद का प्रवेश ऐतिहासिक दृष्टि से एक महती घटना थी, जिसका कि बाद के हिन्दी-साहित्य पर काफी प्रभाव पड़ा।

ऊपर हमने हिन्दी-साहित्य के प्रादुर्भाव के कुछ पूर्व और कुछ तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों का वर्णन किया है, यह सब हिन्दी-साहित्यिकों के चिन्तन के विकास पर भारी प्रभाव डालती हैं।

राजनैतिक :—जिस समय हिन्दी-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय भारत में काफी उथल पुथल थी। प्रारम्भ में ७वीं शताब्दी में भारतवर्ष में महाराज हर्ष का एक सुदृढ़ साम्राज्य था, परन्तु हर्ष की मृत्यु के अनन्तर यह साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट होकर अनेक छोटे रजवाड़ों में बँट गया।

इन रजवाड़ों के राज्य अपने आपको सर्वथा स्वतन्त्र समझते थे, और एक दूसरे की उन्नति को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। इन मे प्रायः आपस में लड़ाइयाँ होती रहती थीं और वे एक दूसरे से लड़ने मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति नष्ट कर रहे थे। देश मे कोई केन्द्रीय शासन नहीं था जिस की सब अधीनता स्वीकार करते। ऐसे ही समय में भारत के पश्चिमोत्तरी सीमान्त से नवोदित धर्म के उत्साह से परिपूर्ण एक नवीन धर्मानुयायी शक्ति ने प्रवेश किया। यह शक्ति हज़रत मुहम्मद के अनुयायी मुसलमानों की थी। भारत पारस्परिक अनैक्य और द्वेष के कारण शक्तिहीन हो चुका था, अतः उसे इस महान् शक्तिशाली और संगठित मतवाद के सम्मुख घुटने टेकने पड़े।

सामाजिक दशा :—राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियों का सामाजिक परिस्थितियों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र मे महान् परिवर्त्तन हो रहे थे। ब्राह्मणधर्म के पुनर्जागरण से वर्णाश्रम व्यवस्था भी फिर जीवित हो उठी। इधर निरन्तर मुस्लिम आक्रमणों के परिणाम स्वरूप ब्राह्मणधर्म संकुचित होता चला गया, फलतः हिन्दू समाज अपने रीति रिवाजों से बुरी तरह चिपट गया। वर्णव्यवस्था भी प्रचलित हो चुकी थी, परन्तु उस में पहले जैसी कठोरता नहीं थी। क्योंकि अब यवनों के राज्य स्थान स्थान पर स्थापित हो चुके थे, अतः वे भी हिन्दुओं के सम्पर्क में आए, परन्तु सामाजिक रूप से तो उन का बहिष्कार ही होता रहा। दोनों सम्प्रदायों मे तीव्र कटुता की भावना एक दूसरे के प्रति उत्पन्न हो चुकी थी, जो कि उन के पारस्परिक सम्पर्क में अत्यन्त बाधक थी।

युद्धों के होने के कारण समाज में क्षत्रिय जाति की प्रतिष्ठा बढ़ गई थी, जब कि शूद्रों की अवस्था बहुत बुरी थी, और उन का प्रत्येक प्रकार से शोषण हो रहा था।

ग्रामीण जनता पुराने ढंग से जीवनयापन कर रही थी। उन की सामाजिक स्थिति पर प्रभाव पड़ा तो सही, परन्तु देर में और वह भी अधिक नहीं।

साधारण जनता अन्धविश्वासी, प्राचीन परिपाटियों को ज्यों का त्यों माननेवाली और अनुचित रीति से भाग्यवादिनी थी।

साधु सन्तों का बहुत आदर था। अधिकतर जनता मन्त्र, जन्त्र, टोने वशीकरण मन्त्र, जादू आदि में विश्वास रखती थी। शिक्षा का प्रचार बहुत कम था। कवि और साहित्यिक लोग अधिकतर राजाओं के आश्रय में ही रहते थे।

देशवासियों का व्यवसाय अधिकतर कृषि ही था। अशान्ति और युद्धों के कारण निर्धनता भी बढ़ रही थी।

—o—

आदिकाल

हिन्दी-साहित्य का प्रादुर्भाव

हिन्दी साहित्य के प्रादुर्भाव के समय की परिस्थितियों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इन्हीं परिस्थितियों में हिन्दी-साहित्य का आदिकाल प्रारम्भ होता है। हिन्दी के साहित्यिक रूप में अपनाए जाने की एक निश्चित तिथि निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। यह तो निश्चित ही है कि हिन्दी का उदय अपभ्रंश भाषाओं से हुआ, परन्तु अपभ्रंश परम्परा की समाप्ति कब हुई और हिन्दी का साहित्यिक प्रयोग सर्वप्रथम कब प्रारम्भ हुआ, इस का उत्तर भाषा-शास्त्रियों द्वारा की गई खोज सन्तोषजनक रूप से नहीं दे पाती।

'शिवसिंह सरोज' के लेखक ने हिन्दी का प्रारम्भ ७७० वि० संवत् से माना है। इन का कथन है कि भोज के पूर्वपुरुष राजा मान के सभासद् पुष्य नामक एक कवि ने दोहों में एक अलंकार ग्रन्थ की रचना की थी। परन्तु जनश्रुति के आधार पर आश्रित होने के कारण और किसी भी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में विद्वज्जन इस मत की उपादेयता में सन्देह करते हैं।

इसी कारण हिन्दी का प्रारम्भ संवत् १०५० से माना गया है। निश्चय ही हिन्दी इस से काफी समय पूर्व ही जनता की भाषा बन चुकी

होगी; यद्यपि परम्परागत रूढ़ियों के अनुसार अपभ्रंश को ही साहित्य और काव्य का माध्यम बनाया गया। साहित्यिक रूप प्राप्त करने से पूर्व प्रत्येक भाषा कथा रूप में रहती है। इसी प्रकार साहित्यिक रूप प्राप्त करने से पूर्व हिन्दी जनता की कथा भाषा थी।

हिन्दी साहित्य के आदि युग का इतिहास प्रस्तुत करने में सब से बड़ी कठिनाई ग्रन्थों की कमी है। अब तक की गई खोज मे जितनी भी पुस्तकें उपलब्ध हुई हैं, उन की संख्या बहुत थोड़ी है। यह ठीक है कि एक तो इस विषय में की गई खोज केवल युक्तप्रान्त तक ही सीमित रही, जब कि प्राचीन साहित्य का क्षेत्र अधिकतर राजपूताना रहा। दूसरे राजपूताना में भी मुसलमानों के आक्रमणों के कारण यह साहित्य सुरक्षित न रह सका। जो कुछ साहित्यिक सामग्री वर्तमान राजपूत नरेशों के पास सुरक्षित है, वह अभी तक हिन्दी-साहित्य के अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिये अप्राप्य ही रही है।

जो पुस्तकें उपलब्ध हैं, उन मे प्रक्षिप्त अंशों की बहुलता है। अनेक पुस्तकों में मूल भाषा तथा सामग्री को ही परिवर्तित करने का प्रयत्न किया गया है। तिथियाँ अनिश्चित हैं, भाषा अनियमित है तथा प्रक्षिप्त अंशों की अधिकता के कारण उन की ऐतिहासिक उपादेयता मे ही सन्देह किया जाता है।

इसी सामग्री का आधार लेकर ही हिन्दी-साहित्य के आदि युग का इतिहास तैयार किया गया है। इस दिशा में अधिक खोज होने पर परिवर्तन की सम्भावना स्वाभाविक ही है।

आदिकाल का हिन्दी काव्य दो प्रकार के काव्यों मे विभक्त है—एक अपभ्रंश-काव्य और दूसरा देशभाषा-काव्य। हिन्दी-साहित्य की विकासकालीन प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिए अपभ्रंश-काव्य का पर्यालोचन कर लेना उचित ही है।

अपभ्रंश साहित्य :—हिन्दी साहित्य के जन्मकाल से बहुत समय पूर्व ही अपभ्रंश मे काव्य रचना प्रारम्भ हो चुकी थी। प्रारम्भ मे लोक-भाषा होने के कारण इस मे लोक-साहित्य ही अधिक रचा गया, परन्तु धीरे-धीरे

यह साहित्यिक भाषा बनी और इसे राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ। यद्यपि यह संस्कृत के उच्चासन को प्राप्त न कर सकी परन्तु ऐसे प्रमाणों का अभाव नहीं है जिन से यह सिद्ध होता है कि अपभ्रंश कवि भी हिन्दु राजाओं द्वारा सम्मानित और पुरस्कृत किए जाते थे।

बौद्धमत के विकृत रूप वज्रयान सम्प्रदाय के अनुयायी सिद्धों ने अपभ्रंश में रचनाएँ प्रारम्भ कीं। यह वज्रयानी सिद्ध विहार से लेकर आसाम तक फैले हुए थे, और विभिन्न उपायों से अपने विचारों को सम्पूर्ण देश मे फैला रहे थे। प्रायः यह जनता में अपने चमत्कार प्रदर्शित कर अपने आपको अलौकिक शक्ति-सम्पन्न सिद्ध करते थे। विहार में विक्रमशिला और नालन्दा इन के गढ़ थे।

श्री राहुल सांकृत्यायन की खोजों से यह पता चलता है कि यह सिद्ध कवि सातवीं शताब्दि के मध्य मे विद्यमान थे, और इन सिद्धों की काव्य धारा १२वीं शताब्दि के मध्य तक पूर्ण बल से चलती रही। *

सिद्धों का मुख्य उद्देश्य अपने मतों का प्रचार करना था, अतः इन की कृतियों में काव्य गुणों की खोज व्यर्थ होगी। सिद्ध-साहित्य मगही में है, जो मागधी अपभ्रंश से निकली है। सिद्धों के समय मे यह पूर्वी विहार मे जन भाषा थी और सिद्धों ने प्रचारकार्य का विचार रखते हुए इस का उपयोग किया है।

सिद्धों में सब से पुराना लेखक सरहट्ट या सरहपा ‡ माना गया है। वैसे सिद्ध मत के ८४ सिद्ध, जिन्होंने कि इस धारा के साहित्य की अभि-

---

* सिद्ध साहित्य के विस्तृत अध्ययन के लिए महापण्डित श्री राहुल साङ्कृत्यायन द्वारा लिखित लेख—"हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उन की कविताएँ। (गङ्गा पुरातत्त्वाङ्क) देखें।

‡ सरहपा के दोहे—

जहिमन पवन न सचरइ रवि शशिनाह पवेश।
ताहि बट चित्त बिशाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥
घोर अंधारे चन्द जिमि, उज्जोअ करेई।
परम महा सुहं एखु कयो दुरिअ अशेष हरेई॥

वृद्धि में पर्याप्त सहयोग दिया—अब तक प्रसिद्ध चले आ रहे हैं, और उन के नाम भी जनता में परम्परा से प्रचलित हैं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि यह सिद्ध वज्रयान से सम्बन्धित थे। यह ध्यान में रखना चाहिए कि वज्रयान, सहजयान, मन्त्रयान, नेत्रयान आदि की भाँति ही बौद्धमत की प्रमुख शाखा महायान शाखा की अन्तिम शाखा थी। इस का मुख्य केन्द्र बंगाल, मगध, नैपाल की घाटी और पूर्वी हिन्दी प्रदेश था। अनेक प्रकार के वामाचार इस मत में घुस चुके थे, और यह एक प्रकार का वाममार्ग ही बन चुका था।

वज्रयान में अन्तरसाधना पर विशेष बल दिया जाता था, हठयोगियों की अन्तरसाधना और वज्रयानियों की अन्तरसाधना मे विशेष अन्तर नहीं। अनेक कारणों से वज्रयानी सिद्ध संयम को हठयोगियों के सदृश उच्च स्थान नहीं देते। बौद्ध मत के सिद्धान्तों से तो यह सम्प्रदाय बहुत दूर जा पड़े थे, साथ ही इन में अनेक प्रकार के वामाचार भी प्रविष्ट हो चुके थे।

इन्हीं सिद्धों ने सर्व प्रथम उल्ट वासियों का प्रयोग किया, जिन्हें कि पश्चात् में नाथ पन्थी योगियों ने भी और कबीर ने भी अपनाया। अपनी साधना पद्धति को लोगों के सम्मुख स्पष्ट रूप से न रखने के लिए और उसे छिपाने के अर्थ तथा कथित 'सांध्य-भाषा' का प्रयोग किया गया। हिन्दीके मध्य युगीन सन्तों ने जो अपने अध्यात्म विषयक विचारों को प्रकृति के प्रश्रय से व्यक्त करने की प्रणाली अपनायी थी वह भी सिद्धों की ही देन है; क्योंकि उन से बहुत समय पूर्व ही इन सिद्धों ने अपने आध्यात्मिक विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए प्रकृति के व्यापारों का आश्रय ग्रहण किया था।

वज्रयानी सिद्धों के अतिरिक्त नाथ-पन्थी सिद्धों ने भी अपभ्रंश में रचना की है। यह नाथ सम्प्रदाय भी वज्रयान का ही एक अङ्ग था, परन्तु वज्रयान मे अनेक वामाचारों के प्रवेश के कारण इस पन्थ के अनुयायियों में विद्रोह की लहर उठी और इन्होंने वज्रयानियों से सम्बन्ध तोड़ कर अपने आपको शैव मत का अनुयायी घोषित कर दिया। नाथ सम्प्रदाय के

आदि गुरु भगवान् शिव ही माने जाते हैं, परन्तु सांसारिक दृष्टि से इस मत के प्रवर्त्तक मछन्दरनाथ (मत्स्येन्द्र) थे। गुरु गोरखनाथ ने इस मत को यथोचित रूप प्रदान किया। पहिले गोरखनाथ भी बौद्ध थे, परन्तु बज्रयान सम्प्रदाय के असंयत वामाचार से असन्तुष्ट हो पहिले तो इन्होंने इस सम्प्रदाय का भीतर से ही सुधार करने का प्रयत्न किया, परन्तु अपने उद्देश्य में अधिक सफल न हो सकने के कारण इन्होंने महामुनि पातंजलि के उच्चादर्शों से पूर्ण योग तथा शकराद्वैत का आश्रय ले हठयोग प्रारम्भ किया। बज्रयान के असंयत वामाचार को यह वेद विरुद्ध समझते थे, और इस का विरोध करते हुए वह उस से पृथक् भी हो गए। इन्होंने अपने मत को यथासम्भव अश्लील विधानों से पृथक् रखने का प्रयत्न किया, परन्तु शिव के साथ शक्ति के प्रतिष्ठापन से शृङ्गारिक भावनाओं की उत्पत्ति भी हो गई। इसी कारण कुछेक नाथ-पन्थी ग्रन्थों में शृङ्गारपूर्ण कविताएँ भी उपलब्ध होती हैं।

नाथ पन्थ १४वीं शताब्दि के मध्य तक हिन्दी के पश्चिमी क्षेत्र—राजपूताना तथा पंजाब में पूर्ण बल से प्रचलित रहा। वैसे नाथ पन्थी योगी भ्रमणशील होने के कारण स्थान स्थान पर घूम कर जहाँ हठयोग का प्रचार करते वहाँ अपनी अलौकिक करामातों से जनता को अनेक प्रकार से प्रभावित करने का भी प्रयत्न करते। इसी कारण लगभग सम्पूर्ण भारत में ही अनेक टीलों, लोक कथाओं और मठों के रूप में इन के चिह्न प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार बज्रयान सम्प्रदाय के ८४ प्रसिद्ध सिद्ध हैं, उसी प्रकार नाथों की नौ संख्या है, जिन के नाम 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में दिए हुए हैं।

नाथ-पन्थ में हठयोग का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यह वास्तव में इस पन्थ की साधना पद्धति का ही नाम है। मूलतः हठयोग देह शुद्धि का साधनमात्र है, देह शुद्धि के लिए छः मुख्य क्रिया मानी जाती हैं—(१) धौति, (२) वस्ति, (३) नेति, (४) त्राटक, (५) नौलि, (६) कपाल भीति। देह शुद्धि के अनन्तर मन को स्थिर करने के लिए प्राणायाम

आदि साधन अपनाए जाते थे। तदनन्तर साधक समाधि और ध्यान का अधिकारी समझा जाता था। साधक का उद्देश्य कुण्डलिनी को जाग्रत करना होता था। इस मत के सिद्धान्तानुसार इस विश्व में व्याप्त शक्ति का नाम महाकुण्डलिनी है, और यही जब व्यक्ति में व्यक्त होती है तो कुण्डलिनी कहलाती है। देह की प्रधान शक्ति होने के कारण इस का संचालन योगी ही कर सकते हैं साधारण जन नहीं। शरीर में इस के स्वरूप को समझाने के लिए अनेक प्रकार के शरीर के काल्पनिक चित्र बनाए गए हैं और शरीर में व्याप्त नाड़ियों के विभिन्न नाम रखे हैं।

नाथ-सम्प्रदाय मे ईश्वर प्राप्ति के बाह्य साधनों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। घट (देह) के भीतर ही हठयोग द्वारा प्राणों को वश में कर कुण्डलिनी को जाग्रत कर और आत्मा को सहस्रदल मे पहुँचा ईश्वर प्राप्ति पर जोर दिया गया है। पुस्तक विद्या का बड़ा मखौल उड़ाया गया है, वेद शास्त्र का अध्ययन व्यर्थ माना गया, शास्त्रज्ञ विद्वानों को स्थान स्थान पर फटकारा गया, और उन्हे केवल पुस्तकों का बोझ ढोने वाला कहा गया है। नाथ-पन्थी साहित्य में स्थान स्थान पर शास्त्रीय विद्या और तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का बड़ा तिरस्कार किया गया है। सहजयानी साधक भी इसी प्रकार शास्त्रीय ज्ञान का मखौल उड़ाते थे, अतः यह परम्परा बहुत पुरानी चली आ रही थी। कबीर आदि सन्त कवियों ने अपने एतद् विषयक विचार भी इन्हीं हठयोगियों से प्राप्त किए हैं।

गुरु की महिमा हठयोगियों ने बहुत गाई है। गुरु को सम्पूर्ण श्रेयों का मूल माना है, और इस गुरु पद का अधिकारी केवल अवधूत ही हो सकता है। योग पद्धति अत्यन्त जटिल है, प्रत्येक योगी को प्रारम्भ में बड़ी सावधानी से इस मार्ग पर चलना पड़ता है, पथभ्रष्ट हो जाना मामूली बात थी, इसी कारण पथप्रदर्शन के हित गुरु की आवश्यकता और महत्ता अनुभव की गई। गुरु की महत्ता बहुत पहिले ही सिद्धों में स्थापित हो चुकी थी। कबीर तथा जायसी आदि सन्त कवियों के गुरु के प्रति आदरपूर्ण भाव इन्हीं सिद्धों की विचारधारा से प्रभावित हैं।

ब्राह्मणत्व आदि आश्रमाभिमान से रहित योगी ही 'नाथ-पद' (परम-

पद) को प्राप्त कर सकता है। वर्णाश्रम व्यवस्था को व्यर्थ और निस्सार समझा जाता था, क्योंकि यह गुणमूलक अभिमान को उत्पन्न करते थे, और गुणमूलक अभिमान परमपद की प्राप्ति में बाधक है। सिद्ध सम्प्रदाय की भाँति नाथ-पन्थ मे भी अनेक निम्न श्रेणी के लोगों का प्रवेश हुआ, यह लोग प्रायः शास्त्रज्ञानविहित होते थे, और इसी कारण उन का ज्ञान बहुत सीमित और बुद्धि सामान्य कोटि की होती थी। फिर भी वे अपने आपको पण्डित जनों से ऊँचा समझते थे और अपनी सर्वज्ञता को सिद्ध करने के लिए वे प्रायः पण्डित जनो को फटकारा करते। शिक्षित समुदाय में यह मत नहीं फैल सका।

यह तो पीछे लिखा ही जा चुका है कि यह मत पजाब और राजपूताना अर्थात् हिन्दी के पश्चिमी क्षेत्र मे फला फूला, इस प्रदेश मे प्रचार करने के लिए इस देश की भाषा का अपनाना भी आवश्यक ही था। इधर मुसलमानों में भी इस मत का काफी प्रभाव था, क्योंकि अनेक बार सूफी फकीरों और योगी सिद्धों में करामाती दंगल हो चुके थे, जिस में कभी योगियों की और कभी पीरों की विजय होती थी। दूसरे यह मत केवल ईश्वरवाद से सम्बन्धित था, और भगवान् की प्राप्ति का अपना निराला मूर्त्तिपूजा से रहित योगमार्ग का ढग बतलाता था, जिस से मुसलमान भी आकर्षित हो चुके थे। अतः इन्हें मुसलमानों में भी प्रचार कार्य करना होता था, और इन की बोली फारसी शब्दो से प्रभावित खडी बोली होती थी, अतः नाथ-पन्थी सिद्धों की भाषा पंजाबी, राजपूतानी और खड़ी बोली के अद्भुत मिश्रण से एक नवीन प्रकार की 'सधुक्कड़ी' भाषा बन गई थी।

नाथ-पन्थियों ने गद्य तथा पद्य दोनों मे ही अपने धार्मिक साहित्य का निर्माण किया है। यह साहित्य अधिकतर संवत् १४०० के आसपास का माना जाता है। अब तक प्राप्त हुई पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं—

गोरख-बोध, नरवई-बोध, गोरख गणेश-गोष्ठी, गोरखनाथजी की सत्रह कला, महादेव-गोरख-सवाद, दत्त गोरख संवाद, योगेश्वरी साखी, विराट्-पुराण, गोरखसार, गोरखनाथ की बानी।

ये पुस्तकें अधिकतर गोरखनाथ के पश्चात् उन के शिष्यों द्वारा लिखी गई हैं। इन में कुछ तो सस्कृत से अनूदित हैं। नाथ-पन्थ के कुछ ग्रन्थ संस्कृत मे भी लिखे गए हैं।

ऊपर हमने सिद्ध साहित्य की विचारधारा और उस के विकास का सच्तिप्त परिचय दिया है। अब प्रश्न यह है कि क्या सिद्ध साहित्य 'साहित्य' कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें एक और प्रश्न पूछना होगा कि क्या सिद्ध साहित्य में लालित्य पाया जाता है? प्रथम प्रश्न का उत्तर दूसरे मे ही निहित है। क्योंकि यदि सिद्ध साहित्य में लालित्य पाया जाता है, तो उसे साहित्य ही कहना चाहिए। परन्तु सिद्ध साहित्य का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि सिद्ध साहित्य में लालित्य नाममात्र में ही पाया जाता है। क्योंकि यह धार्मिक साहित्य है, और इस मे अधिकतर साम्प्रदायिक विधि विधान ही है। और एकदम साम्प्रदायिक विधि विधान तथा खण्डन-मण्डन किस प्रकार साहित्य कहला सकता है? अतः इसे शुद्ध साहित्य के अन्तर्गत ग्रहण करना अनुचित है।

भाषा भी सिद्ध साहित्य की इतनी बे सिर पैर की और विभिन्न बोलियों से मिश्रित है कि आचार्य शुक्ल ने उस का नाम ही 'सधुक्कड़ी' कर दिया है।

सिद्ध साहित्य का अपना महत्त्व है। वह भारतीय चिन्तन विधि के विकास की लड़ी है। हिन्दी साहित्य के सन्त कवियों की विचार धारा पर इस साहित्य का बहुत प्रभाव है, जिस का कि आगे वर्णन किया जाएगा।

जैनाचार्यों ने भी अपभ्रंश को ही अपने साहित्य का माध्यम बनाया। इन आचार्यों का भी यद्यपि मुख्य उद्देश्य तो धर्म प्रचार ही था, तथापि इन के ग्रन्थों मे साहित्यिक अश भी पर्याप्त है। अधिकतर शान्त रस को ही अपनाया गया है, परन्तु अनेक स्थानों पर ऐतिहासिक व्यक्तियों का चरित्र वर्णन करते हुए शृङ्गार रस का भी अलंकारिक भाषा में वर्णन किया गया है। जैन साहित्य हमारे सम्मुख दो रूपों में आता है, मुक्तक और प्रबन्ध। प्रबन्ध काव्यों में तीर्थङ्करों की जीवनियाँ, श्रावकों का चित्रण

और जैन जातक कथाओं का वर्णन किया गया है। प्रबन्ध-काव्यों में ऐतिहासिक महापुरुषों के चरित्रों का भी वर्णन है। जैन साहित्य की धारा १०वीं शताब्दि के मध्य से लेकर १४वीं शताब्दि के मध्य तक चलती रही और जैनाचार्यों ने विविध प्रकार से अपभ्रंश साहित्य की श्रीवृद्धि में सहयोग दिया।

देवसेनाचार्य:—को इस धारा का प्रथम लेखक माना जाता है। इनका समय सवत् ६६० वि० ठहराया गया है। इन्होंने श्रावकाचार नाम की पुस्तक दोहों में लिखी थी जिस की भाषा का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

जो जिण सासण भापियउ सो मई कहियउ सारु।
जो पालइ सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

देवसेनाचार्य के रचित ग्रन्थ ये हैं :—

दव्व सहाय पयारु तथा दर्शन सार।

देवसेन के पश्चात् महाकवि धवल ने जैन हरिवश पुराण, महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण, नाग कुमारचरित तथा धनपाल आदि ने भविष्यदत्त चरित इत्यादि लिखे। जीवन चरित्रों को प्रवन्ध काव्य के रूप मे वर्णन करते समय जैन कवियों ने अधिकतर चौपाई–दोहा प्रणाली को अपनाया है। यही चौपाई–दोहा पद्धति सूफी कवियों और गोस्वामी तुलसीदास द्वारा ग्रहण की गई है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र :—गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज हेमचन्द्र के समय वर्त्तमान थे और उन के यहाँ इन का बड़ा मान था। इन्होंने 'हेमचन्द्र शब्दानुशासन' नाम के एक वृहत् व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इस व्याकरण में आचार्य ने रासाओं से अपभ्रंश भाषा के अनेक उदाहरण दिए हैं, उन मे से कुछ इस प्रकार हैं :—

ढोल्ला मइं तुहुँ वारिया मा करु दीहा माणु।
निद्दय गमिही रत्तड़ी दड वड होइ विहाणु॥
भल्ला हुआ जु मारियां बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु, जइ भग्गा घरु एंतु॥

जइ सो न आवइ, दूइ! घरु, काइँ भरोमुहु तुज्झु।
वयणु ज खंडइ तउ, सहि ए! मो पिउ होइ न मुज्झु॥
पिय संगमि कउ निद्दड़ी? पिय हो परोक्खहो केव।
मइँ विन्निवि विन्नासिया, निद्द न एँव न तेव॥

सिद्धराज जयसिंह के भतीजे कुमारपाल इन्ही के प्रभाव से जैन मत में दीक्षित हुए थे, उन की स्तुति में इन्होंने 'कुमारपाल-चरित' नाम का प्राकृत काव्य लिखा है, इस काव्य में भी अपभ्रंश के पद्य मिलते हैं।

सोमप्रभ सूरि :—ने 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक एक संस्कृत-प्राकृत काव्य की रचना की थी। इस मे बीच बीच में अपभ्रंश के दोहे भी हैं। इस काव्य ग्रन्थ में कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र द्वारा दिए गए अनेक उपदेशों की चर्चा है। इस के कुछ दोहे उदाहरण स्वरूप दिए जाते हैं—

पिय हऊँ थक्किय सयलु दिणु तुइ विरहग्गि किलंत।
थोडइ जल जिम मच्छलिय तल्लो विल्लि करंत॥
वेस-बिसिट्ठह बारियइ जइवि मणोहर गत्त।
गंगाजल पक्खालियवि सुणिहि कि होइ पवित्त॥

जैनाचार्य मेरुतुंग:—ने अनेक प्राचीन राजाओं की कथाओं को अपने ग्रन्थ 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में संगृहीत किया है। इन कथाओं में स्थान स्थान पर उन राजाओं के सम्बन्ध में जनता में प्रचलित दोहे भी हैं। ये दोहे बहुत प्राचीन कहे जाते हैं, और कुछ दोहे तो राजा भोज के चचा राजा मुंज के कहे हुए हैं, जो कि अत्याधिक मार्मिक और काव्यरस पूर्ण हैं। इन दोहों से भाषा की परिस्थिति पर काफी प्रभाव पड़ता है। प्रायः ये दोहे—विशेष रूप से राजा मुंज के—अपभ्रंश के या पुरानी हिन्दी के नमूने कहे जाते हैं। कुछ दोहे उदाहरणार्थ नीचे दिए जाते हैं :—

मुंज भणइ मुणालवइ, जुव्वण गयउ न झूरि।
जइ सक्कर सम खण्ड थिय तोइ स मीठी चूरि॥
जा मति पाछइ सपजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ, विघन न बेढ़इ कोइ॥

बाँह विछोड़वि जाहि तुहुँ. हउँ तेवइँ का दोसु।
हि अयद्दिय जइ नीकरहि, जाणइँ मुंज सरोसु॥

राजा मुंज के भतीजे सुप्रसिद्ध महाराज भोज ने भी अपभ्रंश मिश्रित प्राकृत में एक कविता लिखी थी, जिसे उन्होंने बड़े आदर से पत्थर पर खुदवा अपनी भोजशाला में लगवा दिया। बाद मे किस प्रकार वह भोज-शाला मस्जिद बन गई और किस प्रकार वह कविता प्रकाश मे आई यह सम्पूर्ण कथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में लिखी है।

शार्ङ्गधरः—का लिखा हुआ आयुर्वेद ग्रन्थ 'शार्ङ्गधर-संहिता' तो बहुत प्रसिद्ध है। इधर साहित्यिक जगत् मे इन का लिखा हुआ 'शार्ङ्गधर पद्धति भी बहुत प्रसिद्ध है। यह एक सुभाषित ग्रन्थ है, और इस मे इन्होंने अपना परिचय भी दिया है। 'हम्मीर-रासो' नामक एक वीरगाथा काव्य भी इन्हीं का रचा हुआ बताया जाता है परन्तु यह पुस्तक इस समय अप्राप्य है।

इसी प्रकार अपभ्रंश काव्य की परम्परा १४वीं १५वीं शताब्दी तक बराबर जारी रही, और अनेक कवि और आचार्य विविध प्रकार से इस की वृद्धि करते रहे। कुछेक कवियों ने जहाँ देश भाषा मे रचना की वहाँ अपभ्रंश की काव्य परम्परा को भी आगे बढ़ाया। मैथिल कोकिल विद्या-पति ने 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' अपभ्रंश मे ही लिखी हैं, जहाँ अन्य रचनाएँ देशभाषा मे। 'कीर्तिलता' मे तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की वीरता उदारता आदि का वर्णन किया गया है। भाषा प्रायः अप-भ्रंश ही है, परन्तु पूर्वीपन से प्रभावित, दोहा, गाथा तथा चौपाई आदि छन्दों को अपनाया गया है, स्थान स्थान पर देश भाषा के पद्य भी मिल जाते हैं। कवि ने अपनी भाषा का नामकरण 'अवहट्ठ' किया है, और 'कीर्तिलता' के प्रथम पल्लव में कहा है—

देसिल वअना सब जन मिट्ठा।
ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा॥

(देशी भाषा सब को मधुर प्रतीत होती है, इस का विचार कर मैंने इस की रचना 'अवहट्ठ' में की है।)

अपभ्रंश काव्य की परम्परा यहीं समाप्त होती है। इस के अनन्तर देश भाषा काव्य का दिन प्रति दिन प्रचार बढ़ा, और कविजन उस की श्रीवृद्धि में लग गए।

इस से पूर्व कि हम अपभ्रंश साहित्य की परम्परा को छोड़ हिन्दी साहित्य के विकास पर विचार करें यहाँ कुछ विशेष विचारणीय विषयों पर विचार कर लेना उचित होगा।

सर्व प्रथम तो हम ऊपर वर्णित जैन साहित्य की साहित्यिक प्रगति पर विचार करेंगे। जैन विचारधारा का जन्म पूर्वी हिन्दी प्रदेश में हुआ, परन्तु शीघ्र ही पूर्वी हिन्दी प्रदेश में बौद्ध मत का अधिकार हो गया, और यह विचारधारा पूर्वी प्रदेश से दक्षिण और पश्चिम की ओर स्थानान्तरित हो गई। परन्तु निस्सन्देह जैन साहित्य की विचारधारा हिन्दी प्रदेश से ही सम्बन्धित है उस से बाहिर की नहीं।

जैन साहित्य के लेखक जैन आचार्य हैं जो सभी संस्कृत, अपभ्रंश तथा प्राकृत के उच्च कोटि के लेखक हैं। मध्यकालीन जैन विचारधारा को समझने के लिए हमें इन्हीं जैनाचार्यों की कृतियों का अध्ययन करना होगा। धार्मिक विचारधारा के दृष्टिकोण से यह साहित्य विशेष महत्ता रखता है।

जैन आचार्यों का मुख्य उद्देश्य धर्म प्रचार था अतः इन की दृष्टि काव्य सर्जना की ओर नहीं थी। फिर भी जैन साहित्य में काव्य गुणों की खोज करने पर हमें निराश नहीं होना पड़ेगा। जैन साहित्य में लालित्य है, परन्तु लालित्य की मात्रा मर्यादित ही है, अतः जैन साहित्य आंशिक रूप से ही साहित्य माना जाता है।

जैन साहित्य की भाषा अपभ्रंश ही है, परन्तु डा० रामकुमार वर्मा आदि ने जैन साहित्य की भाषा को प्रारम्भिक हिन्दी माना है।

अपभ्रंश साहित्य की पूर्वी और पश्चिमी शाखा—अपभ्रंश साहित्य का विकास स्पष्ट रूप से दो पृथक् धाराओं में हुआ, प्रथम—पश्चिमी अपभ्रंश साहित्य अधिकतर राजस्तुति, शृङ्गारी कविता, नीतिविषयक दोहे और जन-समाज में प्रचलित कथाओं के रूप में निर्मित हुआ, जब कि

अपभ्रंश साहित्य की द्वितीय अर्थात् पूर्वी धारा साधु सन्तों की तीखी-मीठी वाणियों और एक नवीन परन्तु उग्र विचारधारा के रूप में प्रकट हुई। अपभ्रंश साहित्य की यह दो विभिन्न धाराएँ आर्य जाति की दो विभिन्न विचारधाराओं और उनके भिन्न चरित्रों का प्रतिनिधित्व करती है। भाषा विज्ञान विशेषज्ञों ने तो अब यह सिद्ध भी कर दिया है कि पश्चिमी प्रदेशों में बसे हुए आर्य पूर्वी प्रदेश के आर्यों से प्रकृति में भिन्न हैं, अतः यह दो भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग माने गए हैं। अपभ्रंश साहित्य की पूर्वी और पश्चिमी धारा पर इन दोनों की अपने-अपने चरित्र की तथा प्रकृति की स्पष्ट छाप है।

अपभ्रंश हिन्दी तथा संस्कृत :—यह तो स्पष्ट है कि हिन्दी का विकास अपभ्रंश से हुआ, प्रारम्भिक हिन्दी साहित्य में, तथा अपभ्रंश साहित्य में भेद करना कठिन है। हिन्दी लोक भाषा होने के कारण निरन्तर परिवर्तित होती गई, और उसने शीघ्र ही प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि से छुटकारा पा अपना स्वतंत्र रूप निर्माण कर लिया। परन्तु यहाँ एक बात विचारणीय है, वह यह है कि हिन्दी का विकास यद्यपि अपभ्रंश से हुआ, परन्तु क्या कारण है कि हिन्दी में संस्कृत तत्सम शब्दों की इतनी बहुलता है, जब कि प्राचीन अपभ्रंश काव्य में संस्कृत तत्सम शब्द खोजने पर भी कठिनता से प्राप्त होंगे? इन संस्कृत शब्दों की बहुलता कोई आज की भाषा में नहीं अपितु तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, केशवदेव आदि सभी प्राचीन कवियों की भाषा में ही संस्कृत तत्सम शब्दों की भरमार है। विद्वान् जनों ने इसका कारण शङ्करस्वामी द्वारा बौद्ध मत की पराजय और ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान माना है*। बौद्ध धर्म के भारत की भूमि से निर्वासित होने और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान से भारतीय समाज, धर्म और राजनीति में एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। जनता में पौराणिक मत के प्रचलन से संस्कृत शब्दों का पुनः प्रचलन प्रारम्भ हुआ। इधर क्षत्रियत्व को प्राप्त करने के इच्छुक विदेशों से आए हुए हूण, शक आदि राजाओं और सामन्तों ने जहाँ ब्राह्मण धर्म का

* आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी—'हिन्दी साहित्य की भूमिका'।

आदर किया वहाँ उन्होंने संस्कृत तथा संस्कृत के पण्डितों को भी सम्मानित करना अपना कर्त्तव्य समझा। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान के साथ ही सस्कृत का प्रचार बढ़ा, जनता तथा राजा दोनों द्वारा इसे सम्मान प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप लोक भाषा हिन्दी में भी संस्कृत शब्दों का मिश्रण प्रारम्भ हो गया। हिन्दी के भक्त साहित्य के लगभग सम्पूर्ण कवि ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान से प्रभावित थे, अतः उनका संस्कृत शब्दों का प्रयोग ब्राह्मण धर्म के अध्ययन से स्वाभाविक ही था।

———०———

देश-भाषा काव्य

वीर गाथा काल या चारण काल

सामान्य परिचय :—वीर गाथा काल देश-भाषा काव्य के अन्तर्गत माना जाता है। अपभ्रंश काव्य का संक्षिप्त परिचय पहिले दिया जा चुका है। अब हम देश भाषा काव्य के विकास का पर्यालोचन करेंगे।

यह तो पहिले लिखा ही जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदि काल में देश किस प्रकार से छोटे छोटे रजवाड़ों में बँट चुका था, और किस प्रकार से ये छोटे छोटे राजवाड़े पारस्परिक द्वेष और ईर्षा के कारण लड़-झगड़ कर अपनी शक्तियों को नष्ट कर रहे थे। हिन्दी का आदि काल घोर राजनैतिक अशान्ति और विप्लव का युग था। वीर गाथा काल का सृजन इन्हीं दिनों में तथा इन्हीं प्रदेशों में हुआ जहाँ सब से अधिक ईर्षा, हठवादिता, द्वेष तथा विग्रह की भावनाएँ फैल रही थीं। इस साहित्य के सृष्ठा राजपूत राजाओं तथा सामन्तों के आश्रय में रहने वाले भाट या चारण लोग थे। १२ वीं शताब्दी के लगभग हिन्दी प्रदेश में चार प्रमुख राजपूत राज्य थे। इनकी राजधानियाँ—राठोरों की कन्नौज चौहानों की अजमेर, तोमर वंश की दिल्ली तथा बुन्देलों का बुन्देलखण्ड प्रदेश— इन चारण कवियों के प्रधान आश्रयस्थल थे। इन्ही प्रदेशों में आदि कालीन हिन्दी साहित्य का विकास हुआ है।

राजपूत राजाओं में परस्पर कलह सदा ही जारी रहती। वे

क्तिगत मानापमान के लिए परस्पर लड़ते-झगड़ते और व्यर्थ में ही द्धस्थली में रक्त की नदियाँ बहाते। अनेक बार राजपूतों के पारस्परिक द्ध स्त्रियों को लेकर होते, स्वयंवर शौर्य प्रदर्शन के कारण युद्ध-स्थल बना दिये जाते। अतः चारण कवियों को स्त्रियों के शृंगार वर्णन का अवसर भी मिल जाता। वे जहाँ उनके सौन्दर्य का वर्णन अलंकारिक भाषाओं में करते वहाँ उनके हरण का प्रतिद्वन्दियों से किए गए युद्धों का भी वर्णन करते। इन युद्धों का वर्णन प्रायः अतिशयोक्ति पूर्ण होता था। परन्तु वर्णन शैली अवश्य ही ओजपूर्ण होती।

इन पारस्परिक युद्धों का परिणाम देश के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। जनता तो अपने शासकों के हाथ अपनी बागडोर छोड़ चुकी थी, परन्तु अदूरदर्शी राजाओं ने गृह-कलह के बीज को बोकर देश की सम्पूर्ण आन्तरिक शक्ति को नष्ट कर दिया। इसका परिणाम शीघ्र ही देश के सन्मुख आगया।

उत्तर पश्चिम से मुसलमानों के आक्रमण चिरकाल से जारी थे। कभी वे अपनी विजय दुन्दुभी को बजाते हुए दिल्ली पहुँच जाते, परन्तु फिर खदेड़ कर पीछे भगा दिए जाते, तो कभी वे पंजाब पर आक्रमण कर लाहौर को अपने अधिकार में कर सम्पूर्ण भारत के लिए खतरे का रूप धारण कर लेते। उनके सम्मुख एक तरफ तो शस्य श्यामला भारत की स्वर्गीय भूमि का विस्तृत साम्राज्य था, जिसके रक्षक गृह कलह के कारण शक्तिहीन हो चुके थे, और दूसरी ओर अपने देश की खुश्क घाटियाँ और विस्तृत मरुस्थल थे, जहाँ कि सदा भूख और मृत्यु का ताण्डव नृत्य होता रहता था। भारत वैभव इन लुटेरों के लिए सब से बड़ा आकर्षण था। इसी लिए आक्रमणकारी प्राणों की बाजी लगा लड़ते, इधर राजपूत भी वीरत्व में कम नहीं थे, परन्तु पारस्परिक युद्धों और ईर्षा द्वेष के कारण उनकी आन्तरिक शक्ति नष्ट हो चुकी थी। परिणामस्वरूप देश को आक्रमणकारियों के सन्मुख घुटने टेकने पड़े।

हमारे चारण कवियों ने इन युद्धों का भी बहुत रोचक ढँग से वर्णन किया है; परन्तु उन का दृष्टिकोण सर्वथा वैयक्तिक ही था। वे प्रायः अपने

आश्रयदाता का ही गुणगान करते थे, और उस का गुणगान करते हुए वे तथ्यों की सर्वथा उपेक्षा कर जाते थे। अपने आश्रयदाता को प्रसन्न रखने के लिए ऐसा करना स्वाभाविक ही था।

इसी प्रकार की घोर राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों में हिन्दी का शैशव बीता। इन परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक ही था, इसी प्रभाव से हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में कुछ विशेषताएँ उत्पन्न हो गई हैं, जिन पर विचार कर लेना उचित ही होगा।

वीर-गाथा काल की विशेषताएँ :—१ वीररस का वर्णन :—आदि कालीन हिन्दी साहित्य की सर्वप्रमुख विशेषता वीररस की प्रधानता है। परिस्थितियाँ ही इस प्रकार की थीं कि उस समय के हिन्दी-साहित्य में वीररस की प्रधानता स्वाभाविक ही थी। क्योंकि कविजन प्रायः राजपूत राजाओं के आश्रय में रहते थे, और राजपूत या तो परस्पर लड़ते रहते या फिर बाहर से आनेवाली विदेशी शक्ति से उलझे रहते, उन में वीरता तथा ओज स्वाभाविक रूप से ही विद्यमान था। अतः चारण कवि राजपूत राजाओं के विभिन्न युद्धों के वर्णन करते। ये वर्णन अत्यन्त मार्मिक और सजीव बन पड़े हैं। अनेक बार पढ़ते पढ़ते शस्त्रों की झंकार कानों में गूँज उठती है। परन्तु युद्धों के वर्णन में अतिशयोक्ति का अभाव नहीं।

२. वीरगाथा साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता है वीररस के साथ-साथ श्रृङ्गार रस का वर्णन। राजपूत राजा जब परस्पर उलझते तो युद्ध प्रायः स्त्रियों को लेकर ही होते। इन राज-प्रेयसियों के सौन्दर्य का अद्भुत वर्णन इन चारण कवियों ने वीररस के वर्णन के साथ जारी रखा है। बाद में तो यह एक रीति ही बन गई कि युद्ध के मूल में किसी न किसी स्त्री को ही रखा जाए, चाहे वह काल्पनिक ही क्यों न हो।

ऊपर लिखा जा चुका है कि वीर-रस के साथ साथ इन कवियों ने श्रृङ्गार-रस का भी समान रूप से वर्णन किया है। अनेक बार तो इन ग्रन्थों को पढ़ते समय यह बरबस विचार उठता है कि इन में वीर-रस के बजाए श्रृङ्गार-रस की ही बहुलता है जैसे 'बीसलदेव रासो' में वीरता या शौर्य का वर्णन तो एक 'संकेतमात्र' ही, जब कि अधिकांश में

शृङ्गार रस का ही अत्यन्त अलङ्कारिक भाषा में वर्णन किया गया है। इसी प्रकार 'पृथ्वीराज रासो' में भी विवाह तथा शिकार के वर्णन के रूप में शृङ्गार की भरमार है। वैसे यह कोई नवीन बात नहीं, क्योंकि संस्कृत साहित्य के उत्तरकाल में भी यह शृङ्गार की धारा अनवरत रूप से चली आ रही थी। फिर चारण कवियों का दरबारी वातावरण भी शृङ्गार प्रधान ही था, राजपूत सामन्त और राजा भी शृङ्गार प्रेमी थे।

डा० श्यामसुन्दरदास आदि विद्वानों ने इन ग्रन्थों में शृङ्गार-रस की सत्ता वीर-रस की पुष्टि के लिए ही मानी है, स्वतन्त्र रूप से नहीं; परन्तु उपरोक्त ग्रन्थों का अध्ययन इस मत की पुष्टि नहीं करता। परन्तु क्या इन ग्रन्थों में शृङ्गार-रस की प्रधानता थी? यह भी ठीक नहीं। वास्तविकता तो यह है कि दोनों ही इन कवियों द्वारा समान रूप से अपनाए गए हैं।

३. तीसरी बड़ी विशेषता है आश्रय-दाताओं की प्रशसा। कवि लोग अधिकतर राजाओं के आश्रय में रहते थे और उनके आश्रय तभी तक प्राप्य थे, जब तक कि वे प्रसन्न रहें। इस लिए यह स्वाभाविक ही था कि कवि लोग अपने आश्रय-दाताओं को प्रसन्न रखने के लिए उनका यशोगान करते और उनके बल वीर्यका बढ़ा चढ़ा कर वर्णन करते। जब आश्रय-दाता को ही प्रसन्न करना कवि का उद्देश्य हो जाए तो निश्चय ही कवि अप्रिय सत्य को छिपाता है और उसके प्रसन्न करने के लिए उसका झूठा यशोगान करता है। यह स्थिति जातियों के पतन की होती है। वीरगाथा कालीन राजाओं की नीति और क्रिया कलाप देश के हित में न हो कर अहित में थे। उन्हीं द्वारा प्रज्वलित गृहकलह की अग्नि मे देश की स्वतन्त्रता जल कर भस्म हो गई। तो भी चारण कवियो ने उनके यशोगान को जारी रखा। इसी धुन में ही तो भट्ट केदार ने जयचन्द की प्रशसा में 'जयचन्द प्रकाश' लिख डाला। राजपूतों में एकता न थी, वीरता थी, इसी एकता के अभाव के कारण ही उनको अपनी अद्भुत वीरता के बावजूद भी पराजय का ही मुख देखना पड़ा। ये चारण कवि अपने स्वार्थों की पूर्ति के हेतु अपने आश्रय-दाताओं की प्रशसा ही करते रहे, और एक दूसरे की निन्दा कर नीचा दिखाते रहे। इन्होंने राजपूत राजाओं को एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में संगठित करने का प्रयत्न नहीं किया। कवि

में यह शक्ति है, परन्तु वे कवि केवल चारण थे, जो कि अपने स्वार्थों के लिए राजाओं की झूठी प्रशंसा करने और उनके प्रत्येक कृत्य के अन्ध-समर्थन में ही अपना कल्याण समझते थे। देश तथा राष्ट्र के भविष्य की चिन्ता उन्हें न थी, उन्हे चिन्ता थी तो अपने स्वार्थों की। यही कारण है कि कुछ विद्वान चारण साहित्य को वीर काव्य कहना भी उचित नही समझते।

४. चारण साहित्य में कल्पना को आश्चर्यजनक रूप से प्रधानता प्राप्त है। इस विषय मे कवियों की उड़ान काफी दूर की होती है। कल्पना के द्वारा उन्होने प्रत्येक वस्तु को रगीन और अद्भुत बनाने का प्रयत्न किया है। साधारण घटना को भी कल्पना के बल पर ही असाधारण और चमत्कार पूर्ण बना दिया है। अपने चरित्र-नायकों में गुणो के प्रदर्शन के हेतु भी इन्होंने कल्पना का ही आश्रय ग्रहण किया है।

५. चारण साहित्य में ऐतिहासिकता का अभाव है, और जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे संदिग्ध है, और उन में प्रक्षिप्त अंशों की बहुलता है। ऐतिहासिकता की कमी के अनेक कारण हैं। सर्व प्रथम चारण कवि चाटु-कारिता के लिए अपने आश्रय दाताओं का झूठा यशोगान करते थे, ऐसे झूठे यशोगान के लिए और अपने आश्रय-दाताओं को प्रसन्न करने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना की गई। जब कभी कवि चाटुकारिता की दृष्टि से कविता करता है तो निश्चय ही वह अपने नायक की प्रसन्नता के लिए अप्रिय ऐतिहासिक तथ्यो का वर्णन नही करेगा। दूसरा, जैसा कि पहिले ही लिखा जा चुका है कि चारण कवियों ने कल्पना का अधिक प्रयोग किया है इसी कल्पना की प्रधानता के कारण कवियो ने अपने काव्यो में अनेक इतिहास विरुद्ध कल्पित अंशों को जोड़ लिया।

प्रक्षिप्त अशो की बहुलता के कारण भी अनेक हैं। प्रथम तो चारण, कवियो की परम्परा राज्य दरबारो में स्थापित हो चुकी थी, अतः वे चारण कवि अपने पूर्वजों के काव्यो में मामूली हेर फेर कर अपने आश्रय-दाताओ को सुना अपनी जीविका चलाते थे। इसी कारण इन ग्रन्थो में प्रक्षिप्त अशो की बहूलता होती गई। और आज यह पहिचानना भी कठिन हो गया है कि कौनसा अंश प्रक्षिप्त है और कौनसा मूल।

गीत काव्य जनता में गाये जाते थे, इसलिए जनता की भाषा मे ज्यों-ज्यों परिवर्तन होते गए, वैसे ही इन गीत काव्यों की भाषा भी परिवर्तित होती गई। गेय होने के कारण इन मे प्रक्षिप्त अंशों को मिलाना तो अत्यन्त सुगम था। यही कारण है कि आल्ह खण्ड आज जिस रूप मे मिलता है वह वीरगाथा के काल का नहीं हो सकता।

६. वीरगाथा काव्य राष्ट्रीय काव्य नहीं कहला सकता। यद्यपि यह पूर्ण रूप से लौकिक है और अनेक ऐतिहासिक तथा अर्द्ध ऐतिहासिक तथ्य इन में वर्तमान हैं। परन्तु यह सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। प्रथम तो उस समय राष्ट्रीय भावना का ही अभाव था। दूसरा उपलब्ध सामग्री दो विभिन्न प्रदेशों से सम्बन्धित है। 'बीसलदेव रासो' राजस्थान में रचा गया, जब कि आल्हखण्ड और पृथ्वीराज रासो हिन्दी प्रदेश में।

शृंगार रस की बहुलता पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं। दूसरा इस साहित्य के चरित्रनायक लोकनायक नहीं थे। कामुक, विषयी और ऐश्वर्यशाली व्यक्ति थे, जो कि अपने व्यक्तिगत हित और मानापमान को राष्ट्रीय हित से ऊपर समझते थे। ये उपलब्ध सामग्री हमें सम्पूर्ण संघर्ष कालीन स्थिति से अवगत कराने मे भी असमर्थ हैं।

७. हिन्दी के कवियों को दो कालों मे ही राज्याश्रय की प्राप्ति हुई है, एक तो चारण काल मे और दूसरा रीति काल मे। राज्याश्रित कविता की सम्पूर्ण विशेषताएँ हम वीरगाथा कालीन साहित्य में पाते हैं, इनका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। वैसे वीरगाथा काल मे राजाओं की प्रवृत्ति युद्धों में संलग्न रहती, अतः तत्कालीन कवियों ने युद्धों का वर्णन किया. जब कि रीति कालीन राजाओं की प्रवृत्ति समृद्धि के कारण विलासिता और शृंगार की ओर झुकी हुई थी, और इसी कारण कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रवृत्तियों के अनुसार शृंगार रस पूर्ण रचनाएँ रचीं।

चारण कवि और उनका काव्य

वीर गाथा दो रूपों मे उपलब्ध है, एक तो प्रबन्ध काव्य के रूप मे और दूसरा मुक्तक-वीर गीत (Ballads) के रूप में। 'पृथ्वीराज रासो' प्रबन्ध काव्य के रूप मे है, जब कि 'बीसलदेव रासो' मुक्तक वीर गीत के रूप में। प्रबन्ध काव्य

में अनेक खण्डों में कथा कही जाती है, जब कि मुक्तक वीर गीत का रूप प्रायः लोक गीत सा होता है और उनका गायन विभिन्न उत्सवों पर होता है। वैसे भी ये जन साधारण में गेय होने के कारण प्रचलित रहे। यही कारण है कि इनकी भाषा में समय समय पर तथा स्थान स्थान पर परिवर्तन होते रहे। ये प्रबन्ध काव्य से आकार में छोटे हैं, और प्रायः एक ही छन्द में लिखे गये हैं।

इस काल के प्रधान कवि और उनके काव्य निम्नलिखित है—

१. दलपति विजय का 'खुमान रासो'।
२. नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो'।
३. चन्द वरदाई का 'पृथ्वीराज रासो'।
४. जगनिक का 'परमाल रासो'।

दलपति विजय :—वीर गाथा काल का सर्वप्रथम कवि दलपति विजय कहा जाता है। ख्याल किया जाता था कि दलपति या दौलत चित्तौड़ पर शासन करने वाले—खुमाण द्वितीय का समकालीन था, और उसने अपनी पुस्तक 'खुमान रासो' में खुमाण द्वितीय और ख़लीफा अलमामू के युद्धों का वर्णन किया है। कर्नल टाड ने भी तत्कालीन मेवाड़ के इतिहास का वर्णन इसी पुस्तक के आधार पर किया है। परन्तु इधर इस विषय में खोज होने पर इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक भूलें जान पड़ी है। 'रासो' की विभिन्न प्रतियों में वर्णनकाल का अन्तर है। कुछ प्रतियों में तो महाराणा प्रतापसिंह और कुछ में महाराणा राजसिंह तक का वर्णन है, और फिर अभी ये प्रतियाँ अपूर्ण हैं। खुमान नाम के तीन राजा चित्तौड में हुए। यह पुस्तक दूसरे खुमान से सम्बन्धित है, और दूसरे खुमान का समय वि० स० ८७० से ९०० तक माना गया है। महाराणा राजसिंह का समय १६८६ वि० सं० माना गया है। अतः इसकी प्रमाणिकता संदिग्ध है। ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में एक छन्द मिलता है—

त्रिपुरा सतत तणय सुप साय,
रच्या खण्ड दूजो कवि राय।
तप्प गच्छ गिरुआ गणधार,

सुमती साधु बसे सुख कार।
पंडित पद्म विजय गुरु राय,
पटोदिया गिरि रवि कहवाय।
जय बुध शान्ति विजय को शीश।
जो पै दौलत मनह जगीस।

इस पद्य में पद्मविजय, जय विजय तथा शान्ति विजय इन तीन जैन धर्मावलम्बी कवियों का वर्णन किया गया है। इनमें शान्ति विजय का समय १७३३ निश्चित है। इसी कारण भाषा तथा घटनाओं के वर्णन के आधार पर ही यह १८ वीं शताब्दी की रचना मानी गई है। इस प्रकार दलपति विजय का समय १८ वीं शताब्दी ठहराया जा सकता है।

यह भी अनुमान किया जा सकता है कि दलपति विजय इस ग्रन्थ का मूल लेखक हो, जो कि खुमाण द्वितीय का समकालीन होगा। और उसी ने इस ग्रन्थ की सर्व प्रथम रचना की हो। परन्तु दलपति विजय के वंशजों ने, जो कि चित्तौड़ में रहते चले आ रहे थे, पश्चात् में कुछ परिवर्तन कर भाषा को सुगम बना, शेषाश जोड़ दिए हों। डा० श्यामसुन्दरदास ने इसकी प्राचीनता को मानते हुए यह अनुमान किया है कि पश्चात् के चारण कवियों ने इसे परिवर्तित और परिवर्धित कर वर्तमान रूप दिया होगा।

यह कहना कठिन है कि दलपति विजय 'खुमाण रासो' का मूल लेखक था, या उसके अन्तिम भाग का।

नरपति नाल्ह :—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वीर गाथाएँ दो रूप में उपलब्ध हैं, एक तो प्रबन्ध काव्य में और दूसरी मुक्तक गीत के रूप में। हिन्दी के आदि-युग का वातावण वीर गीतों के सर्वथा उपयुक्त था क्योकि युद्ध-काल में प्रबन्ध काव्यो की रचना कठिन है। वीर-गीतों का निर्माण न केवल सरल ही है, अपितु स्वाभाविक भी। युद्ध में जाते हुए वीरों के उत्साह वर्द्धन के लिए छोटे छोटे वीर गीतो द्वारा वीरो की प्रशसा में गीत लिखना या ओजस्वी वीर गीतों की रचना करना स्वाभाविक ही है। इस काल में निश्चय ही मुक्तक वीर गीत बडी सख्या में लिखे होंगे, परन्तु आज उपलब्ध सामग्री में मुक्तक वीर गीतो की सख्या इनी गिनी ही है।

नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' मुक्तक वीर गीत का सर्व प्राचीन नमूना है। नरपति नाल्ह का जीवन-वृत्त अप्राप्य है, न तो कवि ने स्वयं ही कहीं अपनी चर्चा की है और न उसके सम्बन्ध में कहीं अन्यत्र ही कुछ पता चलता है। ऐसी स्थिति में उसके विषय में कुछ भी निश्चित रूप से कहना कठिन है।

नरपति नाल्ह बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का समकालीन माना जाता है। 'बीसलदेव रासो' की रचना चार खण्डों में की गई है, इसमें वर्णित कथा संक्षेप में निम्नलिखित है—

प्रथम खण्ड :—साभर के राजा बीसलदेव का मालव के राजा भोज परमार की पुत्री राजमति से विवाह होना।

द्वितीय खण्ड :—बीसलदेव का राजमति से रूठना। घरबार छोड़ उड़ीसा की ओर प्रस्थान, और वहाँ एक वर्ष रहना।

तृतीय खण्ड :—राजमति का विरह वर्णन और बीसलदेव का उड़ीसा के लौटना।

चतुर्थ खण्ड :—भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना, बीसलदेव का वहाँ जाना, और राजमति को वापिस चित्तौड़ लाना।

'बीसलदेव रासो' में शृंगार रस की प्रधानता है, कवि ने अपने चरित्र नायक के शौर्यादि का वर्णन भी नहीं किया, केवल उसकी प्रेम कथा का वर्णन किया है, इसी कारण बहुत से विद्वान इसे वीर गीत के रूप में ग्रहण करने को उद्यत नहीं। परन्तु जीवन विभिन्न रूपों में हमारे सम्मुख आता है, वह केवल वीर रस का ही विषय नहीं हो सकता। किसी भी वीर चरित्रनायक के जीवन में केवल युद्धों का वर्णन नहीं होता, उसके साथ साथ उसके मन की कोमल वृत्तियों का भी प्रदर्शन किया जाता है। फिर हम प्रायः वीरता को शृंगार से परिचालित देखते हैं। 'बीसलदेव रासो' में भी जहाँ कवि ने अपने चरित्र-नायक की कोमल मानसिक वृत्तियों का प्रदर्शन किया है, वहाँ वीरता को भी शृंगार से परिचालित किया है।

बीसलदेव रासो की ऐतिहासिक प्रमाणिकता:—अब तक 'बीसलदेव रासो' की दो प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, एक जयपुर से और दूसरी

बीकानेर से। प्रथम प्रति में ग्रन्थ का निर्माणकाल सं० १२१२ और दूसरी में सं० १०७४ दिया हुआ है।

बारह सै बहत्तरांहां मंझारि। जेठ वदी नवमी वुधवारि॥
'नाल्ह' रसायण आरंगइ। सारदा तुठि ब्रह्म कुमारि॥
—जयपुर

संवत् सहस तिहत्तर जानि। नाल्ह कवीसर रसीय बखाणि।
—बीकानेर

'बारह सै बहत्तरा' को मिश्र बन्धु ने १२१०, लाला सीताराम ने १२७२, सत्यजीवन वर्मा तथा आचार्य शुक्ल ने १२७२ और डा० श्यामसुन्दरदास ने १२७२ माना है।

बीकानेर से प्राप्त प्रति के अनुसार श्री गजराज ओझा ने उपर्युक्त ग्रन्थ का रचनाकाल १०७३ वि० माना है और डा० रामकुँवार वर्मा भी इसे ही इतिहास सम्मत मानते है।

बीसलदेव या विग्रह राज नाम के चार चौहान राजा अजमेर में राज्य कर चुके हैं। इनमे नरपति नाल्ह का नायक विग्रह राज चतुर्थ है या तृतीय? इस विषय में लेखकों में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें विग्रह-राज चतुर्थ[1] माना है जब कि डा० श्यामसुन्दरदास ने तृतीय[2]। निश्चय ही बीसलदेव से सांभर तथा अजमेर के राजा से तात्पर्य है। हमारे विचार में 'बीसलदेव रासो' का नायक अर्णोराज के तीन पुत्रों—जगदेव बीसलदेव तथा सोमेश्वर में से एक थे। इनके बड़े भाई जगदेव ने अपने पिता की हत्या की थी, और तदनन्तर राज सिंहासन पर अधिकार कर लिया। परन्तु बीसलदेव ने उन्हें राज सिंहासन से उतार अपने आपको राजा घोषित कर दिया। इसका समय टाड राजस्थान में सं० १०६६ से ११३० तक माना है, जो कि बीकानेर वाली प्रति के समय से मिलता है। डा० ईश्वरीप्रसाद ने इनका समय १२१० से १२२४ माना है, जो कि जयपुर वाली प्रति से मिलता है। टाड राजस्थान में केवल एक बीसलदेव का ही वर्णन है। परन्तु टाड राजस्थान

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ३१; आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

[2] हिन्दी साहित्य पृ० १०४ डा० श्यामसुन्दरदास

में वर्णित 'वीसलदेव' की सत्ता का अब तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ। साम्भर नरेश विग्रहराज के विषय में अनेक प्रमाण उपस्थित किए जा सकते हैं।

सवत १२२० में वीसलदेव ने फीरोजशाह की दिल्ली की लाट पर एक प्रशस्ति खुदवाई थी, यह अब भी प्राप्य है, और इसमें वीसलदेव ने अपनी दिग विजय का वर्णन किया है। इससे इस मत की पुष्टि होती है कि यही विग्रहराज (वीसलदेव) नरपति नाल्ह के 'वीसलदेव रासो' का नायक है। जयपुर से प्राप्त 'वीसलदेव रासो' की प्रति भी इस मत को पुष्ट करती है। क्या नरपति नाल्ह वीसलदेव का समकालीन था? इस विषय में भी लेखकों में मतभेद है। कुछ लेखकों का मत है कि नरपति नाल्ह न केवल वीसलदेव का समकालीन ही था बल्कि उसका राजकवि भी था। स्वयं नरपति नाल्ह ने 'वीसलदेव रासो" में वर्तमान काल का प्रयोग किया है। काव्य में वर्णित सम्वत् से भी यही प्रतीत होता है कि कवि वीसलदेव का समकालीन था। किन्तु रासो में वर्णित घटनाएँ इस मत का समर्थन नहीं करतीं। कवि ने 'वीसलदेव रासो" को दो मुख्य घटनाओं पर ही आधारित किया है, प्रथम वीसलदेव का परमार राजा भोज की पुत्री राजमति (राजदेवी?) से विवाह और द्वितीय वीसलदेव का अपनी पत्नी से रूठ कर उड़ीसा जाना। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि प्रथम घटना पर विचार किया जाए तो वह सर्वथा कल्पना की उपज ही प्रतीत होती है। राजा भोज और विग्रहराज के समय में बहुत अन्तर है। उड़ीसा यात्रा का भी ऐतिहासिक दृष्टि से समर्थन नहीं हो पाता क्योंकि फीरोज शाह वाली लाठ पर प्राप्त शिला लेख में कहीं भी इस यात्रा का वर्णन नहीं, इसके अतिरिक्त कवि ने कालीदास तथा माघ* आदि के नामों का भी उल्लेख किया है, इनके उस समय वर्तमान होने का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं। विग्रहराज के राज कवि सोमदेव ने सम्वत् १२१० में विग्रहराज की स्तुति में एक सस्कृत नाटक 'ललित विग्रहराज' की रचना की थी। 'वीसलदेव रासो' की घटनाएँ इससे मेल नहीं खातीं। इन सब तथ्यों से इसी परिणाम पर पहुँचा जा सकता है कि नरपति

*'माघ अचारज, कवि कालिदास'।

नाल्ह विग्रहराज का समकालीन नहीं था, बल्कि पश्चात् कोई चारण कवि था जिसने कि बीसलदेव के जीवन के केवल एक अंश को ही अपनी कविता का विषय बनाया।

'बीसलदेव रासो' की भाषा असंस्कृत और अस्त-व्यस्त है। साहित्यिक सौन्दर्य का अभाव है। यह गीत काव्य है और लिपिबद्ध* होने से पूर्व यह शताब्दियों तक जनता में गेय रूप में प्रचलित रहा। अतः भाषा में परिवर्तन का हो जाना स्वाभाविक ही था, साथ ही सामग्री में भी परिवर्तन की सम्भावना की जा सकती है। इन सबके बावजूद भी 'बीसलदेव रासो' जिस रूप में आज उपलब्ध है वह साहित्य के इतिहास की दृष्टि से और भाषा विज्ञान की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। नीचे इसमें से कुछ पद्य दिये जाते हैं :—

'नाल्ह' रसायण रस भरि गाई। तुठि सारदा त्रिभुवन भाई॥
उलिगणां गुण वरणतां। कुकठ कुमाणसां जिन कहई रास॥
अस्त्री चरित्र गीत को लहइ। एकइ आखर रस सबइ विणास॥
तुठि सारदा त्रिभुवन भाई। देव विनायक लागू हूं पाय॥
तोहिं लम्बोदर वीन मूँ। चउसठि जो गिनि का अगि वांण॥
चउथ जोहारूं खोपरां। भूलेउ अक्खर आणजे हाइं॥

× × × ×

परणवा चल्यो बीसलराय। चउरास्या सहु लिया बोलाय॥
जान-तणी साजित करउ। जीरह रंगावली पहर ज्यो टोय॥

× × × ×

हुअइ पइसारउ बीसलराव। आवी सदूल अँतेवरी रात्र॥
रूप अपूर्व पेषियइ। इसी अस्त्री नहि सयल संसार॥
अति रंग स्वामी सूं मिली राति। बेटी राजा भोज की॥

चंद बरदाई :—हिन्दी के महान् कवि हैं और इनका लिखा हुआ वृहत् ग्रन्थ पृथ्वीराजरासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है। चंद दिल्ली के अन्तिम हिन्दू राजा पृथ्वीराज के राजकवि और घनिष्ट मित्र थे। यह प्रसिद्ध है कि चन्द पृथ्वीराज के साथ एक ही दिन १२२५ में उत्पन्न हुए थे। इनका

*बीसलदेव रासो की जयपुर वाली प्रति संवत् १६६६ में लिपिवद्ध की गई थी।

जन्म लाहौर नगर में बतलाया जाता है। इनके पूर्वज पजाब के भट्ट ब्राह्मण थे, और रासो के अनुसार इनका 'जगाति गोत्र' था। ये बहुत विद्वान और षड्भाषा, साहित्य, काव्य, व्याकरण, छन्दशास्त्र तथा ज्योतिष, पुराण, नाटक, आदि अनेक विद्याओं मे दक्ष थे। साथ ही चन्द अश्वारोहण तथा युद्ध विद्या में भी निपुण थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि चन्द पृथ्वीराज के अत्यन्त प्रिय सखा थे, सभा, युद्ध तथा आखेट आदि में सदा उनके साथ रहते थे। जब शहाबुद्दीन गौरी पृथ्वीराज को पकड़ ग़ज़नी ले गया तो चन्द भी अपने अन्यतम सखा के पास जा पहुँचे। वहीं एक दिन बादशाह से मिले और पृथ्वीराज की शब्द-बेधी बाण चलाने की कुशलता से शाह को परिचित कराया। बादशाह ने पृथ्वीराज को बाण चलाने की आज्ञा दी। चन्द्र का सकेत पाते ही पृथ्वीराज ने ऐसा बाण मारा कि यवन बादशाह लुढ़कता हुआ भूमि पर आ गिरा। तत्पश्चात् दोनों मित्रों ने आत्मघात कर लिया, इस प्रकार दोनों मित्र एक ही दिन स्वर्ग सिधारे।

पृथ्वीराज रासो :—चन्द द्वारा रचित एक महान् ग्रन्थ है, जिसकी कथा १५०० पृष्ठों में कही गई है, और जिसमें ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं, तथा जिसमें लगभग १,००,००० छन्द हैं। प्राचीन समय के प्रचलित प्राय. सम्पूर्ण छन्दो का इसमें प्रयोग किया गया है। मुख्य छन्द हैं—छप्पय (कवित्त) त्रोटक, तोमर तथा दूहा, गाहा और आर्या आदि। यह ग्रन्थ सम्वाद के रूप में है, कवि की धर्मपत्नी प्रश्न करती है और कवि उसका उत्तर देता है। इसमें यज्ञकुण्ड से चार क्षत्रिय-कुलों की उत्पत्ति तथा चौहानो की अजमेर राजस्थापना से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का विस्तृत वर्णन है। सुप्रसिद्ध बाण भट्ट लिखित संस्कृत ग्रन्थ 'कादम्बरी' का जैसे अन्तिम भाग बाण भट्ट के पुत्र ने पूर्ण किया था वैसे ही 'पृथ्वीराज रासो' का अन्तिम भाग चन्द के पुत्र जलहण ने पूर्ण किया। इसका उल्लेख रासो मे इस प्रकार है :—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।

× × × ×

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराज सुजस कवि, चन्द कृत चंद-नन्द उद्धरिय तिमि॥

मेवाड़ नरेश महाराणा अमरसिंह ने (वि० स० १६१६—१६७६) देश भर में बिखरे हुए चन्द के छन्दो को एकत्रित करवा इसे रासो को पूर्ण दिया। उदयपुर राज्य के विक्टोरिया हाल में प्राप्त 'पृथ्वीराज रासो' की प्रति के अन्त मे यह छन्द मिलता है।

गुन कवियन रस पोइ चन्द कवियन कर रिद्धिय।
छन्द गुनी ते तुट्टि मन्द कवि भिन भिन किद्धिय ॥
देश देश विष्षरिय मेल गुन पार न पावय।
उद्दिम करि मेलवन्त आस विन आलय आवाय ॥
चित्रकोट रान अमरेस नृप हित श्रीमुख आयस दयो।
गुन बिन बीन करुणा उदधि लिषि रासो उद्दिम कियो ॥

इससे स्पष्ट रूप से ही उपरोक्त मत का समर्थन होता है कि राणा अमरसिंह की आज्ञा से किसी कवि ने इसे सग्रहीत कर सम्पादित किया।

क्या 'पृथ्वीराज रासो' महा काव्य है:—इससे पूर्व कि इस प्रश्न का उत्तर यहाँ लिखा जाए, हमें यह विचार कर लेना चाहिए कि महाकाव्य किसे कहते हैं? महाकाव्य के क्या मुख्य अंग हैं?

महाकाव्य को अंग्रेजी में ऐपिक (Epic) कहते हैं, और इसमे वर्णन (Narration) की प्रधानता रहती है। सस्कृत लक्षण ग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य का स्वरूप हम सक्षेप से इस प्रकार मे बता सकते हैं।

१. महाकाव्य सर्गों में बँधा हुआ होना चाहिए।

२. इसमे एक नायक रहता है जो देवता या उत्तम वंश का—धीरोदात्त गुणों से युक्त महापुरुष होता है।

३. शृंगार, वीर, शान्त रसों मे से कोई एक रस अंगी रूप से रहना चाहिए नाटक की सब सन्धियाँ होनी चाहिए।

४. इसका वर्णित विषय इतिहास प्रसिद्ध होता है।

५. इसमे मंगलाचरण तथा वस्तु निर्देश होना चाहिए।

६. एक ही सर्ग मे एक ही छन्द का प्रयोग होता है, परन्तु यह नियम शिथिल भी हो सकता है।

७. इसमे सध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदीप, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल,

आखेट, ऋतु, वन, पर्वत, समुद्र संग्राम यात्रा आदि का वर्णन होना चाहिए।

पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य पर विचार करते हुए जिन उपकरणों को महाकाव्य के लिए आवश्यक माना है उनमें परस्परिक बड़ा मतभेद है। फिर भी हम निम्नलिखित उपकरणों को सर्व सम्मत मान सकते हैं—

१. महाकाव्य एक वृहदाकार वर्णन प्रधान (Narrative) काव्य है।

२. व्यक्ति की अपेक्षा इसमें जातीय भावनाओं की प्रधानता होती है।

३. इसका विषय परम्परा से आदृत और लोकप्रिय हो।

४. इसके पात्रों में शौर्य गुण की प्रधानता होनी चाहिए।

५. इसमें नायक के चारों ओर कथा चक्र काटती है, सम्पूर्ण कथा उस को ही मुख्य केन्द्र मानकर रची जानी चाहिए।

६. महाकाव्य की शैली उत्कृष्ट ओर एक विशेष प्रकार की शालीनता को लिए होती है।

७. इसमे एक ही छन्द का प्रयोग होना चाहिए।

ऊपर हमने भारतीय और पश्चिमी आलोचकों के अनुसार महाकाव्य के मुख्य उपकरण और अग गिना दिये है, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमें ज्ञात हो जाएगा कि पाश्चात्य आचार्यों के और भारतीय आचार्यों के महाकाव्य सम्बन्धी आदर्शों मे विशेष अन्तर नहीं।

अब विचारणीय यह है कि क्या 'पृथ्वीराज रासो' इन लक्षणों के अनुसार पूर्ण उतरता है ? निश्चय ही दोनों भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों के लक्षणों के अनुसार तो रासो को महाकाव्य कहना ही उपयुक्त होगा। यह ६६ समयों (सर्गों) में विभक्त है, और इसमें अनेक छन्दों का उपयोग किया है। इसका नायक अभिजात्य कुलोत्पन्न है और क्षत्रिय कुल भूषण तथा वीर महापुरुष है। इसकी कथा भी इतिहास प्रसिद्ध है, तथा इसमे अनेक स्थान पर आखेट आदि का वर्णन है। प्रकृति का वर्णन कम है।

परन्तु जब हम जातीय सभ्यता तथा संस्कृति की अभिव्यक्ति के अनुसार उसे देखते हैं तो हमें निराश होना पड़ता है। महाकाव्य जातीय संस्कृतियों और सभ्यताओं को प्रतिबिम्बित करता है और उसमें हम जातीय चित्तवृत्ति के सूक्ष्म विकास को पाते हैं। दूसरा 'पृथ्वीराज रासो' के कथानक में शैथिल्य

है और घटनाओं का वर्णन भी असम्बद्ध है। इसी कारण डा० श्यामसुन्दरदास ने इसे महाकाव्य न कहकर 'विशाल-काय वीर काव्य' कहा है। यह उपरोक्त परिस्थितियों में उपयुक्त ही है।

पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता :—पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिक प्रमाणिकता के विषय में बड़ा मतभेद है। पहले मत के अनुसार तो सम्पूर्ण ग्रन्थ ही मान्य नहीं वे इसे पूरा जाली मानते हैं। दूसरे मत के लोग इस का कुछ अंश मौलिक मानते हैं और कुछ अंश प्रक्षिप्त। विद्वानों के दो विभिन्न दलों ने अपने अपने मत की पुष्टि के लिए विभिन्न प्रमाण उपस्थित किए हैं। परिस्थिति इतनी पेचीदा है और मतभेद इतना गहरा है कि किसी भी निश्चय पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। कर्नल टाड, तासी, श्री मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, डा० श्यामसुन्दरदास तथा मिश्रबन्धु इसे प्रमाणिक मानते हैं। डा० बूलर, इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, हीरालाल शास्त्री तथा सावलदास ओझा और जोधपुर के कवि मुरारदीन इसे सर्वथा अप्रमाणिक और जाली मानते हैं। नीचे हम दोनों वर्गों के प्रमाणों और युक्तियों का वर्णन करेंगे।

कर्नल टाड 'पृथ्वीराज रासो' को ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व देने वालों में सर्वप्रथम हैं। इन्होंने अपने राजस्थान के इतिहास में 'रासो' की बड़ी प्रशंसा की है, और इसमें वर्णित घटनाओं को अपने इतिहास का आधार बनाया है। परिणामस्वरूप 'रासो' ऐतिहासिक दृष्टि से एक प्रमाणिक ग्रन्थ माना जाने लगा और 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' ने इसके प्रकाशन का निश्चय कर लिया, उसी समय ही यह ग्रन्थ वाद-विवाद का विषय बन गया। तासी ने अपने इतिहास की रचना भी कर्नल टाड् के इतिहास का आश्रय ले की थी, इसी कारण उन्होंने भी चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हुए 'पृथ्वीराज रासो' को प्रमाणिक माना है।

परन्तु इधर इसका ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन होने के अनन्तर इसकी प्रमाणिकता में सन्देह उत्पन्न होगया है। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० बूलर ने संस्कृत ग्रन्थों की खोज करते समय जयानक कवि विरचित 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' नामक एक पुस्तक प्राप्त की थी। इसमें वर्णित घटनाएँ और सम्वत् प्रमाणिक

माने जाते हैं, क्योंकि ये सम्पूर्ण घटनाएँ और सम्वत् अब तक प्राप्त शिलालेख और ताम्र-पत्रों पर उल्लिखित घटनाओं और सम्वतों से मेल खाते हैं। परन्तु पृथ्वीराज रासो में वर्णित घटनाएँ और सम्वत् ऐतिहासिक तथ्यों से बिलकुल मेल नहीं खाते। अनेक आन्तरिक और बाह्य प्रमाणों की सहायता से महामहोपाध्याय श्री प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इसे सर्वथा अप्रमाणिक और जाली ग्रन्थ मानते हुए लिखा है।*

"पृथ्वीराज रासो बिल्कुल अनैतिहासिक ग्रन्थ है। उसमें चौहानों, प्रतिहारों और सोलङ्कियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध की कथा, चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता, भाई, बहिन, पुत्र और रानियों आदि के विषय की कथाएँ तथा बहुत सी घटनाओं के सम्वत्, प्रायः सभी घटनाएँ तथा सामन्तो आदि के नाम अशुद्ध तथा कल्पित हैं। कुछ सुनी-सुनाई बातों के आधार पर बृहत् काव्य की रचना की गई है। यदि 'पृथ्वीराज रासो' पृथ्वीराज के समय में लिखा गया होता तो इतनी बड़ी अशुद्धियों का होना असम्भव था।"

पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने रासो में लिखित तिथियों और सम्वतों को शुद्ध सिद्ध करने के लिए कल्पना का आश्रय लेते हुए एक नया तर्क प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि रासो के सम्वतों और यथार्थ संवतों में ९०–९१ वर्षों का अन्तर एक नियम से पड़ता है, अर्थात् सम्पूर्ण पुस्तक में ही एकसा है। उनके कथनानुसार यह अन्तर भूल नहीं अपितु एक विशेष कारण से रखा गया है। यह कारण उन्होंने निम्नलिखित दोहे में पाया है—

एकादस सै पचदह, विक्रम साक अनन्द।
तिहिं रुपु जयपुर हरन को, भये पृथिराज नरिन्द॥

इस दोहे में 'विक्रम साक-अनन्द' का अर्थ पाड्या जी ने—अ = शून्य और नन्द = ९ अर्थात् ९० रहित विक्रम किया। आचार्य शुक्ल ने उपर्युक्त मत को केवल कल्पना की उपज माना है और इधर ओझाजी ने सिद्ध किया है कि पाड्या जी के अनन्द सम्वत् की कल्पना को स्वीकार कर लेने पर भी रासो की तिथियाँ शुद्ध नहीं हो पातीं।

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका।

यहाँ केवल संवतों तक ही तो बात सीमित नहीं, इतिहास विरुद्ध कल्पित कथाएँ भी तो हैं, उनके लिए क्या किया जा सकता है ? जिन आधारों पर 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रमाणिक माना जाता है वे निश्चित ऐतिहासिक घटनाएँ, शिलालेख और जयानक कवि कृत 'पृथ्वीराज विजय' नामक संस्कृत महाकाव्य के प्राप्त अंश है। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने लिखा है "अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज या उनके भाई हरराज अथवा इन दोनों में से किसी वंशज के यहाँ चद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उसके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के विषय में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुतसा कल्पित 'भट्ट भणत' तैयार होता गया उन सबको लेकर और चन्द को पृथ्वीराज का सम सामयिक मान, उसी के नाम पर 'रासो' नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई हो।"[1] ये विद्वान 'रासो' को सर्वथा अप्रमाणिक मानते हैं, और इसकी रचना का समय १७ वीं शताब्दी ठहराते हैं।

परन्तु डा० श्यामसुन्दरदास आदि विद्वान रासो को पूर्णतया अप्रमाणिक नहीं मानते, और वे चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन मानते है। उन्होंने लिखा है "वर्तमान रूप में 'पृथ्वीराज रासो' में प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक हैं पर साथ ही उसमें बीच बीच में चन्द के छन्द बिखरे पड़े हैं और यह निश्चित् जान पड़ता है कि वर्तमान रासो चन्द-रचित छन्दों का सकलित एव सम्पादित रूप है।"[2] चन्द के पृथ्वीराज के समकालीन होने के विषय में डा० श्यामसुन्दरदास लिखते हैं—"चन्द बरदाई नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज के दरबार में होना निश्चित है, और यह भी सत्य है कि उसने अपने आश्रय-दाता की गाथा विविध छन्दों में लिखी थी।"[3]

इसी प्रकार मिश्रबन्धु रासो की प्रमाणिकता में तनिक भी सदेह न करते हुए लिखते हैं—'रासो' प्रायः संवत् १२२५ से १२४८ तक बनता रहा। यह वह समय था जब प्राकृत भाषा का अन्त हो रहा था, और हिन्दी का प्रचार होता जाता था।"[4] आप अन्यत्र लिखते हैं "रासो जाली नहीं है, वरन् पृथ्वीराज के समय में ही चन्द ने इसे बनाया था। इसके अकृत्रिम होने

---

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखित "हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ५०

[2] हिन्दी साहित्य पृष्ठ ९७। [3] वही पृष्ठ ९४। [4] हिन्दी नवरत्न पृष्ठ ३३७

का एक यह भी कारण समझ पड़ता है कि यदि कोई मनुष्य सोलहवीं शताब्दी आदि में इसे बनाता तो वह स्वयं अपना नाम लिखकर ऐसा भारी (२५०० पृष्ठ का) उत्तम महाकाव्य चन्द को क्यों समर्पित कर देता।"[1]

इस प्रकार विद्वानों के दोनों वर्ग एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न निश्चयों पर पहुँच रहे हैं। ऐसी अवस्था में किसी एक निश्चित निर्णय पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है। 'रासो' की प्रमाणिकता के विषय मे खोज जारी है, इसके अनुसार रासो की प्रमाणिता सिद्ध हो रही है। अनुसन्धान कर्त्ताओ ने बीकानेर वाली रासो की प्रति का अध्ययन किया है और वे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि इसमें वे स्थल ही नहीं जिन पर श्री ओझाजी को विशेष आपत्ति है। इधर मुनि जिनविजय जी ने अपभ्रंश प्रबन्धो में चार छन्द ऐसे खोज निकाले हैं जिनके रूपान्तर रासो में प्राप्य है। इससे सिद्ध किया जाता है कि रासो का मूल रूप चाहे जितना छोटा हो परन्तु वह १३ वीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान होगा।

ऊपर दोनों पक्षों के दिए गए प्रमाण से ता हम इसी निश्चय पर पहुँच सकते हैं कि रासो यद्यपि पूर्ण रूप से सदिग्ध नही तो भी पूर्ण रूप से प्रमाणिक भी नहीं। 'रासो' की सत्ता प्राचीन अवश्य है, परन्तु उसका वर्तमान रूप बाद का ही है।

पृथ्वीराज रासो की भाषा:—डा० श्यामसुन्दरदास जी ने 'रासो' की भाषा को प्राचीन काल की साहित्यिक पिंगल माना है। अन्य विद्वान इसकी भाषा प्राचीन राजस्थानी या डिंगल मानते हैं। साधारणतया भाषा सर्वथा अव्ययस्थित तथा वेठिकाने की है। व्याकरण के नियमो की स्थान स्थान पर अवहेलना की गई है। अनेक स्थानों पर तो भाषा आधुनिक समय की ही प्रतीत होती है, कहीं कहीं प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों की बहुतायत होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई सोलहवीं सदी का कवि अपभ्रश की शैली का अनुसरण कर रहा हो। 'रासो' की भाषा को हम व्रज भाषा मिश्रित राजस्थानी कह सकते हैं ! चद की भाषा में माधुर्य की अपेक्षा ओज का ही प्रधान्य है।

'पृथ्वीराज रासो' वीरगाथा काल की प्रतिनिधि रचना है, तत्कालीन

---

[1] हिन्दी नवरत्न पृष्ठ ३२८

समाज और परिस्थितियों का जितना स्पष्ट रूप हम रासो में देखते हैं उतना अन्यत्र नहीं। लाक्षणिक दृष्टि से महाकाव्य के सम्पूर्ण गुण रासो में प्राप्य हैं, कथानक की विविधता इत्यादि से रासो को सब प्रकार से पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। वीररस की जैसी सुन्दर अभिव्यक्ति 'रासो' में हो पाई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। जहाँ कहीं कवि ने हृदय की कोमल भावनाओं का वर्णन किया है, वहाँ भी कवि ने अपने उत्कृष्ट वर्णन द्वारा अपनी काव्य कुशलता का परिचय दिया है। साहित्यिक लक्षण और मापदण्ड के अनुसार 'रासो' की गणना हिन्दी के उत्कृष्ट काव्यों में की जा सकती है।

'रासो' के कुछ पद्य देखिए :—

कवित्त

पवन रूप परचण्ड, घालि असु असिवर झारै।
मार मार सुर वज्जि, पत्त तक अरि सिर पारै॥
फटकि रुद्द फेफरा, हड्डु कंकर उष्षारै।
कटि भसुण्ड परि मुण्ड भिड कण्टक उप्पारै॥
बज्जयो विषम मेवारपति रज उड़ाइ सुरतान दल।
समरथ्थ समर सम्भर मिलिय, अनी मुष्ष पिष्षो सबल॥

× × × ×

मनहु कला ससमान कला सोलह सो बिन्नय।
बाल वैस ससि ता- समीप अम्रित रस पिन्नय॥
विगसी कमल सिग, भमर, बेनु, खंजन, मृग कहियं।
हीर, कीर और किंव मोति, नषसिष अहिघुट्टिय॥

× × × ×

गहि तेग चहुवान हिन्दवानं, रानं,
गज गूथ परि कोप केहरि समानं॥
करे रुण्ड मुण्ड करि कुम्भ फारे,
बर सूर समन्त हुकि गर्ज भारे॥
करी चीह चिक्कार करिकलय भागे,
मन्द तज्जिय लाज ऊमग्ग आगे॥

दौरे गज अन्ध चहुआन केरो,
कुरीयं गिरद्दं चिहो चक्क फेरो ॥
गिरद्दंउड़ी भान अन्धार रैन,
गई सूधि सुज्झै नहीं मज्झि नैन ॥
सिरंवाय कामा प्रथिराज राज,
पकरिये साहि जिमि कुलिङ्ग बाज ॥
लै चल्यौ सिताबी करी फारि फौज,
परे भीर से पञ्च वंह खेल चौज ॥
रजपुत्त पच्चास जुज्झे अमोरं,
बजै जीत के नद्द नीसान घोरं ॥

× × × ×

भुजङ्गी

छुटी अंवि पट्टी मनो उग्गि सूरं । गिरे काइरं सूर बद्धे सनूरं ॥
लियं हथ्थ करिवार भंजै कपारं । पियैं जोगनी पत्र-कीयैं डकारं ॥
बहै अच्छरी हथ्थ अनेक सथ्थं । करं सूर साहालियै याल्लिवथ्थं ॥
करैं कज्ज साईं समघे सुघट्ट । लियं कन्ह गोरी, तनं भारि थट्टं ॥

जगन्कि (जगनायक) :—द्वारा लिखित आल्ह खण्ड हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में बहुत प्रसिद्ध है। जगनिक कालिंजर के राजा परिमाल (परिमर्दिदेव) के यहाँ दरबारी था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जगनिक चन्द का समकालीन था, और जहाँ चन्द ने अपने आश्रय-दाता पृथ्वीराज का गुण गायन किया वहाँ जगनिक ने उस समय के दो प्रसिद्ध वीरों—आल्ह तथा ऊदल—की कथा का मार्मिक वर्णन किया है।

परमाल पृथ्वीराज का प्रतिद्वन्द्वी था, और कन्नौज नरेश जयचन्द का घनिष्ट मित्र था। परमाल का समय सं० १२२२ वि० माना जाता है। परमाल द्वारा लिखाए गए शिला लेख भी उपरोक्त समय का ही समर्थन करते है। आल्ह ऊदल परमाल के सामन्तों और सेनापतियों में से थे। इन्हीं की सहायता से परमाल ने अनेक वार पृथ्वीराज को पराजित किया था। आल्ह-ऊदल तथा उनके भाई उस समय के आदर्श वीर थे, और उनकी धाक कन्नौज जैसे विस्तृत

राज्यों के शासक पर भी थी। कवि ने इन्हीं के चरित का 'आल्ह खण्ड' में सुन्दर ढग से वर्णन किया है। 'आल्ह खण्ड' में अनेकों युद्धों का वर्णन है, इन युद्धों की भयंकरता का बड़ा आकर्षक वर्णन है। यद्यपि यह वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण है। साधारण जनता के लिए इसमें बहुत आकर्षण है। कथा का प्रवाह अत्यन्त सुन्दर और चित्ताकर्षक है। 'आल्ह खण्ड' गेय है, और प्रारम्भ से ही यह वीरगीत के रूप में ग्रामीणों में गाया जाता रहा है। अब भी इसके गाने वाले 'अल्हैत' भिन्न भिन्न प्रदेशों में मिल जाएँगे। गोस्वामी तुलसीदास जी के रामचरित मानस को छोड़ कर हिन्दी संसार में जितना 'आल्ह खण्ड' का प्रचार है, उतना अन्य किसी काव्य का नहीं। इसकी लोकप्रियता और ओजस्वी शैली से ही आकर्षित हो वाटरफील्ड ने इसके कुछ अंशो का अनुवाद किया था।

चार्ल्स इलियट ने इसे लिपिबद्ध करवाया था, इससे पूर्व यह मौखिक रूप से जनता मे प्रचलित चला आरहा था। इसी कारण यह अब अपने प्राचीन रूप मे प्राप्त नहीं। इसकी भाषा आधुनिक समय की प्रतीत होती है, और इसमें अनेक प्रक्षिप्त अंश भी जोड़ दिए गए है, जिस में कि ग्रन्थ का मूल रूप छिप गया है। यद्यपि साहित्यिक और भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण से इसका कोई विशेष मूल्य नहीं, तथापि यह एक वीर रस का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थ है। नीचे कुछ पद्य उदाहरण स्वरूप दिये जाते हैं—

अगहन मास सुदी एकादशि। सत्ती भई विलमदे रानी।
चिता समीप गई जब बेला। पति की लाश लई मँगवाय॥
लाश धराई तुरत चिता पर। अपने कीन्हे सर्व सिंगार।
करि पैकरमा जबही बैठी। पृथ्वीराज तब कही पुकार॥
होवे जो कोऊ चन्द्रवंश मे। आगि सर में देउँ लगाय।
जाति बनाफर ओछी है। सो न जाँय चिता के पास॥
आगे बढ़ि तब ऊदलि बोले। तुम सुन लेउ वीर चौहान।
हुक्म दियो हमको बेला ने। की तुम आगी देउ लगाय॥
कोटि उपाय करो चाहे तुम। आगी हमहीं दिहैं लगाय।
गुस्सा ह्वैकै पृथ्वीराज तब। तुरतै हुक्म दियो करवाय॥

वत्ती दै देउ सब तोपन में। इन षाजिन को देउ उड़ाय।
झुके खलासी तब तोपन पर। तुरतें बत्ती दई लगाय॥

पृथ्वीराज के समकालीन जयचन्द के दरबार में कुछ कवि थे जिन्होंने जयचन्द की प्रशसा में एक दो काव्य ग्रन्थों की रचना की है। इन कवियों के नाम भट्ट केदार और मधुकर कवि थे। जिस प्रकार चन्द ने पृथ्वीराज की प्रशंसा में पृथ्वीराज रासो की रचना की है, उसी प्रकार भट्ट केदार ने 'जयचन्द प्रकाश' नामक महाकाव्य तथा मधुकर कवि ने 'जय-मयंक-जस-चन्द्रिका' की रचना की थी। परन्तु उपरोक्त दोनों ग्रन्थ अप्राप्य हैं। वल्लसिंह भट्ट का विजय-पाल रासो भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें करौली के राजा विजयपाल के युद्ध का वर्णन है और यह ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्रमाणिक माना जाता है।

मुसलमानों के शासन के स्थापित होने के अनन्तर वीर-गाथाओं की परम्परा क्षीण हो गई यद्यपि पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हुई। चारण कवियों की गर्जना जारी रही, परन्तु उनकी प्रमुखता समाप्त हो गई।

वीरगाथाओं की परम्परा को समाप्त करने से पूर्व हमें पीछे बार-बार प्रयुक्त दो शब्दों पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए।

डिंगल

वीरगाथाओं की भाषा डिंगल कहलाती है। यह डिंगल राजस्थान की जनभाषा 'राजस्थानी' का साहित्यिक रूप है और पिंगल की अपेक्षा अधिक प्राचीन मानी गई है। इसकी उत्पत्ति अपभ्रंश से मानी जाती है। इसके नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। टेसीटरी ने डिंगल शब्द का अर्थ अनियमित (Irregular) अथवा असंस्कृत—गंवारु—माना है। क्योंकि व्रजभाषा (पिंगल) सुसंस्कृत थी और साहित्य शास्त्र के नियमों का अनुकरण करती थी। परन्तु डिंगल इस विषय में सर्वथा स्वतंत्र थी। इसलिए उनके मतानुसार इसका यह नाम पड़ा।[१] डा० हर प्रसाद शास्त्री का मत है कि "प्रारम्भ में इस भाषा का नाम 'डंगल' था परन्तु पश्चात् में 'पिंगल' शब्द

---

[१] Journal of the Asiatic Society of Bengal. Vol. X, No 10, p. 376

के साथ तुक मिलाने के लिए उसका नाम 'डिंगल' कर दिया गया।"[1] परन्तु अभी तो यह भी विवाद ग्रस्त ही है कि ब्रज भाषा का नाम पिंगल कैसे पड़ा?

डिंगल की कविता ब्रजभाषा से प्राचीन है, ऐसी स्थिति में उसका नामकरण ब्रजभाषा की कविता के अनुकरण पर कैसे पड़ने लगा। कुछ विद्वान 'डिंगल' शब्द की उत्पत्ति डमरू की ध्वनि डिम या डम से बतलाते हैं। डमरू की ध्वनि रणचण्डी का आह्वान करती है, और वीरों का उत्साहवर्द्धन करने वाली होती है। डिंगल भाषा में उत्साहवर्द्धक कविता का प्रधान्य है इसलिए यह डिंगल पुकारी जाती है। राजस्थानी साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री मोती लाल मनोरिया ने 'डिंगल' शब्द की उत्पत्ति 'डींग' शब्द से बतलाई है।[2] क्योंकि 'डिंगल' में चारणों द्वारा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किए गए हैं (अर्थात् डींग हाँकी गई है) अतः यह भाषा जबता या डींगल (डींग से युक्त) कहलाई जिसका वर्त्तमान रूप डिंगल बन गया है।

'डिंगल' शब्द की उत्पत्ति चाहे किसी शब्द से हुई हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि 'डिंगल' साहित्यिक राजस्थानी का नाम है, और चारण कवियों ने अपने काव्यों का माध्यम इसे ही बनाया है।

रासो

डिंगल भाषा में लिखे गए प्रबन्ध काव्यों को रासो कहा जाता है। रासो शब्द की उत्पत्ति के विषय में भी विद्वानो में गहरा मतभेद है। तासी ने 'रासो' शब्द की उत्पत्ति 'राजसूय' से मानी है, जबकि कुछ विद्वान् इसकी उत्पत्ति 'रास्य' से मानते हैं। आचार्य शुल्क का मत है कि 'रासो' शब्द की उप्पत्ति 'रसायन' से हुई है। 'वीसलदेव रासो' में रसायन शब्द काव्य के अर्थ में बार बार प्रयुक्त हुआ है, अतः 'रसायण' शब्द ही कालान्तर में रासो बन गया है। परन्तु उपरोक्त मत कल्पना के आधार पर ही आश्रित हैं, अतः निश्चित् रूप से कुछ भी कहना अंत्यन्त कठिन है। जैन साहित्य में रासा चरित काव्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है, इन ग्रंथों में रासा छन्द का प्रयोग

---

1. Preliminary Report on the Operation in Search of Mss. of Bardic Chronicles p. 15

2. डिंगल में 'वीर रस' पृ० ८

हुआ है। अतएव यह भी अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः वीर-गाथा कालीन 'रासो' का सम्बंध जैन-साहित्य के 'रासा' से हो।

विविध प्रवृत्तियाँ

प्रत्येक काल में विभिन्न प्रवृत्तियो पर लिखने वाले कवियो की सत्ता स्वाभाविक ही है। वीरगाथा-काल में जहाँ चारण कवि वीर रस पूर्ण रचनाएँ कर रहे थे, वहाँ विद्यापति और खुसरो आदि कवि वीर रस से विभिन्न प्रवृत्तियो को अपना रहे थे। वे काल विशेष से स्वतंत्र हो अपने पथ का निर्माण स्वयं करते हैं। ऐसे ही स्वतंत्र पथ को अपनाने वाले कवियों का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

वीरगाथा कालीन साहित्य के लिए जो भाषा अपनायी गयी थी वह उस समय की बोलचाल की भाषा नहीं थी। वह प्राकृत की रुढ़ियो से बँधी हुई ऐसी प्राचीन साहित्यिक भाषा थी कि जिसमें कवि-लोग कविता करने में गौरव अनुभव करते थे। बोलचाल की भाषा का स्वतत्र विकास जारी था, कुछ कवियों ने अपने काव्य सर्जन के लिए इसको भी अपनाया है। बोलचाल की इस भाषा के पश्चिमी रूप को हम खुसरो की रचनाओं में देखते है और पूर्वी स्वरुप का दर्शन विद्यापति की रचनाओं मे होता है।

खुसरोः—खड़ी बोली के आदि कवि कहे जा सकते हैं और इनके द्वारा खड़ी बोली में रचित मसनवियाँ, मुकरियाँ, तथा पहेलियाँ आदि खड़ी बोली की प्राथमिक रचनाएँ कहला सकती हैं।

खुसरोका वास्तविक नाम अबुलहसन था, इनका जन्म सम्वत्-१३१० वि० में हुआ और मृत्यु सम्वत् १३८२ में हुई। इनका सम्बन्ध दिल्ली के राज दरबार से था, जहाँ इनकी बहुत प्रतिष्ठा थी। खुसरो ने अपने जीवन में "अपनी आँखों से गुलाम वश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान और पतन तथा तुग़लक वश का प्रारम्भ देखा था। इन के जीवन-काल में दिल्ली के तख्त पर ११ सुल्तान बैठे थे जिनमें से ७ की इन्होंने सेवा की थीं।" यह अरबी तथा फ़ारसी के उत्कृष्ट कोटि के कवि माने जाते हैं। इन्होंने कविता की ९९ पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें शेरों की संख्या कई लाख तक पहुँच जाती है। खुसरों ने अपनी कविता में शृंगार, वीर, शात और भक्ति रस को अपनाया है,

तथा इन सब के वर्णन में बडी कुशलता प्रदर्षित की है। चित्त की सूक्ष्म-प्रवृतियों और आदेशों तथा युद्ध के दृश्यो का वर्णन इन्होंने बहुत सुन्दर किया है। खुसरो व्यक्तिगत रूप से अत्यन्त उदार और मिलनसार थे, इन के धार्मिक विचार भी अत्यन्त उदार थे। ये गायन विद्या में भी अत्यन्त निपुण थे।

जिस समय चारण कवि अपने अपने आश्रय-दाताओं के यशोगान में संलग्न थे, उस समय खुसरो ने पहेलियो तथा मुकरियों के रूप में मनोरंजक साहित्य की रचना की। खुसरो मुसलमानी बादशाहों के आश्रय में रहे थे इस लिए उनकी रचनाओं में भारत में आकर बसे हुए मुसलमानों की चित्त् वृत्तियों के विकास का स्पष्ट वर्णन है। हम उनकी रचनाओं से तत्कालीन मुसलिम दरबारों के वातावरण से भी परिचित हो सकते हैं।

खुसरो यद्यपि फारसी के उत्कृष्ट कवि थे, फिर भी उन्होंने खड़ी बोली में रचना की और उसे बड़े सम्मान से अपनाया। उन्होंने मुसलमान शासक वर्ग को देश भाषा से परिचित कराने के लिये एक पद्यात्मक कोष भी लिखा था। इधर उन्होंने अपनी कुछ रचनाओं में खडी बोली-तथा फारसी का सम्मिश्रण कर भाषा सम्बंधी हिन्दु मुस्लिम एकता का सर्व प्रथम प्रयत्न किया। खुसरो की रचनाओं में हम दो प्रकार की भाषा का प्रयोग पाते हैं-। पहेलियों, मुकरियों तथा दो-सखुनों में ब्रजभाषा से प्रभावित ठेठ खड़ी बोली का प्रयोग किया गया है, जबकि गीतो और दोहों में शुद्ध ब्रजभाषा का। खुसरों की कविता से यह स्पष्ट हो जाता है कि खड़ी बोली उर्दू से फारसी शब्दों को पृथक् करके नहीं बनी, अपितु खड़ी बोली में ही अरबी तथा फारसी के शब्दो को भर कर उर्दू का निर्माण हुआ है।

खुसरो को हुए आज लगभग ६०० वर्ष हो चुके हैं, और उसकी कविता परम्परा से मौखिक रूप में ही चली आ रही है। जब लेखबद्ध पुस्तकों में पाठान्तर पाए जाते हैं तो मौखिक रूप से चली आ-रही कविताओं का तो क्या कहना? इन में प्रक्षित अंशों का होना अनिवार्य है। खुसरो की कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं :—

पहेलियाँ—

श्याम वरण और दान्त अनेक लचकत जैसे नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे और कहे तू आ री॥
(आरी)

सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरू का चेला है।
भर भर झोली घर को धावें, उसका नाम पहेला है।
(भुट्टा)

आवे तो अन्धेरी लावे। जावे तो सब सुख ले जावे॥
क्या जानूँ वह कैसा है। जैसा देखो वैसा है।
(आंखें)

एक थाल मोती से भरा। सबके सिर पर औंधा धरा॥
चारों ओर वह थाल फिरै। मोती उससे एक न गिरै।
(आकाश)

मुकरी—

नित मेरे घर आवत है। रात गए फिर जावत है।
फँसत अमावस गोरि के फन्दा। ऐ सखि साजन ना सखि चंदा॥
चढ़ छाती मोको लचकावत। धोय हाथ मोपर चढ़ि आवत।
सरम लगत देखत सब नारी। ऐ सखि साजन ना सखि गगरी॥

दो-सखुने— ककड़ी क्यों छोटी?
लकड़ी क्यों टूटी?
बोदी थी।

गीत तथा दोहे—

मोरा जोवना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे वार दीनी बकस मोरी माल॥
सूनी सेज डरावन लागै, विरहा अगिन मोई डस डस जाय॥
खुसरौ रैन सुहाग की, जागी पी के सङ्ग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए इक रङ्ग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

हिन्दी फारसी का मेल—

चु शमअ सोजाँ चु ज़र्रः हैराँ हमेशा गिरियाँ व इश्के आँ मेह।
न नींद नैना न अंग चैना, न आप आवैं न भेजें पतियाँ॥
वहक़्क रोज़े वसाल दिलवर कि दाद मारा फरेब खुसरू।
स पीत मन की दुराय राखूँ जो जाने पाऊँ पिया की छतियाँ॥

विद्यापपि:—मैथिल कोकिल कहलाते हैं, और इन्हें अभिनव जयदेव भी कहा जाता है। विद्यापति द्वारा लिखित दो अपभ्रंश ग्रंथों का परिचय तो पीछे दिया जा चुका है, अब यहाँ उनकी पदावली का, जिसके कारण यह मैथिल कोकिल प्रसिद्ध है—संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

विद्यापति का जन्म लगभग १४१७ में बिहार में दरभंगा जिला के अन्तर्गत 'बिसपी' नामक गाँव में हुआ था। इन्होंने अपने जीवनकाल में गणेश्वर राय, कीर्तिसिंह, देवसिंह, शिवसिंह, पद्मसिंह तथा धीरजसिंह का राज्यकाल देखा था। तरुणावस्था में ही विद्यापति अपनी माधुर्यपूर्ण कविताओं के लिये प्रसिद्ध हो चुके थे, अपनी प्रसिद्धी के कारण कवि ने अभिमान पूर्वक लिखा था।

बालचन्द विज्जावइ भाषा। दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा॥
ओ परमेश्वर हर सिर सोहइ। निश्चय नायर मन मोहइ॥

संस्कृत कवि जयदेव के सदृश इन्हें भी अपनी भाषा पर अभिमान था, और यह अभिमान स्वाभाविक भी था। क्योंकि भाषा की मिठास और कोमलता की दृष्टि से उनकी कोई भी कवि समानता नहीं कर सकता। विद्यापति ने युवास्था में कीर्तिसिंह की प्रशसा में 'कीर्तिलता' नामक अपभ्र श काव्य की रचना की थी। कवि ने अपभ्रंश के अतिरिक्त संस्कृत तथा हिन्दी में भी काव्य रचना की है। निश्चय ही विद्यापति ने संस्कृत साहित्य का बड़ा विस्तृत और पूर्ण अनुशीलन किया था। यही कारण है कि इनकी संस्कृत रचनाएँ बहुत सुन्दर बन पड़ी है। विद्यापति की हिन्दी रचनाएँ मैथिली हिन्दी में लिखी गई हैं, ये रचनाएँ अत्यन्त मधुर और सरस है। इनका वर्ण्य विषय राधाकृष्ण हैं। इनकी कविताओं में श्रृंगार रस की प्रधानता है और इसी कारण यह श्रृंगार रस के कवि कहे जा सकते हैं। कुछ विद्वानों ने विद्यापति

को भक्त कवि मानते हुए इनकी रचनाओं को भक्ति काल में रखा है। परन्तु इनकी रचना का अध्ययन यह स्पष्ट कर देगा कि यह भक्ति कवि न होकर श्रृंगार रस के ही कवि थे। यह ठीक है कि इन्होंने वृद्धावस्था में कुछ वैराग्यपूर्ण रचनाएँ कीं, परन्तु यह रचनाएँ वैसी हैं जैसी कविवर विहारी की भक्ति-पूर्ण रचनाएँ।

यह शैव थे; और राधाकृष्ण को तो केवल इन्होंने अपने श्रृंगार रस पूर्ण कविताओं का नायक बनाया है, क्योंकि लगभग सभी भारतीय कवियों ने इसी युगल मूर्त्ति को लक्ष्य कर श्रृंगार रस पूर्ण रचनाओं की सृष्टि की है। अतः श्रृंगार रस के वर्णन में विद्यापति को भी इन्हीं का आश्रय लेना पड़ा। विद्यापति ने राधाकृष्ण के संयोग श्रृंगार का ही अधिक वर्णन किया है, और अनेक स्थानों पर अश्लील भी हो गया है। यद्यपि कृष्ण-भक्त इसे ऐसा नहीं स्वीकार करते।

विद्यापति की पदावली की मधुरता और सरसता तो सभी स्वीकार करते हैं। ऐसा सुना जाता है कि बंगाल में जिस समय चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हुआ तो उस समय बंगाल में विद्यापति की कविता का बहुत प्रचार था। चैतन्य महाप्रभु ने भी इस सरस पदावली को सुना और मुग्ध हो इनके गीतों को गाने लगे। अनेक बार महाप्रभु इन्हीं अलौकिक रस-पूर्ण गीतों को गाते गाते मूर्छित हो जाते थे। बंगाल में विद्यापति के पदों का प्रचार बढ़ा और इन्हीं के अनुकरण पर अनेक बंगाली कवियों ने पद रचना प्रारम्भ की।

बंगाली लोग इनकी भाषा को बंगला के अन्तर्गत मानते हैं तो इधर हिन्दी भाषा भाषी इनके पदों को हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग सिद्ध करते हैं। विहारी होने के कारण इनकी कविता पर बंगला का प्रभाव अवश्य है, परन्तु शब्द भण्डार अधिक हिन्दी का ही है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी विहारी हिन्दी के अन्तर्गत ही मानी जाती है। इनकी सरस पदावली के कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं—

> नन्दक नन्दन कदम्बक तरु-तर, धिरे धिरे मुरली बजाय।
> समय संकेत-निकेतन बइसल बेरि बेरि बोलि पठाव।।
> सामरि, तोरा लागी अनुखन विकल मुरारि।

जमुना कनिर उपवन उद्वेगल फिरि फिरि ततहि निहारिन।
गोरस बंचत अब इत जाइत जनि जनि पुछ बन मारि॥
तोहे मतिमान सुमति, मधुसूदन वचन पुनह किधु मोरा।
भनइ विद्यापति पुन बर जौवति बन्दइ नन्द किसोरा॥

× × × ×

सरस बसंत समय जल पावलि, दछिन पवन बह धीरे।
सपनहु रूप वचन इक भाषिय, मुख से दूरि करु चीरे॥
तोहर बदन सम चांद हो अधि नाहिं, कैयो जतन विह केला।
कै बेरि काटि बनावल भव कै, तैयो तुलित नहि भेला॥
लोचन तूअ कमल नहि भै सक, से जग के नहि जावे।
से फिर जाइ लुकैलन्द जल भएँ, पंकज निज अपमानें॥
भन विद्यापति सुन बर जौवित ई सम लछमि सकाने।
राजा 'शिवसिंह' रूप नरायन 'लखिमा देइ' प्रतिभाने॥

पूर्व मध्य युग

(भक्तिकाल सं० १३७५-१७००)

राजनैतिक स्थिति

हिन्दी का आदिकाल राजनैतिक दृष्टि से घोर अशान्ति का युग था, परन्तु इधर सम्वत् १३७५ तक राजनैतिक स्थिति में काफी परिवर्तन हो चुके थे, और प्रारम्भकालीन तूफान की सी व्यग्रता समाप्त हो चुकी थी। महाराज हम्मीरदेव की पराजय के साथ ही हिन्दुओं का भारतवर्ष से मुसलिम सत्ता के हटा देने के प्रयत्न का अन्त समझना चाहिए। यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से अभी हिन्दुओं की स्थिति काफी महत्त्वपूर्ण थी, और उन्होंने देश की राजनीति में परिवर्तन करने के भी काफी गम्भीर प्रयत्न किये; परन्तु वे प्रयत्न अनेक कारणों से असफल ही रहे। मुहम्मद गौरी के अनन्तर मुसलमानों की स्थिति भारत में काफी सुदृढ़ होती चली गई, और धीरे धीरे उनके पैर हिन्दुस्तान में जमते गए और देश की राजनैतिक सत्ता हिन्दुओं के हाथ से निकलकर विदेशी

शासकों के हाथ में चली गई। मुहम्मद गौरी के पश्चात् दिल्ली पर तीन विभिन्न मुसलमान राजघरानों का अधिकार रहा। ये गुलाम, खिलजी तथा तुगलक राजघराने थे। उत्तरी भारत का अधिकाश भाग मुसलमान शासकों की राजनैतिक अधीनता स्वीकार कर चुका था, यद्यपि राजपूताना तथा बुन्देलखण्ड में हिन्दु शासकों का शासन विद्यमान था। इस प्रकार उत्तरी भारत में अभी स्वदेशी शासकों का शासन पूर्ण रूप से लुप्त नहीं हो गया था। १६ वीं शताब्दी के अन्त में राणा संग्रामसिंह ने एक बार फिर भारत में हिन्दु शासन स्थापित करने के लिए लगभग सम्पूर्ण राजपूतों का संगठन कर लोदी वंश की डॉवाडोल स्थिति में दिल्ली पर अधिकार कर मुसलमानों की राजनैतिक सत्ता को समाप्त करने का प्रयत्न किया, परन्तु आगरा के निकट बाबर और राणा सागा के युद्ध में राणा की पराजय हुई, और देश की राजनैतिक सत्ता मुगलों के हाथ में चली गई। पानीपत में इब्राहीम लोदी की पराजय के अनन्तर और आगरा में राणा सागा के हारने के पश्चात् देश की राजनैतिक स्थिति सर्वथा बदल गई और मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई जो लगभग १८५० तक जारी रहा।

मुहम्मद गौरी के अनन्तर उपरोक्त तीन राजवशों का भारतवर्ष पर शताब्दियों तक राज्य रहा, और भारत का काफी विस्तृत भू भाग उनके शासनाधिकार में था, परन्तु वे किसी भी सुव्यवस्थित केन्द्रीय शासन व्यवस्था का निर्माण न कर सके। स्थान स्थान पर स्वतन्त्र मुसलिम या हिन्दु राज्यो का उदय एक साधारण सी बात थी। इन्हें अधीन करने के लिए भी दिल्ली के सुल्तानों को पर्याप्त शक्ति का प्रयोग करना पड़ता था। साधारणतया मुसलमान शासक दूर दूर स्थित हिन्दु राजाओं से कर लेकर ही सन्तुष्ट हो रहते थे। मुगल शासन की स्थापना के अनन्तर देश में केन्द्रीय शासन व्यवस्था स्थापित हुई और देश की राजनीति में स्थिरता आई।

यद्यपि देश में विदेशी शासकों की राज्य व्यवस्था चल रही थी, और देश एक नवीन अनुभव में से गुजर रहा था, परन्तु देश की ग्रामीण जनता इन सब परिवर्तनों से सर्वथा विलग थी, उस पर किसी प्रकार का भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। ग्रामीण जनता तो कर देकर निश्चिन्त रहती थी, ग्रामों में

शताब्दियों से पंचायत व्यवस्था चली आ रही थी, ग्रामीण पंच सब प्रकार के झगड़ो का फैसला कर देते थे, ऐसी स्थिति में उनकी शान्ति इन परिवर्तनों से भग नहीं हो पाती थी। परन्तु शासन व्यवस्था के अव्यवस्थित होने के कारण उनकी सुख समृद्धि में अन्तर पड़ना स्वाभाविक ही था। मुग़ल शासन की सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था के स्थापन के अनन्तर देश ने युद्धों से छुटकारा पा चैन की सास ली, और जनता की सुख समृद्धि में वृद्धि हुई।

सामाजिक स्थिति

सामाजिक दृष्टि से भी भारतीय समाज में काफी परिवर्तन हो रहे थे। हिन्दुओं में व्यवसाय तथा स्थान की दृष्टि से तो अनेक उपजातियो का जन्म पहिले ही हो चुका था परन्तु इस काल के प्रारम्भ होते होते बिरादरी की संस्था भी पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी। इन उपजातियों के अनेक प्रकार के लाभ और हानियाँ बताई जाती है। इस प्रथा के समर्थकों का कहना है कि यदि हिन्दुओं मे उपजाति व्यवस्था स्थापित न होती तो निश्चय ही हिन्दू सस्कृति विदेशी शासनकाल में किसी प्रकार भी जीवित न रह सकती। क्योंकि विदेशी शासक हमारी संस्कृति से अनभिज्ञ थे, और उन्हीं के हाथ में राजनैतिक शक्ति केन्द्रित हो चुकी थी। बिरादरी व्यवस्था द्वारा उन्होंने विदेशी शासकों और सामाजिक व्यवस्थाओं से एक प्रकार का असहयोग किया, इस असहयोग का ध्येय अपनी सस्कृति की रक्षा ही था जिसमें उन्हें काफी सफलता प्राप्त हुई।

बिरादरी की संस्था के विकास के कारण विवाह आदि की समस्या अत्यन्त जटिल हो गई। मुसलमानों की देखा देखी पर्दे की प्रथा हिन्दुओं में भी चल पड़ी।

हिन्दु तथा मुसलमान दोनों में ही अनेक प्रकार के अन्धविश्वास घुस चुके थे, और उनका नैतिक दृष्टि से काफी पतन हो चुका था। मदिरा पान की प्रथा से हिन्दु तथा मुसलमान दोनों ही विलासी हो गए। साधारणतया मुसलमान इस देश में विजेता के रूप में थे, अतः वे हिन्दुओं को घृणा तथा तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे। हिन्दुओं की धार्मिक स्वतन्त्रता पर भी जजिया आदि करों के द्वारा अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए जा चुके थे। राजकीय मामलों में भी उनकी अधिक पूछ थी। हिन्दु जनता धर्म परिवर्तन कर

मुसलमान हो चुकी थी, परन्तु वे मुसलमानी संस्कृति को एक दम न अपना उन्होंने अपनी पुरानी विरासत में प्राप्त संस्कृति को अपनाए रखा। इस प्रकार भारत में मुसलिम समाज में भी संस्कृति की दृष्टि के दो दल हो गए एक तो विदेशी मुसलमान दूसरे स्थानीय मुसलमान। धीरे-धीरे इनमें परस्पर आदान प्रदान प्रारम्भ हुआ, और इधर मुग़ल शासन के आरम्भ होने पर तत्कालीन शासकों ने देश के सांस्कृतिक सम्मिश्रण पर विशेष ध्यान दिया, परिणाम स्वरूप हिन्दुओं के तथा मुसलमानों के मेल-जोल बढ़ने से एक नवीन —इरानी भारतीय—संस्कृति का जन्म हुआ।

इस प्रकार भक्तियुग के प्रारम्भ के समय भारत की सामाजिक स्थिति संक्षेप से इस प्रकार थी।

१—हिन्दु समाज में अनेक जातियों तथा उपजातियों के उत्पन्न होने के पश्चात् बिरादरी की संस्था स्थापित हो चुकी थी। इस संस्था का लाभ—

(अ) हिन्दु संस्कृति की रक्षा, विदेशी व्यवस्थाओं के असहयोग द्वारा।

हानियाँ—

(ब) सामाजिक शक्ति का विभिन्न जातियों में विभक्त हो कमजोर होना, और राजकीय शक्ति के पतन का कारण बनना।

(स) सामाजिक समस्याओं का जटिल होना; विवाह आदि प्रथाओं में उलझनों की उपज।

२—मुसलमानों की देखा-देखी पर्दे की प्रथा का हिन्दुओं में प्रवेश।

३—हिन्दुओं तथा मुसलमानों मे अन्ध-विश्वासों का प्रवेश।

४—विलासता की अधिकता।

५—हिन्दुओं की धार्मिक स्वतन्त्रता का अपहरण और उनका नैतिक दृष्टि से पतन।

६—कुछ हिन्दु जनता के धर्म परिवर्तन से मुसलिम समाज का दो दलों में विभाजन—विदेशी मुसलमान तथा स्थानीय मुसलमान।

७—मुगल शासनकाल में हिन्दुओं, विदेशी मुसलमानों तथा स्थानीय मुसलमानों के मेल-जोल से एक नवीन—इरानी भारतीय—संस्कृति का जन्म।

धार्मिक स्थिति

भक्ति काल में हिन्दी प्रदेश में ५ प्रमुख धार्मिक धाराएँ चल रही थीं :—

(१) अनेक उपधाराओं के रूप में विकसित भक्ति प्रधान वैष्णव धारा।

(२) निर्गुण मत की ज्ञानाश्रयी धारा।

(३) हठयोग की धारा।

(४) सूफी प्रेम मार्गी धारा।

(५) ईस्लाम की एकेश्वरवादी धारा।

इन विभिन्न धार्मिक धाराओं ने हिन्दी काव्य में किस प्रकार की प्रेरणा को प्रदान किया, और हिन्दी साहित्य की भक्ति युग की विभिन्न काव्य धाराओं को कहाँ तक प्रभावित किया, इत्यादि विषयों पर संक्षेप से नीचे विचार किया जायगा।

(१) भक्ति प्रधान वैष्णव धारा :—जब भारत में मुसलमानों का आगमन हुआ तो उस समय इस देश में चल रहे धार्मिक आन्दोलन दो वर्गों मे बँट चुके थे। एक वर्ग तो नीची जातियों का था और दूसरा ऊँची जातियों का। प्रथम वर्ग पर वज्रयानी सिद्धों और नाथ पन्थियों का विशेष प्रभाव था, और उन्होंने इस वर्ग को एक विशिष्ट आन्दोलन का रूप प्रदान किया। इस वर्ग पर मुसलमानों के धार्मिक और साधना सम्बन्धी विचारो का भी काफी प्रभाव पडा। हिन्दी साहित्य के सन्तो का साहित्य इसी धारा का प्रतिनिधित्व करता है।

ऊँची जातियों में वैष्णव धर्म का आन्दोलन चला, जोकि प्राचीन मर्यादाओं के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति से पूर्ण था। विगत शताब्दियों से भारतीय चिन्तन का विकास स्वाभाविक रूप से ही इस दिशा में हो रहा था। इस धारा का प्रचलन एकदम नहीं हुआ, और नहीं यह कोई नवीन धारा थी। प्राचीन विचार परम्परा का ही यह एक विकसित रूप है। वैष्णव धारा भक्तिकाल की सर्व प्रमुख धारा है। साहित्यिक क्षेत्र में इस धारा का बडा शुभ प्रभाव पड़ा, अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कवियो ने अपनी भक्तिपूर्ण वाणी से जनता को एक नवीन आशा और विश्वास का सन्देश दिया, उनकी चिर अतृप्त आत्मा को भक्तिरूपी अमृत से तृप्त किया।

वैष्णव धर्म का इतिहास बहुत प्राचीन है, शताब्दियों तक इसका विकास विभिन्न रूपों में होता रहा। इसका मूल सिद्धान्त भक्ति है, और भक्ति की भावनाओं का दर्शन तो हम ऋग्वेद में भी करते हैं। वेद में अनेक स्थानों पर परमात्मा को पिता, माता या पुत्र के सदृश प्रिय कहा गया है, इस प्रकार भक्ति की भावना अत्यन्त प्राचीन है। हमारे देश में तो ज्ञान और भक्ति की धाराएँ प्रागैतिहासिक काल से ही चली आ रही हैं। यह ठीक है कि वैदिक काल में मनुष्य के इहलोक तथा परलोक सम्बन्धी विचारों पर वाद-विवाद हो रहे थे, और इस विषय में अनेक प्रकार की धाराएँ स्थापित की जा रही थीं, परन्तु जनसाधारण का अतृप्त हृदय तो एक ऐसे सरस पथ का अनुसरण करना चाहता था जहाँ कि वह भक्तिरस के अमृत से अपने हृदय को तृप्त कर सके। इसी का परिणाम है कि वैदिक ऋषि भी अपनी भक्तिपूर्ण भावनाओं को स्थान स्थान पर व्यक्त करते हैं। परन्तु कुछ एक विद्वानों का मत है कि परमात्मा तथा जीवात्मा सम्बन्धी भक्ति की भावना द्राविड़ सभ्यता की देन है, यदि ऐतिहासिक दृष्टि से यह सत्य सिद्ध हो तो इसका अर्थ यह है कि भक्ति की भावना वैदिककाल से भी प्राचीन है।

भक्ति की यह भावना जनसमाज में स्वयं विकसित होती चली गई, ज्ञान-वाद भी स्वतन्त्र रूप से विकास पथ पर था। उपनिषदों में आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अनेक गूढ़ सिद्धान्तों पर विचार होता रहा परन्तु जन-साधारण की तृप्ति इन तार्किक विषयों पर वाद-विवाद से नहीं हो सकती थी। वे तो किसी ऐसे देव की खोज में थे, जो साकार हो, स्थूल हो, और व्यक्ति विशेष के रूप में हो। भक्तों की भावना इसी कल्पना से परिचालित थी, और अन्त में वासुदेव धर्म के उदय से उनकी भावना पूर्ण हो गई।

ईसा की पाँचवीं शताब्दी में भारत में धार्मिक सुधार की तीन मुख्य धाराओं का जन्म हुआ। पूर्व में यह सुधार की धारा जैन तथा बौद्ध धर्म से प्रवाहित हुई जबकि पश्चिम में इस धारा का आविर्भाव वासुदेव धर्म के रूप में हुआ। वासुदेव सुधार की धारा शेष दोनों धाराओं से प्राचीन थी। इस प्रकार यह धारा बौद्ध मत से प्राचीन है। वासुदेव धर्म में नारायण या वासुदेव की पूजा होती थी, यह विष्णु के अवतार माने जाते थे। अतः वैष्णव धर्म का

आदिस्वरूप वासुदेव धर्म था। यह प्रारम्भ में एकान्तिक मत कहलाता था। वासुदेव धर्म का मूल आधार श्रीमद्भगवद्गीता है।

वासुदेव धर्म ईश्वरवादी था जब कि शेष दोनो धर्म अनीश्वरवादी थे। परन्तु उत्तर भारत में प्रचलित कर्मकाण्ड तथा यज्ञ में पशुवलि के विरोध में तीनों सुधारवादी आन्दोलनों ने समान रूप से भाग लिया। अहिंसा की भावना की प्रतिष्ठा भी तीनों में समान रूप से ही थी।

प्रारम्भ काल में इसका राज धर्म के रूप में प्रतिष्ठापन नहीं हो पाया, जबकि बौद्ध मत शीघ्र ही राजधर्म के रूप मे अपना लिया गया, परिणाम-स्वरूप वह शीघ्र ही सम्पूर्ण भारत में फैल गया, और वासुदेव धर्म का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो गया।

पहले पहल यह एक सुधारवादी आन्दोलन था, और इनमें एक ही देव की पूजा का विधान था, परन्तु धीरे धीरे इसमें साम्प्रदायिक भावनाओ का प्रवेश हो गया और यह भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध होगया।

मेगस्थनीज़ के वर्णन से पता चलता है कि यह भागवत धर्म सात्वत नामक क्षत्रियो का धर्म था, जोकि मथुरा के आस पास रहते थे। भण्डार-कर ने वासुदेव को इसी जाति का ऐतिहासिक व्यक्ति माना है। वासुदेव धर्म अपने आपको प्रत्येक प्रकार से प्राचीनता से सम्बन्धित रखना चाहता था, और इसीलिये अपने मत के प्रतिष्ठापन मे इसने वेद तथा उपनिषद् का आधार लिया।

ईसा के कुछ समय पश्चात् आभीर नामक गोपाल जाति ने इसमे बाल-कृष्ण तथा गोपाल के आदर्श का समावेश किया। ऐसा माना जाता है कि यह जाति दक्षिण से आई थी, सम्भव है सौराष्ट्र से जहाँ कि बालकृष्ण का अनेक प्रेम कथाएँ और अद्भुत क्रीडाएँ प्रसिद्ध चली आ रही थीं। आठवीं शताब्दी तक भागवत धर्म इसी रूप में प्रचलित रहा। इस समय के दौरान मे वैष्णव धर्म को गुप्त-वंश के नृपतियो का आश्रय प्राप्त हुआ और इसका प्रचार पर्याप्त हो गया। परन्तु गुप्त-वंश के पतन के अनन्तर बौद्धमत का फिर उदय हुआ और सम्पूर्ण पश्चिमी भारत में उसी का बोलबाला होगया। इसी समय भागवत धर्म का दक्षिण मे प्रवेश हुआ जहाँ इसकी उन्नति हुई। आलवार

भक्तों ने अपनी भक्ति-पूर्ण कविताओं से वैष्णव साहित्य की जहाँ वृद्धि की वहाँ भागवत धर्म का प्रचार भी किया।

वैष्णव धर्म के द्वितीय उत्थानकाल के समय बौध मत के प्रमुख आश्रय सम्राट् हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी, और बौद्ध मत का पतन प्रारम्भ हो चुका था। बौद्ध धर्म राजाश्रय से हीन हो साधारण जनता के आकृष्ट करने के लिये अपने वास्तविक स्वरूप को छोड महायान के रूप मे अवतरित हुआ। इधर राजपूताना में शैव धर्म का विकास हो रहा था, जबकि दक्षिण में वेष्णव धर्म अपने पूर्णबल से प्रचलित था। शीघ्र ही वैष्णव धर्म उत्तर भारत में भी आ गया, और शैव मत को आत्मसात कर सम्पूर्ण पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी भारत में फैल गया।

इधर आठवीं शताब्दी में कुमारिल भट्ट के अनन्तर स्वामी शकराचार्य ने अपने तीव्र तर्कों से बोद्ध मत की भयावही भ्रान्ति को भगा पुनः वेदिक धर्म का प्रतिष्ठापन किया। शंकाराचार्य ने वेदों तथा उपनिषदों के आधार पर अद्वैतवाद प्रतिष्ठापन करते हुए ब्रह्म सत्य तथा जगत् मिथ्या का सिद्धान्त स्थापित किया। शंकर स्वामी भक्ति की महत्ता अनुभव करते थे, इसी कारण उन्होंने स्वयं भी कुछ भक्ति पूर्ण छन्दों की रचना की है। परन्तु वह साधारण जनता के लिए किसी ठोस आश्रय को न दे सके, उनके विचार तथा तर्क पण्डित जनों के लिए ही थे। उनका अद्वैतवाद तथा मायावाद से सम्बन्धित ज्ञान मार्ग साधारण जनता के लिए सुलभ न हो सका। शकर स्वामी के सिद्धान्तों से तृप्ति न हो सकने के कारण ही रामानुजाचार्य ने शकर के अद्वैतवाद और मायावाद का खण्डन कर भक्ति मार्ग की पुनः स्थापना की। रामानुज के मत का प्रचार दक्षिण तथा उत्तर भारत में समान रूप से हुआ। रामानुज ने शुष्क ज्ञान के स्थान पर भक्ति और निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण भगवान का व्यवस्थापन किया। इधर १२ वीं शताब्दी मे उत्तर में निम्बार्क ने रामानुज के मत का समर्थन करते हुए राधाकृष्ण की पूजा की विशेषता प्रदान की, जबकि रामानुज ने विष्णु तथा लक्ष्मी को अधिक महत्त्व प्रदान किया था। रामानुज द्वारा स्थापित श्री सम्प्रदाय के अनुयायी स्वामी रामानन्द ने उत्तर भारत में भागवत धर्म में राम की पूजा का विशेष रूप से

विधान किया। इन्होंने तथा इन के शिष्यों ने संस्कृत को छोड़ भाषा को अपने प्रचार का साधन बनाया। रामानन्द ने शूद्रों तथा स्त्रियों को भी भक्ति का अधिकार दे भागवत धर्म को जहाँ जन-साधारण के लिए सुलभ बना दिया वहाँ उसका क्षेत्र भी विस्तृत कर दिया। भागवत् धर्म में रामानन्द द्वारा किए गए यह परिवर्त्तन क्रान्तिकारी कहे जा सकते हैं। क्योंकि उनसे पहिले के आचार्यों ने भक्ति को केवल द्विजातियों तक ही सीमित रखा, और अपने भक्ति के स्वरूप को समझाने के लिए उन्होंने केवल संस्कृत का ही आश्रय लिया। इस प्रकार वे भक्ति की भवना को लोकव्यापक न बना सके परन्तु स्वामी रामानन्द ने परम्परा से चले आए इन सब बन्धनों को तोड़ प्राणि मात्र को भक्ति का अधिकारी बना दिया। इन्हीं के शिष्य कबीर ने ऐकेश्वरवाद का प्रचार किया और राम को केवल दाशरथि राम न रख सर्वव्यापी भगवान का रूप दे दिया। तुलसीदास ने राम की सगुणोपासना को विशेष महत्व दिया। मध्वाचार्य ने राधाकृष्ण की उपासना पर बल दे मधुर भाव की भक्ति का प्रतिष्ठापन तो कर दिया था, परन्तु इसका पूर्ण प्रचार तो वल्लभाचार्य द्वारा ही हुआ। यद्यपि महाप्रभु चैतन्य ने भी मधुर भाव की भक्ति का बहुत प्रचार किया, परन्तु उनका मुख्य कार्यक्षेत्र बंगाल ही था, अतः उनका प्रभाव भी वहीं अधिक पड़ा। हिन्दी काव्यक्षेत्र पर तो वल्लभाचार्य का ही प्रभाव पड़ा।

वल्लभाचार्य तैलग ब्राह्मण थे, विद्याध्ययन के अनन्तर ३० वर्ष की आयु में इन्होंने तीन बार भारत की यात्रा कर राधाकृष्ण सम्बन्धी मधुर भाव की भक्ति का सम्पूर्ण भारत में प्रचार किया। वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैतवादी थे। वे ब्रह्म तथा जीव में अन्तर नहीं मानते थे और न ही जड़ जगत् का ब्रह्म से भिन्न समझते थे। यह अन्तर माया के कारण है, माया का विनाश भक्ति द्वारा ही हो सकता है।

वल्लभाचार्य ने भागवत् धर्म में दो प्रकार की उपासना पद्धतियों का समावेश किया। एक तो माधुर्य भाव की उपसना पद्धति और दूसरी वात्सल्य भक्ति पूर्ण श्री कृष्ण की बाल लीलाओं का कीर्त्तन। वल्लभाचार्य की मधुर भाव की उपासना ने जहाँ भक्तों के हृदयों को मुग्ध कर दिया वहाँ शृंगार रस के प्रेमी कवियों के लिए राधाकृष्ण को अपनी शृंगार रस पूर्ण कविताओं

के लिए नायक बनाने का अवसर भी प्रदान किया। इधर मुग़लकालीन समृद्धि के कारण जनता में विलास की भावना बढ़ गई, धनी मानी तथा राजा लोग शृंगार रस की कविताओं में आनन्द लेने लगे, फलस्वरूप मधुर भाव की उपासना पद्धति का दुरुपयोग प्रारम्भ हुआ और रीति-कालीन कवियों ने अपनी कुत्सित भावनाओं को व्यक्त करने के लिए राधाकृष्ण का आश्रय लिया। इस प्रकार उच्चादर्शों के लिए अवहेलना होने लगी और पतित भावों के अधिक हो जाने के कारण इस महान आचार विचार में पतन प्रारम्भ हो गया।[1]

हिन्दी साहित्य में वैष्णव कवियों की दो प्रमुख शाखाएँ हैं (१) राम भक्ति शाखा, और (२) कृष्ण भक्ति शाखा। इन दोनो शाखाओ के कवियो ने भगवान राम और कृष्ण की उपासना में जो भक्तिपूर्ण रचनाएँ की हैं वे न केवल हिन्दी साहित्य के लिए अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के लिए अनुपम देन है। हिन्दी के वैष्णव कवि सचमुच ही हिन्दी साहित्य के अनुपम रत्न हैं।

निर्गुण मत की ज्ञानाश्रयी धारा तथा हठयोग की धारा

निर्गुण मत के प्रवर्त्तक कबीर दास कहे जा सकते हैं। वैसे कबीर से पूर्व ही एकेश्वरवाद की मान्यता हठयोगियों द्वारा हो चुकी थी और वे अपनी साधनात्मक पद्धति के साथ अपने निर्गुण ईश्वर का प्रचार भी करते थे। कबीर दास और उनका निर्गुण एकेश्वरवाद इस्लाम की देन नहीं है, यद्यपि प्रभावित अवश्य हो सकता है। पीछे हमने सहजयानी सिद्धों और नाथ पन्थी योगियो के विचार तथा साधना पद्धति का संक्षिप्त परिचय दिया है, यदि उनकी विचार धाराओं से कबीर और उन की निर्गुण मतवादियों की विचार धारा की तुलना की जाए तो हम बहुत कम अन्तर ही पा सकेंगे। पीछे हम यह प्रदर्शित कर चुके हैं कि किस प्रकार हठयोगियों और सहजयानी सिद्धों मे जाति-पाँति की प्रथा का खण्डन होता था और किस प्रकार उन्होंने वेद शास्त्रज्ञ पण्डितों का उपहास उड़ाते हुए वेद शास्त्र का पढ़ना व्यर्थ बतलाया। इन सब विचार सरणियों का कबीर आदि ज्ञानाश्रयी सन्तों पर स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है

[1] वैष्णव धर्म के विशेष ज्ञान के लिए भण्डारकर द्वारा लिखित 'Vaisnavism' नामक पुस्तक देखें।

जिसका वर्णन हम नीचे करेंगे।

यह ठीक है कि कबीर आदि सन्त कवियों ने हिन्दु तथा मुसलमान दोनो के लिए एक समान भक्ति मार्ग की स्थापना का प्रयत्न किया। परन्तु एतदर्थ सिद्धो और नाथ पन्थी योगियों द्वारा पहले ही मार्ग तयार किया जा चुका था।

कबीर निर्गुण राम के उपासक थे। इस निराकार राम की उपासना के लिए उन्हे वेदान्त का आश्रय लेना पडा। वैसे तो ज्ञान मार्ग तथा एकेश्वर-वाद भी भारतीय दर्शन के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं; परन्तु भक्ति की प्रधानता के कारण यहाँ सगुणोपासना का ही अधिक प्रचार और आदर हुआ। स्वय कबीर भी अपने निर्गुण मार्ग को शुद्ध ज्ञान मार्ग नही रख सके क्योकि वह भक्त थे, और भक्ति के लिए गुणों का आरोप आवश्यक ही हैं। यही कारण है कि अनेक स्थानों पर कबीर को भी अपने निर्गुण नाम में गुणों का आरोप करना पड़ा है। सिद्धो और नाथ पन्थी योगियो की तरह ही कबीर आदि सन्तों ने अन्तस्साधना पर जोर दिया है। बाह्य आडम्बर, तीर्थाटन, रोज़ा, नमाज, श्राद्ध आदि का उन्होंने तीव्र शब्दो में खण्डन किया है; परन्तु कबीर की अन्तस्साधना शुष्क नही थी, उसमें हृदय पक्ष का अभाव नही था, उसमे प्रेम तत्त्व था। यह प्रेम साधना निर्गुण पन्थ की प्रमुख विशेषता है। प्रेम का कबीर आदि सन्त कवियों ने बडा विशद वर्णन किया है, और प्रेमसाधना प्रभु प्राप्ति का प्रमुख साधन माना है।

भगवान् का प्रेम बहुत बडी चीज है। यह प्रेम 'खाला का घर' नहीं, इसके लिए तो वह अधिकारी है जो अपने आप का बलिदान करने को तैयार हो। तभी कबीर कहते हैं—

> कबीर यहु घर प्रेमका खाला का घर नाँहि।
> सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर माँहि॥

भगवत्प्रेम प्राप्ति के लिए बहुत साधना की आवश्यकता है। क्यांकि यह प्रेम खेतमे नही उपजता, हाट में नहीं बिकता, और फिर इसे प्राप्त भी सभी कर सकते हैं, परन्तु एक ही शर्त पर वह है आत्म बलिदान की—

> प्रेम न खेतो नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
> राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाय॥

यह प्रेम साधना अद्भुत है, इस प्रेमरस को जिसने पाया वही जल गया इस प्रेम क्रीडा में भक्त के समान भगवान् भी उत्सुक और व्याकुल हैं और सम्पूर्ण पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, चाँद, सितारे सभी भगवान के प्रे के रूप हैं।

प्रेम के इसी आधिक्य के कारण इन सन्त कवियो की कविताएँ नीरस : हो अद्भुत माधुर्य और काव्य सौंदर्य से समृद्ध हो उठी हैं। पीछे लिखा ज चुका है किस प्रकार नाथ पन्थी योगी गुरु महत्ता को स्वीकार करते थे औ किस प्रकार वज्रयानी सिद्ध गुरु को बुद्ध से भी बड़ा कहते थे। निर्गुण मतावलम्बी सन्तों मे भी गुरु के प्रति अत्यन्त आदर की भावना थी। अनेक स्थानों पर कबीर आदि कवियो ने गुरु को गोविन्द के समान बताया है। गुरू की कृपा से साधक इस भवसागर को पार कर उस परमब्रह्म को प्राप्त कर सकता है।

सन्त कवियों ने जाति पाँति का अत्यन्त तीव्र शब्दों में विरोध किया है। कुछ लोग इन जाति पाँति विरोधी विचारों को सन्त कवियों पर मुसलमानी प्रभाव बतलाते हैं, परन्तु जैसा कि हम पीछे नाथ पन्थियों और सिद्धों के प्रकरण मे भी दर्शा चुके हैं कि वे प्रायः जाति पाँति का विरोध करते थे, और वर्णव्यवस्था से उत्पन्न अभिमान को परमपद् (नाथपद्) की प्राप्ति में बाधक ानते थे। इन मतो मे प्रायः नीची श्रेणियों के लोगों का प्रवेश था, इसी कारण यह विरोध चला आ रहा था। दूसरे प्राचीनकाल मे अनेक महा-पुरुषों ने भी इस जाति-पाँति की व्यवस्था को समाप्त करने पर जोर दिया है। ऐसे अनेक प्राचीन ग्रन्थ प्राप्य हैं जिसमें इस व्यवस्था को खत्म करने को कहा गया है। संस्कृत ग्रन्थ प्रायः अभिजात्य कुलों के लेखकों द्वारा लिखे गये हैं इसलिए उनमे ऐसी बातें नहीं पाई जातीं। बौद्ध मत की महायान शाखा के साधक सदा ही इस व्यवस्था का विरोध करते आये हैं, इनमें सरहपा के वक्तव्य उदाहरण स्वरूप उपस्थित किए जा सकते हैं। निर्गुण सन्तो ने वर्ण भेद से उत्पन्न उच्चता तथा नीचता को ही नहीं अपितु वर्णभेद के कारण समाज मे धनी निर्धन की भावना को भी दूर करने का प्रयत्न किया। यह जरूर है कि उनकी वाणी में तीखापन है परन्तु यह तीखापन और अक्खड़पन उन्हें

नाथपन्थी और सहजयानी योगियों से विरासत के रूप मे प्राप्त हुआ था।

कबीर आदि निर्गुण मतवादियो ने बहुत सी बातें अपने पूर्ववर्ती सहजयान सम्प्रदाय और नाथ पन्थ से ग्रहण की थीं। यद्यपि कबीर का इन दोनों मतो से काफी मतभेद था, परन्तु इन साधकों की कविता पर उनका प्रभाव स्पष्ट है। निर्गुण मत वादियों की साधना पद्धति भावाभिव्यक्ति के ढग आदि सब पूर्ववर्ती सिद्ध तथा नाथपन्थी साधको से प्रभावित हैं। कबीर आदि संत कवियो ने अपनी कविता उन्हीं दोहे, चौपाइयों तथा राग-रागनियों में की है जिन्हें कि उनके पूर्ववर्ती साधको ने अपनाया था। इस प्रकार कबीर और उनका निर्गुण मत सर्वथा भारतीय परम्परा के अन्तर्गत है, और उसका विकास भारतीय चिन्तनविधि की एक प्रशाखा के रूप में हुआ है।

हठयोग की धारा का विशेष विवरण पीछे दिया जा चुका है।

सूफी प्रेम-मार्गी धारा

मुसलमानों के इस देश मे आगमन के साथ ही सूफी साधकों का भी इस देश में प्रवेश हुआ। हमारे प्रेम मार्गी शाखा के कवि सूफी धर्म के अनुयायी थे। यह माना जाता है कि सूफी मत का प्रचलन इस्लाम के एकेश्वरवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप हजरत मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् दूसरी या तीसरी शताब्दी मे हुआ। इस्लाम धर्म की सबसे बडी विशेषता उसका एकेश्वरवाद है। एकेश्वरवाद में अनेक देवताओ के स्थान पर एक देवता की सत्ता को माना जाता है। मुसलमान धर्म के अनुयायियो का एक दल इस एकेश्वरवाद के सिद्धान्तों की सर्व प्रमुखता से सन्तुष्ट नहीं था। इस दल के अनुयायियों ने अपनी चिन्तन विधि का विकास एक स्वतंत्र दिशा में जारी रखा तथा उन्होंने उस परमतत्त्व (ईश्वर) के सम्बन्ध में अपने अनुसंधान को जारी रखा, और अत में एक क्रान्तिकारी निश्चय पर पहुंचे, जिसने कि उन्हें उनके मूल इसलाम से पृथक ला पटका। यह सिद्धात या निश्चय भारतीय वेदान्त के शब्द मं जीव तथा ब्रह्म की एकता के रूप में हुआ। आत्मा तथा परमात्मा मे अन्तर समाप्त हो गया, और इस जगत् की प्रत्येक वस्तु उनके लिए ब्रह्मस्वरूप हो गई। ऐसा विश्वास किया जाता है कि सूफी मत पर भारतीय वेदात का बहुत प्रभाव पड़ा है, और उसके साधकों ने भारतीय वेदात की सहायता से ही सूफी मत

के सिद्धान्तों का निर्माण किया है। उपनिषदों में प्रचलित अनेक वादों को सूफी साधकों ने ग्रहण किया। जायसी ने अपने प्रमुख काव्य ग्रन्थ 'पद्मावत' में उपनिषदों के प्रतिविम्ब भाव का आश्रय लिया है। सूफी मत पर भारतीय प्रभाव के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। मुसलमानी संस्कृति के सुप्रसिद्ध विद्वान वोन क्रेमर[1] ने स्पष्टरूप से सूफी मत पर भारतीय वेदान्त के प्रभाव को स्वीकार किया है। कुछ अन्य विद्वान सूफी मत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव स्वीकार करते हैं। कुछ भी हो यह तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि सूफी मत की चिन्तन विधि के विकास पर भारतीय वेदान्त का प्रभाव अवश्य पड़ा है क्योंकि प्राचीन भारत में भारतीय भिक्षुओं का धर्म प्रचार के निमित्त विदेशों मे जाना एक सामान्य प्रथा थी। जहाँ भारत धर्म प्राण देश है वहाँ उसने धर्म प्रचार के कार्य में भी पर्याप्त भाग लिया है। भारतीय व्यापारियों का फारस तथा अरब देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रहा, उनके द्वारा भी भारतीय मतवादों को अन्य देशों में पहुँचना सम्भव है। सूफी सिद्धान्तों की सूक्ष्म समीक्षा करने पर हमें उपरोक्त मत की सार्थकता सिद्ध हो जायगी।

सूफी साधक इस जगत् के प्रत्येक अणु में उस भगवान् के दर्शन करते थे और उसके प्रेम में मग्न हो भावपूर्ण कविताओं और गीतों की रचना करते। सूफी ईश्वर और जीव का सम्बन्ध भय का न मान प्रेम का मानते थे और इसी कारण वे ईश्वर का प्रेमपात्र के रूप में दर्शन करना चाहते थे, जबकि इस्लामी शरीयत के अनुसार ईश्वर इस सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता और संहर्त्ता है, पर उस सबसे अधिक शक्तिशाली ईश्वर का और मनुष्य का सम्बन्ध साधारण मुसलमान के लिए मालिक और बन्दे का है।

इन्हीं मुसलमानी शास्त्र के प्रतिकूल बातों के कारण वे शास्त्रीय मुसलमान धर्म की परिधि से बाहिर कर दिए गए, और उन पर अनेक प्रकार के अत्याचार भी किए गये। इन्हीं कट्टर पन्थी मुसलमानों ने मंसूर को अनलहक (मैं ब्रह्म या सत्य हूँ) कहने के कारण सूली पर चढ़ा दिया।

---

[1] Von Kramer की Islamic Culture पुस्तक देखिए।

भारत में सूफियों का सर्व प्रथम प्रवेश सिन्ध मे हुआ, जहाँ से वे धीरे-धीरे पजाब, राजपूताना तथा दिल्ली आदि सम्पूर्ण भारतीय प्रदेशों मे फैल गए। इधर देश में प्रबल धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ हो चुका था जिसका प्रभाव सूफी मत पर भी पड़े बिना न रहा। इस काल मे उन्होंने जहाँ हठयोगियों की योग पद्धति को अपनाने का प्रयत्न किया वहाँ उन्होंने इस देश में परम्परा से चली आई प्रेम कथाओ का आश्रय ले अपने मत का प्रचार किया। इन्हीं प्रेम कथाओं की परम्परा हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल को प्रेममार्गी शाखा के नाम से प्रसिद्ध है। हिन्दी के सूफी कवि भारतीय वातावरण मे पले थे, और उन पर भारत के विभिन्न मतो का भी काफी प्रभाव था। ये शास्त्रीय ज्ञान से तो भिज्ञ न थे, परन्तु बहुश्रुत अवश्य थे, अतः विभिन्न सम्प्रदायो के अनेक मतों को ग्रहण कर इन्होंने उन्हें अपने रूप मे ढाल प्रेममार्गी शाखा के साहित्य का वर्द्धन किया। जैसा कि ऊपर भी लिखा जा चुका है कि इनकी ईश्वर की उपासना प्रेम भाव की थी। ईश्वर को इन्होंने सदा प्रियतम के रूप मे रखा है जबकि अपने आप को प्रिय के रूप मे। इसी भावना के कारण सूफी कवियो की रचनाएँ अत्यन्त मार्मिक, और हृदयस्पर्शी बन पड़ी हैं। प्रेममार्गी शाखा के कवियों का और उनके सहित्य का वर्णन आगे किया जायगा।

मुसलमानी एकेश्वरवादी धारा

मुसलमानी एकेश्वरवादी धारा का भारत में प्रवेश मुसलमानों के भारत आगमन के साथ ही हुआ। धीरे धीरे मुसलमानों का इस देश की राजनैतिक सत्ता पर अधिकार होगया, और इस प्रकार इसलाम को राजाश्रय की प्राप्ति हो गई। भारत की जनता के सम्पर्क मे आने पर इसलाम ने भारतीय जीवन को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया। हमारे धार्मिक विचारों पर तो इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था, इसके साथ ही हमारे देश की संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन और चिन्तन विधि पर भी इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उत्तर भारत मे कुछ हिन्दुओं ने हिन्दू धर्म को त्याग कर इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया, कुछ हिन्दुओं ने मत-परिवर्तन न कर इसलामी संस्कृति और सभ्यता को अपना लिया। इस प्रकार मुसलिम संस्कृति की अनेक विचार-धाराएं अपने कुछ परिवर्तित रूप के साथ हिन्दू जीवन मे प्रविष्ट हो गई।

हमारी एकेश्वरवाद सम्बन्धी धारणाओं को भी इसलाम की एकेश्वरवादी धारणा ने काफी सीमा तक प्रभावित किया। यद्यपि भक्तिकालीन संतों तथा भक्तों ने इसलाम की एकेश्वरवादी धारणा को उस रूप में कभी स्वीकार नहीं किया जिस रूप में इसलाम स्वीकार करता है।

हिन्दी प्रदेश पर अनेक कारणों से इसलाम का प्रभाव कम पड़ा, परन्तु इसलामी संस्कृति का प्रभाव काफी है। हिन्दी में मुसलमानी एकेश्वरवाद की कोई काव्यधारा नहीं, हाँ इस एकेश्वरवाद का प्रभाव अनेक धाराओं पर पड़ा।

ऊपर हमने विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इन्हीं प्रवृत्तियों के आधार पर भक्ति युग के हिन्दी काव्य को हम तीन प्रमुख शाखाओं के रूप में विभाजित कर सकते हैं :—

१—निर्गुण-पथ के सन्तों की ज्ञानाश्रयी शाखा।

२—सूफी साधकों की प्रेममार्गी शाखा।

३—वैष्णव कवियों की सगुणोपासक शाखा।

अन्तिम शाखा की उपास्य देवों के आधार पर दो उपशाखाएँ मानी जाती हैं : (१) रामभक्ति शाखा, (२) कृष्णभक्ति शाखा।

निर्गुण पन्थ की ज्ञानाश्रयी शाखा

निर्गुण सन्तों की धार्मिक प्रवृत्तियों का परिचय पीछे दिया जा चुका है, यहाँ संक्षेप से इस शाखा की प्रमुख विशेषताओं को दुहरा दिया जाता है:-

१—इस शाखा के प्रवर्तक कबीर कहे जा सकते हैं। यद्यपि कबीर से पूर्व भी एतद्विषयक विचारों का प्रचलन था।

२—इस शाखा की प्रमुख विशेषता निर्गुणवाद तथा नाम की उपासना है, परन्तु सन्त कवियों का यह निर्गुणवाद विशुद्ध निर्गुणवाद नहीं। क्योंकि ये सन्त भक्त थे, और भक्त के लिये गुणों का आरोपन आवश्यक ही है।

यह निर्गुणवाद भारतीय चिन्तन की परम्परा से ही सम्बन्धित है यद्यपि इस पर बड़ा इसलाम का प्रभाव भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

३—सन्तों की निर्गुण शाखा पर वैष्णव-प्रभाव भी पर्याप्त है। कबीर सुप्रसिद्ध वैष्णव भक्त स्वामी रामानन्द के शिष्य थे।

४—ज्ञानाश्रयी शाखा में अन्तस्साधना पर विशेष बल दिया गया है, तथा बाह्याडम्बरों और मिथ्याचारों का कड़ा विरोध किया गया है। पण्डितों तथा ज्ञानियों की निन्दा की गई है। वेद शास्त्रादि का अध्ययन व्यर्थ ठहराया गया है।

५—इनकी अन्तस्साधना नाथ पन्थी योगियों या सिद्धों की भाँति शुष्क न होकर सरस थी।

६—सन्त कवियों ने प्रेम का बड़ा विशद वर्णन किया है, और प्रेम को भगवान् की प्राप्ति में प्रमुख साधन माना है। इसी प्रेम भाव की अधिकता के कारण ही इनकी कविता में अद्भुत माधुर्य तथा सरसता उत्पन्न हो गई है।

७—ज्ञानाश्रयी शाखा में गुरू का बहुत महत्व है। गुरू को परमात्मा के सदृश माना गया है।

८—सामाजिक समस्याओं के विषय में इनका दृष्टिकोण काफी उदार था। वर्ण व्यवस्था तथा जात पात के कारण उत्पन्न सामाजिक भेद भाव की भावना का इन्होंने अत्यन्त तीव्र शब्दों में विरोध किया है। यह विरोध इस शाखा पर इसलामी प्रभाव का परिणाम नहीं।

६—निर्गुणभाव की चिन्तन पद्धति शत प्रतिशत रूप से भारतीय है। यह सिद्धों तथा हठयोगियों की विकसित परम्परा के अन्तर्गत आ सकती है।

१०—निराकार ईश्वर की उपासना के कारण सन्त कवियों ने अपने इष्टदेव का वर्णन करने के लिए रहस्यात्मक पद्धति का अनुसरण किया है। इसे रहस्यवाद कहा गया है, इसका प्रतिपादन कबीर ने किया था, और इसका अनुसरण कबीर की परम्परा में आए अन्य सभी कवियों ने भी किया है। सगुणोपासक भक्त भगवान के रूप रंग का वर्णन कर सकते हैं, परन्तु

११—निर्गुणोपासक सन्त के लिए परमात्मा का प्रेम और तत्सम्बन्धी अनुभूतियां गूँगे के गुड़ के सदृश है, जिसका वह आनन्द तो अनुभव करता है, परन्तु उस आनन्द का वर्णन नहीं कर पाता। रहस्यवाद का मूल भक्त की इसी स्थिति में है।

सन्तों के इस रहस्यवाद मे आत्मा उस परमब्रह्म भगवान से मिलने के लिए आतुर हो उठती है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की समानता पति-पत्नी के सम्बधो से की गई। वैसे परमात्मा की माता पिता, पुत्र, स्वामी और सखा आदि के रूप में भी उपासना की गई है, परन्तु जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्धों के प्रदर्शन के लिए 'हरि मोर पिउ मे राम की वहुरिया' को ही अपनाया गया है। परमात्मा के वियोग में आत्मा विरह से व्याकुल है, और उस परमब्रह्म से मिलने के लिए उत्सुक है। सूफी मत में आत्मा को पति माना गया है और परमात्मा को प्रेयसी। परन्तु सतमत में भारतीय आदर्श के अनुसार आत्मा को पत्नी को और परमात्मा को पति माना गया है।

१२–संत कवियों ने कविता के लिए कविता नही की है। यही कारण है कि इन सतो ने काव्य के अनेक उपकरण यथा भाषा का परिमार्जन, छन्द और अलकार आदि की ओर ध्यान नहीं दिया। सत कवियों की भाषा की स्थिति अजीव है, उन्होने जहाँ अपनी भाषा का मूल ढाँचा खड़ी बोली रखा है वहाँ उन्होंने अनेक बोलियों के व्याकरण और शब्दों का प्रयोग किया है। प्रत्येक सत कवि ने अपनी प्रादेशिक बोली का भी यथासम्भव प्रयोग किया है, इसी कारण इनकी भाषा में एकरूपता नहीं आ पाई।

सत कवि प्रायः अपढ थे, और इसी कारण यह अपनी भाषा को परिमार्जित न कर सके। इनके अनुयायी हिन्दु तथा मुसलमान दोनों ही थे। अपने मत के प्रचार के लिए ये लगभग सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते थे। अतएव इन की भाषा मे विभिन्न सम्प्रदायों और प्रदेशों की बोलियों के शब्दों का आ जाना स्वाभाविक ही था। विभिन्न भाषा के शब्दो के इस प्रकार के प्रयोग के कारण ही आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा का नामकरण 'सधुक्कड़ी' किया है।

१३–सत साहित्य की रचनाओं में साखी और सबद को अपनाया गया है। साखी (साक्षी) का छन्द दोहा है, जिसका प्रयोग प्राचीन हिन्दी तथा अपभ्रंश साहित्य में पर्याप्त मात्रा मे किया गया है। सबद साहित्यिक शैली न होकर प्रादेशिक शैली थी और इसका अधिक प्रयोग जन साहित्य में

लोक गीतो के लिए हुए हैं।

भाषा, छंद तथा वर्णन शैली की दृष्टि से सत कवि अपने समय की प्रचलित साहित्यिक शैली का अनुसरण नहीं कर रहे थे।

१४–संत कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन था कविता करना नहीं, इसीलिए हम उनके साहित्य में सूर तथा तुलसी की सी सरसता तथा विषय की व्यापकता और केशव या बिहारी की सी भाषा की प्राञ्जलता और वर्णन शैली की उत्कृष्टता नहीं पा सकते। तथापि संत-साहित्य में प्रभावोत्पादकता की कमी नहीं। कबीर आदि संत कवियों ने जहाँ प्रेम मे मग्न हो कविता की है, वहाँ वे माधुर्य और सरसता में तुलसी और सूर से किसी प्रकार भी पीछे नहीं। परन्तु ऐसी उत्कृष्ट रचना अधिक नहीं, थोड़ी ही है। सन्देश की महानता और उत्कृष्टता के कारण ही संत-साहित्य का हिंदी साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है।

सन्त कवि और सन्त साहित्य

अब हम यहाँ प्रमुख संत कवियों और उनके साहित्य का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय देंगे।

कबीरदास (सं० १४५६—१५७५)—सन्त कवियों में सर्व प्रमुख हैं। कबीर जैसा प्रतिभा-सम्पन्न, व्यक्तित्वशाली और सूक्ष्मदृष्टि वाला कवि संतों में दूसरा नहीं। तत्कालीन परिस्थितियों में कबीर ने जिस निर्भयता और निष्पक्षता को अपनाया है, और जिस अदम्य उत्साह से अपने मत का समर्थन किया है वह आज हमें असमंजस में डाल देता है। समाज मे एक अत्यत नीची दृष्टि से देखी जाने वाली जाति में जन्म लेकर उन्होंने जिस आत्मविश्वास से काशी के बड़े बड़े ज्ञानी पण्डितों को उनके ज्ञान की तुच्छता के लिए ललकारा और जिस निर्भयता से उन्होंने तत्कालीन राजधर्म—इसलाम—में व्याप्त दोषों को प्रदर्शित किया, वह उनके महान् व्यक्तित्व का ही द्योतक है। कबीर का जीवन क्रांतिकारी था, उन्होंने समाज में प्रचलित रूढ़ियों को, घुन लगी सामाजिक व्यवस्थाओं को और अंधविश्वासों को नष्ट कर नवीन सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करना चाहा, परन्तु वह किसी रचनात्मक योजना को प्रस्तुत न कर सके। उनका दृष्टिकोण क्रान्तिकारी अवश्य था, परन्तु उसमें रचनात्मिकता

की कमी थी। यही कारण है कि कबीर अपने उद्देश्य में सफलता न पा सके।

जीवन परिचय—महात्मा कबीर के जन्म के विषय में अनेक प्रवाद प्रचलित हैं। कुछ लोगों का कहना है कि उनका जन्म तो स्वामी रामानन्द के आशीर्वाद से एक हिन्दू ब्राह्मणी के घर में हुआ परन्तु लोक लज्जा के कारण परित्यक्त कर दिए जाने के कारण उनका पालन एक जुलाहा मुसलमान के घर में हुआ, जबकि मुसलमान इन्हें जन्म से ही मुसलमान सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। जो कुछ भी हो इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कबीर का पालन-पोषण मुसलमान घर में हुआ।

इनका विवाह लोई नाम की स्त्री से हुआ और इनके कमाल तथा कमाली नाम के दो बच्चे भी थे। कबीर कपड़ा बुन कर अपनी गृहस्थी चलाते; परन्तु बचपन से ही कबीर अत्यन्त भावुक और भक्त हृदय के थे। ऐसा कहा जाता है कि बचपन में ही कबीर 'राम राम' जपते थे और कभी कभी माथे पर तिलक भी लगा लेते थे। इसी कारण इनका मन घर के काम काज में नहीं लगता था।

कबीर रामानन्द के शिष्य थे। रामानंद के यह कैसे शिष्य बने, इसकी भी एक रोचक कथा है। स्वामी रामानंद की महानता को सुन कबीर के मन में उनके शिष्य बनने की इच्छा जाग्रत हुई। परंतु क्या वे एक जुलाहे को शिष्य बनाएँगे ? इस विचार मे कबीर को एक युक्ति सूझी। स्वामी रामानन्द नित्य गंगा स्नान करने जाते थे। एक रात कबीर उसी घाट की सीढ़ियों पर जा लेटे जिससे स्वामी रामानन्द गुजरते थे। अन्धेरे में स्नान के लिए जाते हुए रामानन्द का पैर कबीर पर पड़ गया। रामानन्द चौंक कर बोले 'राम राम कह'। इस प्रकार कबीर गुरु मंत्र प्राप्त कर रामानन्द की शिष्य परम्परा में दीक्षित हुए।

कबीर पन्थी मुसलमान कबीर को शेख तकी का शिष्य बतलाते हैं। कबीर शेख तकी के समकालीन अवश्य थे, और यह भी सम्भव है कि कबीर शेख तकी की संगत में रहे हों और उनसे बहुत सी बातें सीखी हों, परन्तु कबीर के वे गुरु नहीं हो सकते जैसा कि नीचे के पद्य से स्पष्ट हो जाएगा—

नाना रूप वर्ण यक कीन्हा। चारि वर्ण उन काहुन चीन्हा ॥
नष्ट गये करता नहीं चीन्हा। नष्ट गए औरहि मन दीन्हा ॥
नष्ट गये जिन वेद बखाना। वेद पढ़ा पै भेद न जाना ॥

नाना नाच नचाइ कै, नाचे नर के वेश।
घट घट अविनाशी बसै, सुनहुँ तक्की तुम शेष ॥

रैमनी ६३।

ऊपर दिये गए पद्य में ऐसा प्रतीत होता है मानो कबीर शेख तक्की को उपदेश दे रहे हों। अन्य स्थानों पर भी कबीर ने शेख तक्की के नाम का उल्लेख अवश्य किया है; परन्तु उस आदर से नहीं जिस आदर से गुरू का किया जाता है।

कबीर बहुश्रुत सन्त थे। वे शास्त्रों का अध्ययन न कर सके क्योंकि उनका जन्म एक ऐसी जाति में हुआ था जिसके लिए शास्त्र ज्ञान का द्वार सर्वथा बन्द था। इसी कारण कबीर जैसे अनेक प्रतिभात्पन्न व्यक्ति इन नीच कही जाने वाली जातियों में जन्म लेते, परन्तु अपनी निर्धनता और परम्परा से चली आई हुई हीनता में ही उनका जीवन बीत जाता। ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति प्रायः वैराग्य के पथ का अनुसरण करते थे, और महायानीय सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओ में या आपका नाथ पन्थी योगियो के दल में सम्मिलित हो अपनी प्रतिभा का विभिन्न प्रकार से प्रदर्शन करते। कबीर को प्रारम्भ में ही महात्मा रामानन्द का सत्सङ्ग मिल गया जिससे उनका जीवन सर्वथा परिवर्तित हो गया। उन्हीं के सतसंग से उन्हें वेदान्त, उपनिषद् तथा पौराणिक कथाओं का ज्ञान हो गया। इधर योग की साधना पद्धति का ज्ञान उन्हें नाथ पन्थी हठयोगियों के संग से प्राप्त हुआ, जब कि मुसलमान धर्म के वातावरण में पलने के कारण उन्हें इसलाम की साधना पद्धति का ज्ञान था ही, और सूफी सन्तों की सगत का भी उन पर काफी प्रभाव पडा। इस प्रकार कबीर विभिन्न सम्प्रदायों के विभिन्न पक्षों को देख और अनुभव कर चुके थे।

कबीर के धार्मिक सिद्धान्त और उनका जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण— कबीर का मुख्य विषय ज्ञान और भक्ति है, और यह भक्ति-निर्गुण चरम

सत्ता के प्रति हैं, इसी निर्गुण राम की उपासना के लिए कबीर बार-बार सासारिक लोगो को सम्बोधित कर कहते हैं—

निर्गुण राम जपहुरे भाई, अवगति की गति लखि न जाई।
चारि वेद जाके सुमृत पुराना। नौ व्याकरना मरम न जाना।
सेस नाग जाके गरुड़ समाना। चरन कँव कँवला नहिं जाना।
कहै कबीर जाके भेदै नाहीं। निज जन बैठ हरि की छाहीं॥

कबीर ग्रन्थावली पद ४९

परन्तु कबीर का यह राम कबीर की कविता में विभिन्न रूपों में वर्णित किया गया है कहीं तो निर्गुण परम ब्रह्म के रूप में—

पंडित मिथ्या करहु विचारा। न वह सृष्टि, न सिरजन्हारा॥
जोति सरूप काल नहिं उहँवाँ, बचन न आदि शरीरा॥
थूल अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा॥

परन्तु इस प्रकार के निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप सब जगह नहीं, कहीं-कहीं उनमें सर्ववाद की झलक भी मिल जाती है—

आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि जाती॥

कबीर राम नामके जाप को बहुत महत्व देते थे, इसी की महिमा का वर्णन करते हुए कबीर कहते हैं—

अजामेल-गज-गनिका पतित करम कीन्हां।
तेऊ उतरि पार गए राम-नाम लीन्हां॥

परन्तु कबीर दाशरथी राम के उपासक न थे 'दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना राम का मरम है आना।' वे तो निरङ्कार शब्द के उपासक थे।

कबीर के राम परम ब्रह्म हैं, वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। उनको दूर खोजने की जरूरत नहीं वह तो सम्पूर्ण शरीर में रमा हुआ है—

कहै कबीर बिचारि करि जिमि कोई खोजे दूरि।
ध्यान धरौ मन सुद्ध करि राम रह्या भरि पूरि॥
कहै कबीर बिचारि करि, झूठा लोही चॉम।
जो या देही रहित है, सोई रमिता राम॥

कबीर के यह निर्गुण राम केवल अनुभव से ही जाने जाते हैं, इसी लिए कबीर ने बारम्बार उस अनुभव को 'गूँगे का गुड़' कहकर याद किया है—

बाबा अगम-अगोचर कैसा, तातें कहि समुझावो ऐसा।
जो दीसे सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई॥
सैना-बैना कहि समुझाओ गूँगे का गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै विनसे नहि नियारा॥
ऐसा ज्ञान कथा गुरू मेरे पंडित करो बिचारा।

निर्गुण ब्रह्म मुख्य रूप से ज्ञान का विषय ही हो सकता है भक्ति का नहीं, परन्तु कबीर के 'निर्गुण ब्रह्म' मे और वेदान्तियो के 'निर्गुण ब्रह्म' मे अन्तर है। कबीर के राम निश्चय ही रूप-रेखा, आकार-प्रकार, भाव-अभाव से सर्वथा परे हैं। कबीर ने इसी रुपातीत राम को भक्ति का विषय बनाया है और भगवान के चरणों में पहुँच अपने आपका बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया है। सूफियों के सत्सग से उन्होंने अपनी भक्ति में प्रेम-भाव का भी सम्मिश्रण कर लिया है, परन्तु भारतीय परम्मपरा के अनुकूल अपने आपको उस परम ब्रह्म की प्रेयसी के रूप में ही रखा है। कबीर बार-बार परम ब्रह्म के विरह में तड़पती हुई अपनी आत्मा का चित्रण करते हैं, उनकी आत्मा को बालम के विरह में न रात को चैन है न दिन को, आँख प्रतीक्षा मे थक गई हैं, परन्तु उस बेदरद बालम ने अभी तक सुध भी नहीं ली[1]

इसी प्रकार के उस बालम के विरह में लिखे गए अनेक भावात्मक पद्यों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके विरह वर्णन मे एक अद्भुत वेदना और तड़प है, परन्तु उसमें भी कबीर एक अद्भुत मस्ती और मौज को प्रदर्शित करते हैं। संयोग और वियोग दोनों ही उनके लिए एकसे हैं। और दोनों में ही उनकी मौज और मस्ती वर्तमान रहती हैं।

---

[1] तलफै विन बालम मोर जिया।
दिन नहीं चैन रात नही निंदिया, तलफ तलफ के भोर किया।
तन मन मोर रँहटअस डोले; सून सेज पर जन्म दिया।
नैन चकित भये पंथ न सूझै साँई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दु:ख जोर किया।

कबीर की भक्ति का आलम्बन निराकार है, उस आलम्बन के निर्गुण और निराकार होने के कारण ही कबीर की भक्ति में एक प्रकार की रहस्यमयता आगई है। इसी के आधार पर ही वर्तमान काल में पंडितों ने कबीर के रहस्यवाद का स्वरूप स्थिर किया है। जैसा कि पीछे भी लिखा जा चुका है कि कबीर की साधना पद्धति मूल रूप से भारतीय ही है, और उनका रहस्यवाद भी मूल रूप से भारतीय ही है, यद्यपि सूफी सन्तों के प्रभाव से प्रभावित। अपने आपको उस परम ब्रह्म की प्रेयसी के रूप में ही चित्रित कर कबीर ने उस रहस्यवाद का रूप स्थिर किया है।

कबीरदास के युग में समाज में अनेक प्रकार की साधना पद्धतियाँ प्रचलित थी, उन में अनेक प्रकार के वाह्याडम्बर और मिथ्याचार प्रविष्ट हो चुके थे। कबीर ने इन सब की तीव्र आलोचना की है। विभिन्न सम्प्रदायों के नेताओं, पण्डितों, मुल्लाओं, शेखों और हठ योगी साधकों को उन्होंने खूब फटकारा है।

तत्कालीन समाज में पौराणिक धर्म का ही सर्वाधिक प्रचार और प्रभाव था। ब्राह्मणों की प्रधानता के कारण उस समय इस मत की क्या अवस्था हो चुकी थी यह सर्वविदित है। इसी कारण पौराणिक धर्म की साधना या उपासना पद्धति, वेदपाठ, व्रत, तीर्थस्नान, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड इत्यादि सबका कबीर ने तीव्र शब्दो में खण्डन किया है। वास्तव में सम्पूर्ण हिन्दु धर्म ही उनके लिए आडम्बर की अधिकता के कारण एक ढकोसला मात्र था। जहाँ कबीर ने पौराणिक धर्म के विषय में कुछ कहा है वहाँ उन्होंने वे पद 'पण्डित' या 'पांडे' को सम्बोधित करके कहे हैं।

हठयोगियों की साधना पद्धति और वाह्याडम्बरों से असंतुष्ट हो कबीर ने उनकी तीव्र आलोचना की है। इसी प्रकार काज़ी को सम्बोधित करते हुए कबीर कहते हैं:—

काजी कौन कतेब बखानें।
पढ़ पढ़ता केते दिन बीते गिन एकै नहिं जाने।
सकति से नेह पकरि करि सूनति यह न बंदूरे भाई।
जौर खुदाइ तुरक मोहि करता तौ आपै कटि किन जाई।

इसी प्रकार इस्लाम के बाह्याचार, बाग, रोज़ा, सुन्नत तथा कुरान आदि

की खरी आलोचना की है। इसी खण्डन-मण्डन के कारण कबीरदास की कविता में एक प्रकार की अक्खड़ता आ गई है।

कबीरदास ने गुरु की महिमा का बड़ा गायन किया है, और उसे भगवान् के समान ही माना है, क्योंकि बिना गुरू के माया अन्धकार दूर नहीं हो सकता और माया के नष्ट हुए बिना ईश प्राप्ति की कोई आशा नहीं। गुरू की महिमा अनन्त है, उसका उपकार अनन्त है, क्योंकि उसने दृष्टि खोल दी और उस अनन्त के दर्शन करा दिए। वह अनन्त क्या है? राम नाम। इस महामन्त्र की पटतर देने योग्य जगत् में कौन सी वस्तु है? हाय, कबीर के पास ऐसा महाधन कौन सा है जिसे देकर गुरू की इस कृपा के लिए कृतज्ञता प्रगट की जा सके।[1]

उल्ट बासियाँ—कबीर ने स्थान स्थान पर योग-परक रूपक और उलट बासियों को लिखा है। इनके वास्तविक अर्थ को समझना अत्यन्त कठिन है। अनेक विद्वानों का मत है कि कबीर ने यह उलट बासियाँ केवल जनता पर रौब गाँठने और अपनी महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए ही लिखी हैं। क्योंकि कबीर से पूर्व नाथ पंथी योगियो ने योग की अद्भुत प्रक्रियाओं का अस्पष्ट रूप से वर्णन करने के लिए और साधारण जनता में अपनी धाक जमा प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए इन्हीं उलट बासियों को ही अपनाया था। और सचमुच योगियों की प्रतिष्ठा इन विरोधाभास मूलक कविताओं से बढ़ती ही गई, घटी नहीं। इन उल्ट बासियो का नाम 'संध्या भाषा' भी प्रचलित है।

कबीर साहित्य की साहित्यिक समीक्षाः—कबीरदास के साहित्य में केवल दो रस हैं—शांत तथा श्रृंगार। श्रृंगार का आलम्बन निराकार है, और इसी कारण उसके वर्णन में एक बड़ी विचित्रता आ गई है। भाषा, अलंकार तथा छन्द की दृष्टि से कबीर की कविता में अनेक दोष हैं। कबीर का मुख्य उद्देश्य कविता करना नहीं था, इसी कारण कबीर ने कविता के उन उपकरणों

---

[1] सतगुरू की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार।
लोचन अनन्त उघारिया, अनन्त दिखावण हार॥
राम नाम के पटतरे, दैवे कों कछु नाहिं।
क्या ले गुरू संतोषिए, हौंस रही मन माँहि॥

की उपेक्षा की है। अतः उनकी कविता में अलंकारों तथा कलात्मक कला-बजियों की खोज व्यर्थ सिद्ध होगी। यद्यपि कुछ स्थानों पर स्वाभाविक रूप से ही इनकी कविता में अलंकार आदि काव्य सौन्दर्य के उपकरण आ गए हैं, परन्तु ऐसी कविता बहुत थोड़ी है।

कबीर की भाषा की स्थिति भी विचित्र है। इन्होंने स्वय कहा है 'मेरी बोली पूरबी है', परन्तु अनेक बोलियों के शब्दों के सम्मिश्रण के कारण, यह दावा ठीक नहीं जान पड़ता। 'रैमनी' और 'सबद' में ब्रजभाषा तथा कहीं कहीं पूरबी का भी उपयोग है। परन्तु साधारणतया इनकी भाषा अनेक बोलियों और भाषाओं के शब्दों, क्रियापदों आदि के सम्मिश्रण से निर्मित हुई है, इनमें मुख्य हैं—खड़ी बोली, राजस्थानी, पजाबी तथा ब्रज। कहीं कहीं अरबी और फारसी के शब्द भी मिलजाते हैं। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा का नामकरण सधुक्कडी किया है।

कबीर का व्यक्तित्व:—कबीर के व्यक्तित्व का निर्माण अनेक अद्भुत तत्वों के सम्मिश्रण से हुआ है। यही कारण है कि उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक हो उठा है।

कबीरदास ने हठयोगियों से बहुत-सी बातें विरासत में प्राप्त की; इनमें अक्खड़पन भी एक है। इस अक्खड़ता के कारण उनकी कविता में भी, जहाँ वह अवधूत, पडित या काजी को सम्बोधित करते हैं, एक तीखापन आ गया है। इसी प्रकार ससार में अज्ञान से भटकते जीवों पर वह दया से आर्द्रित हो उन्हें पाप से छुटकारा दिलाने के लिये प्रेरित न कर उल्टा उसे फटकारते हैं और अत्यन्त कठोर भाव से उसे सुरत तथा विद्या का उपदेश देते हैं। कबीर की इस अक्खड़ता का पूरा चढ़ाव तो नाथ पन्थी योगी के सम्बोधन के समय पाया जाता है।

कबीर के व्यक्तित्व की दूसरी विशेषता है उनका फक्कड़पन। वह एक उच्चकोटी के मस्त थे, जो कि इस संसार में फँसा हुआ नहीं और जो इस संसार में किए नये या पुराने कर्मों का कोई हिसाब नहीं रखता। वह अपना घर जला चुके थे, और अपने जैसे साथी को ही वह अपने साथ चाहते थे—

हम घर जाए आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारौं तासुका, जो चले हमारे साथ॥

इसी फक्कड़पन ने ही उन्हें प्रेम का दीवाना बना दिया, और वह सिर से पैर तक उस प्रेम में निमग्न हो गए जिसमें मतवालापन और मस्ती तो है परन्तु बेक़रारी नहीं। क्योंकि वह यह अनुभव करते थे कि उनका प्रियतम उनके साथ है, दूर नहीं—

जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमनको इन्तजारी क्या?

कबीर का प्रेम खाला का घर नहीं। उनकी प्रेम सम्बन्धी कल्पना बहुत विषद है। इस प्रेम के व्यापार में आत्मबलिदान की आवश्यकता है, और वही प्रेम को प्राप्त कर सकता है जो—

सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहि।

कबीर का अखण्ड आत्मविश्वास उनके व्यक्तित्व की तीसरी प्रमुख विशेषता है। उन्हें अपने आपमें, अपने साधना मार्ग में तथा अपने ज्ञान में अडिग विश्वास था, परन्तु इस आत्मविश्वास के कारण उनकी सत्य-ज्ञान, की भावना कुण्ठित नहीं हो पायी। कबीरदास के इसी आत्मविश्वास के कारण उनकी कविता में एक असाधारण शक्ति आ गई है, जो कि श्रोता को उनसे प्रभावित किए बिना नहीं रहती। जहाँ कबीर में लौकिक जीवन में इतनी अक्खड़ता है वहाँ वह भगवान् के सम्मुख अतिशय विनीत और कृतज्ञ होते हैं, इसका मुख्य कारण उनका भगवान् में अडिग विश्वास और भक्ति है। यही कारण है कि अवधूत को फटकारने वाले कबीर अत्यन्त निरीहता से कहते हैं—

कबीर कूता राम का कुतिया मेरा नाँहँ।
गलै राम की जेवड़ी, जित खेंचे तित जाँहँ॥
तो तो करै तो बाहुड़ो, दुरि दुरि करै तो जाउँ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवै सो खाउँ॥

कबीर के चरित्र में एक अजीब प्रकार की लापरवाही है, एक अजीब फक्कड़पन है यही कारण है कि जब वह 'पण्डित', 'शेख' या 'अवधूत' की आलोचना करते हैं तो उनकी कविता में एक अजीब व्यंग्य आ जाता है, जिससे यह पता चलता है कि वह इन पंडितों आदि को कितना अन्धा

समझते थे। व्यंग्य करते समय कबीर की भाषा ऐसी चोटीली यद्यपि सरल होती है कि सुनने वाला तिलमिला जाता है। कबीरदास हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ व्यंग्य लेखक कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार कबीर का व्यक्तित्व अक्खडता, मस्ती, फक्कडपन, भगवान् के सम्मुख निरीहता, पाखण्ड के सम्मुख प्रचण्डता, सरलता, इत्यादि तत्त्वों से निर्मित हुआ है। कबीर मध्ययुग के सबसे बड़े क्रांतिकारक सुधारक थे। उनके आदर्श महान् थे, उनका दृष्टिकोण सुलझा हुआ था और उनकी प्रतिभा आश्चर्यजनक रूप से विषमताओं में समता की खोज करने वाली थी। यही कारण है कि साहित्यिक दृष्टि से कबीर की कविता में चाहे अनेक दोष और त्रुटियाँ हों, परन्तु अपने अमर सन्देश के कारण उनकी कविता का हिन्दी साहित्य में बहुत महत्त्व है। कबीर की वाणी का सग्रह बीजक नाम से प्रसिद्ध है और इसके तीन भाग हैं—रैमनी, सबद और साखी। कबीर के पीछे लगभग सभी सन्त कवियों ने उन्हीं का अनुसरण किया है।

धर्मदास:—कबीर की शिष्य परम्परा में प्रमुख हैं और कबीरदास के बाद उनकी गद्दी के भी यही उत्तराधिकारी हुए। इनका समय वि० सं० १४७५ से १६०० तक माना जाता है। धर्मदास जाति के वैश्य थे और बान्धवगढ़ के रहने वाले थे। बचपन से इनके हृदय में भक्ति भावना जागृत हो चुकी थी। अत्यन्त भक्त भावुक हृदय होने के कारण इनका प्रारम्भ में सगुणोपासना की ओर झुकाव था। एक बार मथुरा से तीर्थयात्रा कर लौटते हुए इन्होंने कबीर के दर्शन किए, उनके उपदेश का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा, और ये दीक्षा ले कबीर के शिष्य हो गये। ये २० वर्ष तक कबीरदास की गद्दी पर रहे, और पूर्ण आयु भोग स्वर्ग सिधारे।

धर्मदास के ग्रथो में सबसे ऊँचा स्थान 'सुखनिधान' का है, वैसे अन्य ग्रन्थ भी हैं, परन्तु उनकी इतनी अधिक महत्ता नहीं। इनकी शब्दावली का सन्तों में काफी मान है, परन्तु इनमें कबीर जैसी तन्मयता और प्रचण्डता नहीं थी नाहि कबीर की भाति इनके साहित्य में इनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। कबीरदास द्वारा वर्णित सम्पूर्ण विषयो पर इन्होंने लिखा है, परन्तु अधिकतर इन्होंने अपने पथ के विधि-विधानों को ही निश्चित किया है।

कबीर की अपेक्षा इनकी साहित्य रचना थोड़ी है, और नाहि कबीर की भाँति इन्होंने खण्डन-मण्डन को अपनाया है। इन्होंने तो सरल भाषा में प्रेम तत्व का ही अधिक वर्णन किया है। इनके विरह वर्णन में भी उच्च कोटि का आध्यात्मिक संदेश प्राप्त हो जाता है। धर्मदास की रहस्यात्मक कविताएँ भी सुन्दर बन पड़ी हैं।

इनकी भाषा कबीर जैसी नहीं, उनसे कुछ प्राजल है, और उस पर पूर्वी हिन्दी की छाप है। उदाहरण के लिए उनके कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं।

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजली चमके, लहरि उठै, शोभा वरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम आनन्द ह्वै साधु नहाय॥
खुली केवरिया, मिटी अँधिरिया, धनि सतगुरू जिन दिया लखाय।
धरमदास बिनवै करि जोरि, सत गुरु चरन मे रहत समाय॥

गुरू नानकदेव:—सिख सम्प्रदाय के प्रवर्तक है। ये अत्यन्त शान्त तथा उदार भाव के महात्मा थे। इनका जन्म पजावी खत्री घराने में वि० सं० १५२६ में लाहौर जिला के तलवण्डी नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम कालूचन्द और माता का नाम तृप्ता था। इन्होंने प्रारम्भ में विवाहित जीवन व्यतीत किया, और उनके श्रीचन्द, लक्ष्मीचन्द नाम के दो पुत्र भी उत्पन्न हुए। गुरू नानक में बचपन से ही भक्तिपूर्ण भावनाओं की प्रबलता थी, इनके पिता ने बहुत प्रयत्न किया कि इनको सासारिक व्यवस्था में लगा दिया जाए, परन्तु भक्तिपूर्ण सस्कारो की प्रबलता के कारण ये घरबार छोड सन्यासी बन गए। कहा जाता है कि साधु होने के पश्चात् इनकी भेंट कबीर से भी हुई जिनके उपदेशों का इन पर काफी प्रभाव पड़ा।

मुसलमानों का आगमन पंजाब में बहुत समय पूर्व ही हो चुका था, उनके आगमन के साथ ही इस्लाम का प्रवेश भी हो चुका था। इसलाम के मुख्य सिद्धान्त एकेश्वरवाद का प्रचार काफी समय से जारी था, अतः इसका प्रभाव पजाब निवासियो पर पड़ना स्वाभाविक ही था। साधारण हिन्दू जनता में ये विचार घर करने लगे और वे लोग विभिन्न देवी देवताओं की पूजा छोड एक परमात्मा की पूजा करना ही अधिक युक्ति सगत अनुभव करने लगे।

इस अवस्था में गुरू नानकदेव ने निर्गुण संतमत का प्रचार कर हिन्दुओं तथा मुसलमानो में विचार साम्य को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।

गुरू नानक कबीर की ही भाँति अधिक पढ़े लिखे न थे, परन्तु साधु सन्तों की संगत में आने के कारण और दूर देशा की यात्रा के कारण गुरू नानक को काफी अनुभव और ज्ञान प्राप्त हो गया था। इसी कारण इनके उपदेशों मे एक विशेष आकर्षण और प्रभाव प्रतीत होता है।

कबीर की भाँति इन्होंने भी समाज मे वर्गभेद से उत्पन्न भेदभाव का विरोध किया है। परन्तु कबीर के विरोध मे और इनके विरोध में भेद है, क्यों कि कबीर का विरोध तीव्र और प्रचण्ड था जबकि नानक का विरोध नम्र और सरल। नानक की साम्य भावना विचार-प्रसूत और करुणा मूलक थी।

नानक के पद अत्यन्त श्रद्धा और विश्वास से पूर्ण हैं। इनके सरल हृदय का स्पष्ट प्रतिबिम्ब हम इनकी कविता में पाते हैं। इनकी रचनाओं मे अहं-भाव-हीन निरीहता है। हृदय से निकली हुई होने के कारण उनकी वाणी सीधा हृदय को प्रभावित करती है।

काव्य गुणों के प्रदर्शन के लिए नानक ने कविता नही की, इसी कारण उनकी कविता में अलकार इत्यादि शब्द सौन्दर्य के वर्द्धक उपकरणों का अभाव है। परन्तु स्वाभाविकता और भावनाओं की तीव्रता—जोकि कला के लिए आवश्यक है—की कमी हम उनकी कविता में नही पाते।

नानक ने हिन्दी रचना कम की है। उनकी अधिकाश रचनाओं पर पजाबी का प्रभाव है, जो कि उनके पजाबी होने का ही परिणाम है। अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी मिल जाते हैं। भाषा सीधी और सरल है।

नानक की मृत्यु सं० १५९६ में हुई। इनके पद 'गुरुग्रन्थ साहब' में सगृहीत हैं। नानक की कविता के कुछ उदाहरण देखिए :—

रे मन राम सों कर प्रीत
श्रवण गोविंद गुण सुनो गुरु गाउ रसना गीत।
कर साधु संगति सुमिर माधो होय पतित पुनीत॥
काल व्याल ज्यों ग्रस्यो डोलै मुख पसारे मीत।
कहे नानक राम भज ले जात अवसर बीत॥

इस दमदा मैनू कीवे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैनदा सुपना, कहीं देखा, कहीं नहीं दिखाया।
सोच विचार करे मत मन मे जिसने ढूँढ़ा उसने पाया।
नानक भक्तन के पद परसे निसि दिन रामचरन चित लाया।

दादूदयाल:—का जन्म १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नगर में हुआ था तथा इनका शरीरान्त सं० १६६० में जयपुर के पास भरने की पहाडी नामक स्थान पर हुआ। दादूदयाल के जन्म और जाति के विषय में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। कबीर की भाँति ही इनके जन्म तथा जाति के विषय में अनेक कल्पनाएँ की जाती हैं। कुछ लोग जाति से इन्हें ब्राह्मण कहते हैं—जबकि अन्य धुनियाँ या चमार। अधिक सम्भव तो यही मालूम होता है कि यह किसी नीची जाति में ही उत्पन्न हुए थे। प्रारम्भिक सन्त कवियों मे यही शिक्षित जान पडते हैं।

कबीर की भाँति इनके नाम से भी एक 'दादू पथ' चल रहा है। यद्यपि कबीर और दादू में सिद्धान्तों की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं।

इनका न तो व्यक्तित्व ही कबीर जैसा प्रभावशाली था और न प्रतिभा ही, परन्तु इनकी कविता कबीर से अधिक सरल और मार्मिक है। इन्होंने अपने हृदय की सच्ची भावनाओ और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति अत्यन्त सुन्दर ढंग से की है। यह सिद्धान्तिक खण्डन-मण्डन में नहीं पडे।

दादू के प्रचार का क्षेत्र राजस्थान था, इसी कारण इनकी कविता पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट है। इनकी कविता देखिये—

जिस घटि बिरहा राम का उस नींद न आवे।
दादू तलफै बिरहनीं उस पीड़ जगावै॥
दादू बिरह बियोग सह सकैं मोपै सह्या न जाइ।
कोई कहो मेरे पीवसो दरस दिखावै आइ॥
सबद दूध घृत राम रस मथि करि काढै कोइ।
दादू गुरु गोविन्द विन घटि घटि समझि न होइ॥
घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सबही ठौर।
दादू बकता बहुत है मथि काढ़े वे और॥

सुन्दरदासः—सन्त कवियों में सर्वाधिक शिक्षित और विद्वान् थे। बहुत छोटी आयु में ही इन्होंने दादूदयाल के शिष्यत्व को ग्रहण किया था। इनका जन्म संवत् १६५६ में जयपुर राज्यान्तर्गत द्यौसा नामक ग्राम में हुआ था। जाति के ये वैश्य थे। इनके पिता का नाम परमानन्द था और माता का सती। दादू के शिष्यत्व में आने के अनन्तर कुछ समय तक तो ये नराना में दादूदयाल के पास रहे। परन्तु दादूदयाल की मृत्यु के अनन्तर इन्होंने काशी रह ३० वर्ष की अवस्था तक संस्कृत, व्याकरण तथा वेदान्त आदि का बहुत विस्तृत अध्ययन किया। विस्तृत शास्त्र ज्ञान के कारण इनकी रचना उच्चकोटि की हो पाई है और उसमें साहित्यिकगुणों की भी कमी नहीं। परन्तु सन्त साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता—वक्तव्य विषय का स्वाभाविक वेग—उनकी कविता में न आ पाया। निश्चय ही उनकी भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है, इनके छन्द भी प्रायः शुद्ध हैं, उनकी कविता में काव्य कला की अन्य विशेषताएँ भी उपलब्ध हैं, परन्तु सन्त कवियों की मस्ती और स्वाभाविक अल्हडता का उसमें अभाव है। उनकी ज्ञानचर्चा का मुख्य अंश संस्कृत ग्रन्थों से ही संगृहीत है, जो कविता में तो अवश्य ही नवीन है, परन्तु शास्त्रज्ञानसम्पन्न रसिकों के लिए विशेष आकर्षक नहीं।

फिर भी सुन्दरदास की कविता विभिन्न दृष्टिकोणों से उत्कृष्ट, सरस और साहित्यिक है। निर्गुण पन्थ के यही एक ऐसे कवि थे जिन्हें कि समुचित शिक्षा प्राप्त हुई थी, इसी कारण इनकी कविता अन्य सन्त कवियों की रचना से नहीं मिलती। अन्य कवियो ने तो केवल पद और दोहों में अपनी रचना की है, परन्तु सुन्दरदास ने अपनी कविता में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। इनकी कविता में यमक, अनुप्रास और अर्थालङ्कार आदि की व्यवस्था बराबर रहती है। सुन्दरदास का 'सुन्दरविलास' ही सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें उच्चकोटि के यमक और सवैये हैं। इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

तिल में तेल दूध में घृत है दारु माहिं पावक पहिचानि।
पुहुप मांहि ज्यौं प्रगट वासना इक्षु मांहि रस कहत वषानि॥
पोसत मांहि अफीम निरंतर बनस्पति में सहत प्रवानि।
सुन्दर भिन्न मिल्यौ पुनि दीसत देह मांहि यौं आतम जानि॥

गेह तज्यौ अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइकै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप सम जो पंचागिन बारी॥
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुन्दरदास सवै दुख भारी।
आसन छांड़िकै कासन ऊपर आसन मार्यौ, पै आस न मारी।

सुन्दरदास के अतिरिक्त सन्तों में मलूकदास, रविदास (रैदास) जगजीवन साहब आदि अनेक अन्य कवियों ने भी रचना की है। तुलसी साहब, गोविन्द साहब, पलटू साहब आदि अन्य सन्त भी हुए हैं, परतु उनका साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

काव्य गुणों की समीक्षा के अनुसार सन्त साहित्य विशेष उच्चस्थान का अधिकारी नहीं। परतु तत्कालीन परिस्थितियों में सन्तो ने जनता को आध्यात्मिक शान्ति का महान् सन्देश दे उनकी चिर अतृप्त आत्मा को तृप्त किया; साथ ही वर्णभेद से उत्पन्न भेदभाव की भावना को दूर कर भक्ति की भावना को लोकव्यापक बनाया। हिन्दी साहित्य में इन सन्त कवियों का बहुत उच्च स्थान है।

प्रेम मार्गी शाखा

प्रेम मार्गी कवि सूफी मत के अनुयायी थे। पीछे सूफी मत के प्रमुख धार्मिक विचारों का परिचय दिया जाचुका है, यहाँ हम प्रेम मार्गी शाखा की प्रमुख धार्मिक तथा साहित्यिक विशेषताओं को संक्षेप से लिख देंगे।

१—सूफी सन्त मुसलमान थे और अपने मत को कुरान से सम्बन्धित बतलाते थे। परन्तु इस्लाम की एकेश्वरवाद सम्बन्धी धारणा सूफी सन्तों को स्वीकार नहीं थी। फारस में उठे सूफी सन्तों के इस दल ने खुदा और इंसान की वहदत (एकता) की घोषणा की। यह घोषणा इसलाम के मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल थी, क्योंकि वहाँ इंसान और खुदा की पृथक् पृथक सत्ता स्वीकार की गई है। इसी कारण सूफी मत कट्टर मुसलमानों द्वारा बेशरा (शरीयत या इसलामी धर्म शास्त्र के विरुद्ध) माना जाता है।

२—सूफी सन्तों पर भारतीय वेदान्त का प्रभाव निश्चित रूप से अनेक प्रमाणिक लेखकों द्वारा स्वीकार किया गया है। इनके दृष्टिकोण की समता विशिष्टाद्वैतवादियों से की जाती है।

३—सूफी सन्त खुदा और बन्दे का सम्बन्ध भय का न मान प्रेम का मानते हैं, और उसे अपने प्रेम पात्र के रूप में देखना चाहते हैं। जब कि इसलाम में खुदा और इन्सान का सम्बन्ध मालिक और बन्दे के समान है।

४—ईश्वर को माशूक (प्रेयसी) और अपने आपको प्रेमी के रूप में रखते हैं।

५—इसी प्रेम भावना के कारण वे इस विश्व के प्रत्येक अणु अणु में उस महान् के दर्शन करते हैं, और विश्व की प्रत्येक वस्तु उनके लिए परम ब्रह्म का स्वरूप है।

६—सूफियों की साधना पद्धति में प्रेम का बहुत महत्व है, परन्तु यह प्रेम सासारिक न हो, परोक्ष सत्ता के प्रति था। यह परोक्ष सत्ता निराकार ब्रह्म है, परन्तु प्रेम की प्रबलता के कारण सूफी संतों ने भगवान् को अनन्त प्रेम का भंडार माना है और उसे व्यक्त स्वरूप प्रदान करने का भी यथासम्भव प्रयत्न किया है। परन्तु इसको वह स्पष्ट रूप प्रदान न कर सके। इसी अस्पष्टता के कारण ही सूफी सन्त कवियों की कविता में रहस्यात्मकता आ गई है।

७—भारत में सूफी सन्तों का आगमन सर्व प्रथम सिंध मे हुआ जहाँ से वे सम्पूर्ण भारत में फैल गए। मुसलिम राज्य की स्थापना के अनन्तर इन्हें राज्याश्रय भी प्राप्त हो गया।

८—भारत में आए सूफी सन्तो पर भारतीय दर्शन, धार्मिक वातावरण, और साहित्य का विशेष प्रभाव पड़ा।

९—सूफी सन्तो ने अपने साहित्य का सृजन प्रेम गाथाओं के रूप मे किया है, ये गाथाएँ प्रायः हिन्दु जीवन से सम्बन्धित होती थी। उस समय की जनता में प्रचलित कहानियों को कल्पना द्वारा घटा बढ़ा इन्होंने अपनी प्रेम गाथाओं के कथानक तैयार किये हैं। इनमें कहीं कहीं ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश भी किया गया है, परन्तु ये गाथाएँ अधिकतर कल्पित ही हैं।

१०—इन लोक प्रचलित गाथाओं द्वारा जीवात्मा की परमात्मा के प्रति प्रेम

की पीर तथा उस प्रियतमा (परमात्मा) के मिलन के प्रयत्न में आने वाली बाधाओं की अभिव्यक्ति की गई है। इन रचनाओं से अन्योक्ति का काम लेने का प्रयत्न किया गया है।

११–प्रेम-गाथाओं की वर्णन शैली भारतीय महाकाव्यों के ढंग की सर्गबद्ध शैली नहीं। इनके वर्णन में फारसी मसनवियों का ढंग अपनाया गया है, प्रारम्भ में ईश्वर, पैगाम्बर तथा तत्कालीन बादशाह की बन्दना की गई है।

१२–इनके साहित्य की भाषा विशुद्ध अवधी है, जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों ने अवधी को साहित्यिक रूप प्रदान करने के लिये विशेष प्रयत्न किया, और उसका सब प्रकार से परिमार्जन कर व्याकरण विरुद्ध प्रयोग को छोड काव्य सर्जन के उपयुक्त बना दिया। फारसी तथा अरबी शब्द भी कहीं कहीं मिल जाते हैं। अवधी शब्दों को भी कहीं-कहीं तोडा-मरोड़ा गया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रेममार्गी कवियों की अवधी ठेठ बोल चाल की अवधी थी जबकि गोस्वामी तुलसीदासजी की संस्कृत मिश्रित साहित्यिक।

१३–इनकी रचना अधिकतर दोहा चोपाइयों में हुई है। अलंकारों का भी बीच बीच में स्वाभाविक प्रयोग किया गया है, परन्तु अलकार कहीं भी भार स्वरूप नहीं। अलकारों में अर्थालंकारों का ही अधिक प्रयोग हुआ है, शब्दालंकारों का कम।

१४–प्रेम मार्गी कवियों ने सन्त कवियों की भाँति मुक्तक रचना न कर प्रबन्ध काव्य ही रचे हैं, इनमें कथानक की रोचकता की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। बीच बीच में वस्तु वर्णन अधिक आकर्षक नहीं बन पाया, परन्तु वर्णन प्रयोग में जहाँ कहीं त्याग, तप, कष्ट सहन आदि का वर्णन किया गया है, वहाँ वस्तु वर्णन भी रोचक बन पड़ा है। भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रेम मार्गी कवियों की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म और उत्कृष्ट है। यही कारण है इन्होंने चित्त की अत्यन्त सूक्ष्म वृत्तियों का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है, इसी लिये इनकी भाव-व्यंजना बहुत उच्चकोटि की मानी गयी है।

१५–प्रेम मार्गी और सन्त कवियों में दो प्रमुख अन्तर हैं। सन्त कवि अपने

रूपकों में आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति के रूप में चित्रित करते हैं। इसके विपरीत प्रेमगाथाकार परमात्मा को प्रेयसी (महबूबा,) मानते हैं और आत्मा को पति जो कि विकलता पूर्वक अपनी पत्नी की खोज करता है। यह भारतीय आदर्श के अनुकूल नहीं।

दूसरा प्रेम मार्गी कवि माया का अस्तित्व न मान, शैतान को साधना पथ में बाधक समझते हैं।

१६—निर्गुणवादी सन्तों की भाँति इन्होंने किसी भी मत विशेष का खंडन-मंडन नहीं किया, इनकी कविता सरल, रसीली और हृदय पर प्रभाव डालने वाली होती है।

प्रेम मार्गी सन्त और साहित्य

अब हम प्रेम मार्गी सन्त और उनके साहित्य का यहाँ संक्षिप्त परिचय देंगे। अभी तक निम्न-लिखित चार प्रेम गाथाएँ उपलब्ध हुई हैं, इनके उद्देश्य तथा कथानकों में विशेष विभिन्नता नहीं क्योंकि प्रतिपाद्य विषय एक ही है, परन्तु काव्य गुणों की मात्रा कवि की प्रतिभा पर ही आश्रित है—

(१) कुतबन की 'मृगावती'
(२) मंझन की 'मधुमालती'
(३) जायसी की 'पद्मावत'
(४) उसमानकी 'चित्रावली'

जायसी ने 'पद्मावत' में अपने से पूर्व चार काव्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती। इनमें से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है, शेष दो ग्रन्थ अप्राप्य हैं।

कुतबन:—से ही प्रेम-गाथाकारों की परम्परा का आरम्भ माना जाता है। इनसे पूर्व मुल्ला दाऊद और रज्जन की कोई रचना अब तक उपलब्ध नहीं हुई।

कुतबन चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे, और शेरशाह के पिता हुसैन शाह के आश्रित थे। इस प्रकार इनका समय सं० १५५० माना जा सकता है। 'मृगावती' इन्हीं की रचना है, इसका रचनाकाल १५६६ माना है। 'मृगावती' की कथा संक्षेप से इस प्रकार है:—चन्द्रगिरि के राजा गणपति देव का पुत्र कंचननगर की राजकुमारी मृगावती पर मुग्ध हो जाता

है । अनेक कष्ट सहने के अनन्तर राजकुमार राजकुमारी के पास पहुँच पाता है, परन्तु एक दिन राजकुमारी राजकुमार को छोड़ हवा में उड़ जाती है । राजकुमार उसके वियोग में अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, राज पाट छोड़ योगी बन मृगावती की खोज में निकल पड़ता है । अनेक कष्ट उठाने के अनन्तर राजकुमार मृगावती को खोज लेता है । परन्तु इसी दौरान में उसने रुकमणी नामक सुन्दरी को राक्षस के हाथों से बचा अपनी प्रेयसी बना लिया था । इस प्रकार मृगावती और रुकमणी दोनों उसकी रानियाँ हुईं । बहुत दिन तक आनन्द पूर्वक जीवन यापन के अनन्तर एक दिन आखेट के समय हाथी से गिरने पर राजकुमार की मृत्यु हो गई और दोनों रानियाँ सती हो गईं ।

मृगावती में विशेष काव्य सौन्दर्य नहीं, इसमें रूपक द्वारा प्रेम मार्ग के त्याग और कठिनाइयों का वर्णन है । लौकिक प्रेम वर्णन से अलौकिक प्रेम की ओर ध्यान आकृष्ट कराया गया है । कथा के वर्णन में कल्पना की प्रधानता है, स्थान स्थान पर अनेक रहस्यात्मक स्थल भी हैं, जो बहुत सुन्दर बन पड़े हैं ।

रुकमनि फुनि वैसेहि मर गई । कुलवंती सत सौं सति भई ॥
बाहर वह भीतर वह सोई । घर बाहर को रहै न कोई ॥
विधिका चरित न जाने आनू । जो सिरजै सो नाहिं बिरानू ॥
संग नीर लैके सर रच्या । पूजी अवध कही जो बन्या ॥
राजा संग जरी रानी चौरासी । ते सबके गए इन्द्रक बिलासी ॥
मृगावती और रुकमिनी, लैके जरी कुंवर के साथ ।
भसम भई जर बिलक में, चिन्ह न रहा गात ॥

मंझन :—के जीवन वृत्तान्त के विषय में अभी तक कुछ पता नहीं चला । इनकी रची 'मधुमालती' का उल्लेख जायसी ने पद्मावत में किया है, हाल में ही इसकी एक अपूर्ण प्रति उपलब्ध हुई है । इसका रचनाकाल ज्ञात नहीं । यह अनुमान लगाया जाता है कि रचना 'पद्मावत' से पूर्व ही हो चुकने के कारण इसका रचना काल सं० १५७५-८५ के मध्य में हो सकता है । मृगावती के सदृश इसकी रचना भी दोहे चौपाइयों में की गई है ।

'मधुमालती' का लेखक अत्यन्त कोमल कल्पना वाला प्रतिभाशाली

कवि जान पड़ता है। इसी कारण इसका कथानक 'मृगावती' की अपेक्षा अधिक रोचक और वर्णन अधिक चित्ताकर्षक है। आध्यात्मिक प्रेम के वर्णन के लिए अपनाए गए संकेत और उपकरण कथा और वर्णन शैली को और भी अधिक सुन्दर बना देते हैं।

मधुमालती में कनेसर के मनोहर नामक राजकुमार और महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती का प्रेम है। राजकुमार और राजकुमारी का मिलन अप्सराओं द्वारा होता है, जो कि राजकुमार को एक ही रात में मधुमालती की चित्रशारी में पहुँचा देती हैं। वहाँ वे दोनों एक दूसरे पर मुग्ध हो जाते हैं, परन्तु शीघ्र ही उन्हें विलग होना पड़ता है। परिणाम स्वरूप राजकुमार अपनी प्रेयसी के विरह में व्याकुल हो घर से निकल राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए चल पड़ता है। इस कथा की एक विशेषता यह है कि इसमें नायक और नायका के साथ उपनायक ताराचन्द और प्रेमा की भी कल्पना की गई है, जिनकी कथा साथ साथ चलती है और जो नायक और नायका को मिलाने में सहायक होते हैं। कवि ने प्रेमा और ताराचन्द्र के चरित्र द्वारा अपूर्व त्याग, संयम और सच्ची सहानुभूति का चित्रण किया है। प्रेमा एक बार एक राक्षस द्वारा उठा ली गई थी, जहाँ मनोहर ने पहुँच उसका उद्धार किया। राजकुमारी प्रेमा को मनोहर ने अपनी विरह कथा कही;और राजकुमारी ने वायदा किया कि वह उसे मधुमालती से अवश्य मिला देगी। प्रेमा के माता पिता ने मनोहर का विवाह प्रेमा से करना चाहा, परन्तु प्रेमा ने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि मनोहर मेरा भाई है और मैं उसे मधुमालती से मिलाने के लिए वचन बद्ध हूँ। राजकुमारी प्रेमा राजकुमार, मनोहर को मधुमालती से मिलाने में सफल होती है परन्तु मधुमालती की माता रूपमंजरी मधुमालती को मनोहर से प्रेम करने के अपराध में शाप दे पक्षी बना देती है। मधुमालती पक्षी के रूप में उड़ती उड़ती ताराचन्द के हाथ लगी, ताराचन्द ने उसके विरह की कथा को सुन उसे मनोहर से मिलाने का वचन दिया। महारस नगर पहुँचने पर मधु-मालती के माता पिता ने मधुमालती का ताराचन्द से विवाह की इच्छा प्रगट की, परन्तु ताराचन्द ने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि "मधुमालती मेरी बहन है और मैं उसे मनोहर से मिलाने के लिए वचनवद्ध हूँ।" ताराचन्द

ने मनोहर की खोज कर मधुमालती को मिला दिया और मधुमालती के माता पिता ने उसका विवाह राजकुमार मनोहर से कर दिया। उपलब्ध प्रति में इतनी ठीक कथा है आगे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राजकुमारी प्रेमा का विवाह भी ताराचंद से हो गया होगा।

कथा की रोचकता और वर्णनशैली की उत्कृष्टता के कारण इस काव्य का अपने समय में बहुत प्रचार जान पड़ता है, क्योंकि पश्चात् के अनेक कवियों ने इसी का आश्रय ले अपनी रचनाएँ रची हैं। दखिनी उर्दू के प्रसिद्ध कवि नसरती ने भी मधुमालती का ही आधार ले अपनी प्रेम-गाथा 'गुलशने-इश्क' की रचना की थी। फारसी के भी अनेक कवियों ने इसी के आधार पर अपनी काव्य-रचनाएँ की हैं। नीचे 'मधु-मालती' से कुछ पद्य उदाहरण स्वरूप दिये जाते हैं:—

विरह-अवधि अब भई अपारा। कोटि माँहिं इक परे न पारा।
विरह कि जगत अविरथा जाही ? विरह रूप यह सृष्टि सबाही।
नैन विरह अञ्जन जिन सारा। विरह रूप दरपन संसारा।
कोटि माँहिं बिरला जग कोई। जाहि सरीर विरह दुःख होई।
रतन की सागर सागरहि, गजमोती गज कोय।
चंदन की बन बन उपजें, विरह की तन तन होय॥

कहा कुँवर जिन रोवहु माता। श्रवन सुनहु कछु कहूँ जो बाता॥
पंखि एक पकरि मैं पाई। बोलत सबद विचित्र सोहाई॥
रही ओंक दिन जाए बोली। बहुरि कहेस मोहि दुख सब खोली॥
कहेसि मोहिं मधुमालति नाऊँ। विक्रम पिता महारस ठाऊँ॥
मातहि नाऊँ रूपमंजरी। कठिन हिये अति निरदय धरी॥
और सबै दुख आपनि, कहेसि जो मोहि सों रोइ।
सुनत बात दुख बहिके, गइ सुधि बुधि कम खोइ॥

मलिक मुहम्मद जायसी—जहाँ प्रेममार्गी शाखा के सर्व प्रमुख कवि हैं, वहाँ वे हिन्दी के उच्चतम कवियों में भी एक हैं। सूफी साधकों ने जिस प्रेम पूर्ण साहित्य का प्रारम्भ किया जायसी की कविता मे वह अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच गया है। जायसी ने अपनी प्रेम पूर्ण वाणी से हिन्दी साहित्य में उच्च

स्थान प्राप्त कर लिया है। उनकी अमर कृति 'पद्मावत' उनकी कीर्ति का अमिट स्तम्भ है, और भावी सन्तति जायसी के इस अमर प्रेम-काव्य को पढ उस महान कवि के चरणों में अवश्य ही नत शिर हो जाएगी। लौकिक प्रेम-गाथाओं के रूप में पारमार्थिक प्रेम की साधना की अभिव्यक्ति में प्रेममार्गी शाखा के कवियों को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है, परन्तु जायसी ने प्रेम का विशद वर्णन करते हुए मानव मन की एतद्विषयक सूक्ष्म वृत्तियों का भी बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है।

मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म 'आखरी कलाम' के अनुसार सं० १५५० माना जाता है। क्योंकि उपरोक्त पुस्तक में जायसी ने लिखा है—

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस वरप ऊपर कवि कथी॥

इसका तात्पर्य तो यही है कि जायसी का जन्म सन् ६०० हिजरी संवत १५५० में हुआ और उन्होंने काव्य रचना अपने जन्म के ३० वर्ष बाद प्रारम्भ की।

जायसी प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे और जायस में रहते थे। इनकी तीन रचनाएँ प्राप्य हैं—अखरावट, आखरी कलाम और पद्मावत। अखरावट में सूफी सिद्धान्तों और ईश्वर तथा जगत सम्बन्धी व्यवहारों का अक्षर क्रम से चौपाइयों में वर्णन किया गया है। 'आखरी कलाम' में प्रलय का वर्णन किया गया है, साथ ही इसलाम धर्म की साम्प्रदायिक विशेपताओं का भी निर्देश है।

जायसी की सर्व श्रेष्ठ रचना अमर प्रेम काव्य 'पद्मावत' है, जिसकी रचना का समय कवि ने इस प्रकार दिया है:—

सन् नव से सेतालिस अहा। कथा अरंभ-बैन कवि कहा॥

इस प्रकार कवि ने सन् ६४७ हिजरी (सं० १५५७ वि० के लगभग) अपने काव्य का प्रारम्भ किया था।[1]

[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में इस दोहा का पाठ 'सन नव से-सत्ताइस अहा' है। इस पाठ भेद का कारण यह बतलाया जाता है कि मूल 'पद्मावत' फारसी अक्षरों में लिखा गया था उस में सेंतालिस, का सत्ताइस पढ़ा जाना सम्भव है। डा० श्यामसुन्दरदास का इस सम्बन्ध में कथन है कि दिल्ली के तख्त पर ६२७ हिजरी में अलाउद्दीन सुलतान नहीं था, जिसकी 'पद्मावत' में वन्दना की गई है।

जायसी अपने समय के माने हुए फकीरो में गिने जाते थे। कुछ एक राजघरानों में भी इनका मान था। जायसी एक आँख से काने थे, इसी कारण इन्होंने अपनी तुलना शुक्राचार्य से की है, और एक आँख वाला होना गौरव की बात बतलाई है। यद्यपि जायसी को इसलाम धर्म में पूर्ण आस्था थी, तथापि उन्होंने हिन्दू देवी-देवताओं का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। मुहम्मद जायसी पढ़े लिखे न थे, परन्तु अनेक पण्डितों, साधुओं तथा सन्तों का सतसंग करने के कारण इनका ज्ञान काफी विस्तृत और व्यापक हो गया था। विभिन्न सम्प्रादायों के सन्तों के सम्पर्क में आने के कारण इन्होंने विभिन्न मतों तथा सम्प्रदायों की काफी जानकारी प्राप्त कर ली थी। वेद, पुराण इत्यादि विषयक ज्ञान भी इनका साधु सन्तो के सत-सग से ही प्राप्त हुआ था। हिन्दु धर्म के विभिन्न रीति रिवाजों और प्रथाओ से भी इनको पर्याप्त परिचय हो चुका था। यद्यपि कहीं कहीं इन्होने हिन्दू कथाओं के वर्णन में भूले की हैं, परन्तु ये नगण्य ही हैं। इन्हें ज्योतिष, हठयोग तथा शतरज का बहुत अच्छा ज्ञान था।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जायसी की सर्वप्रमुख रचना और साहित्यिक जगत मे उनकी अक्षय कवि का आधार 'पद्मावत' ही है।[1]

पद्मावत की प्रेम कथा अत्यम्त चिन्ताकर्षक और स्वर्गीय भावो से पूर्ण है। इसके कथानक के निर्माण मे इतिहास तथा कल्पना दोनों का ही आश्रय लिया गया है। चित्तौड़ की महारानी पद्मावती इतिहास प्रसिद्ध है, परन्तु कवि ने अपनी कल्पना का आश्रय ले इन ऐतिहासिक तत्वों को भी कल्पना के रग में रग दिया है।

'पद्मावत' में राजा रतनसेन और सिंहलद्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री राजकुमारी पद्मावती अपने अनुपम सौंदर्य के लिए विश्व विख्यात थी। उसके मादक और मधुर

[1] 'पद्मावत' के साहित्यिक गुणों का और उसके काव्यसौन्दर्य का साहित्यिक जगत में प्रकाशन का श्रेय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को है। उन्होंने 'पद्मावत' की प्रस्तावना में अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से इस महान् काव्य ग्रन्थ के विभिन्न अंगों का अध्ययन कर उसके विभिन्न काव्य गुणों का प्रदर्शन किया है।

सौन्दर्य के इच्छुक भ्रमरों की कमी नहीं थी, परन्तु पद्मावती के गुणों के अनुरूप उनमें कोई भी नहीं था। राजा के पास एक हीरामन नामक वाचाल और पण्डित तोता था, पद्मावती से एक दिन उसने वर विषयक चर्चा छेड दी, राजा ने सुन लिया और उस पर कुपित हुआ। तोता भयभीत हो उड गया।

वह बन में किसी बहेलिया के हाथ लगा और बिकता हुआ चित्तौर के राजा रतनसेन के दरबार में जा पहुँचा। उसने राजा को पद्मावती के योग्य वर समझ उससे राजकुमारी के अद्भुत सौन्दर्य का वर्णन किया। राजा सुन कर विरह से व्याकुल हो अपनी रानी नागमती और सम्पूर्ण राज पाट को छोड़ योगी के रूप में पद्मावती को प्राप्त करने की इच्छा से सिंहलद्वीप की ओर चल पड़ा। हीरामन तोता ने पथ-प्रदर्शन किया और राजा सिंहलद्वीप पहुँच गया। अनेक कष्टों और दुःखों के सहने के अनन्तर शिवजी की सहायता से रतनसेन का विवाह पद्मावती से सम्पन्न हुआ। कुछ समय पश्चात् एक पक्षी ने नागमती के वियोग और विरह दुःख का समाचार राजा को दिया, जिसे सुन राजा ने चित्तौर वापिस लौटने का निश्चय किया। अनेक कष्टों के सहने के अनन्तर वह पद्मावती सहित चित्तौर पहुँचा।

राजा की सभा में राघव चेतन नाम का एक पण्डित था, जिसे यक्षिणी सिद्ध थी, एक बार पण्डितों को नीचा दिखाने के लिए उसने। यक्षिणी के बल द्वारा प्रतिपदा के दिन द्वितीया का चन्द्रमा दिखा दिया। राजा पण्डित की इस अनाचार की कथा सुन अत्यन्त क्रुद्ध हुआ, और उसे देश से निर्वासित कर दिया। वह दिल्ली पहुँचा और बदले की भावना से प्रेरित हो उसने अलाउद्दीन से पद्मावती के अनुपम सौन्दर्य की प्रशसा कर उसे चित्तौर पर आक्रमण करने के लिए तैयार किया। पहिले तो अलाउद्दीन ने राजा रतनसेन को पद्मनी को सौंप देने के लिए पत्र भेजा। परन्तु राजा पत्र पढ़ क्रोध से जल उठा और उसने युद्ध की तैयारी का आदेश दे दिया। वर्षों तक अलाउद्दीन चित्तौर घेरे रहा, परन्तु वह उसे तोड न सका। अन्त में अलाउद्दीन राजा को बन्दी बनाने में सफल हो गया। पद्मनी अत्यन्त चिन्तित हो गयी, परन्तु उसने साहस न छोड़ा। गोरा बादल तथा ७०० अन्य वीर राजपूतों को साथ ले दिल्ली पहुँची। अपनी चतुरता और वीर गोरा बादल की सहायता से वह राजा को छुड़ा लाई।

चित्तौर पहुँचने पर राजा को पता चला कि उसके बन्दी होने पर कुम्भतानेर के राजा देवपाल ने पद्मावती को फुसलाने के लिए एक दूती भेजी थी। राजा इस बात से अत्यन्त कुपित हो देवपाल से युद्ध करने को उतारू हो गया। युद्ध मे देवपाल और रतनसेन दोनों ही मर गए।

राजा का शव चित्तौर लाया गया, उसकी दोनों रानियाँ पद्मावती और नागमती उसके साथ चिता में सती हो गईं। इधर जब अलाउद्दीन चित्तौर पर चढ आया तो उसने वहाँ उनकी भसम के अतिरिक्त कुछ न पाया।

कथानक की रोचकता और तार-तम्यता भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति और वर्णनशैली की उत्कृष्टता इत्यादि ने 'पद्मावत' को उत्कृष्ट कोटि का महाकाव्य बना दिया हैं। अलंकार इत्यादि काव्योपयोगी उपकरणों का भी स्थान स्थान पर उचित प्रयोग किया गया है। जायसी ने पद्मनी के सौन्दर्यका वर्णन करते हुए जहाँ अलंकारों का प्रयोग किया है, वहाँ पाठक में सौन्दर्य सम्बन्धी अलौकिक भावनाओं को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है।

सरवर तीर पदमिनी आई। खोपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि मुख, अंग मलय गिरि बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह् चहुँ पासा॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह् जनुराहा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा॥

इसी प्रकार जब रतनसेन पद्मिनी के प्रेम में व्याकुल हो उसे प्राप्त करने के लिए सिंहल द्वीप चला गया। तो विरहनी नागमती अत्यन्त व्याकुल हो विलाप करती है। इस विलाप वर्णन में कवि नागमती के विरह का प्रदर्शित करता हुआ प्रकृति के नाना रूपों द्वारा उस अज्ञात् के प्रति भी संकेत करता जाता है—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहैं बिरह की बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात॥

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुँघुची बन सोई॥
भई करमुखी नैन तन रानी। को सेराव बिरहा दुख ताती॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बन वासी। तहँ तहँ होइ घुँघुचि कै रासी॥
बूँद बूँद महँ जानहु जीऊ। गुँजा गूँजि करै पिउ पिऊ॥
तोहे दुख भए परास निपाते। लोहू बूढ़ि उठे होइ राते॥

राते बिव भींजि तेहि लोहू। पखर पाक फाट हिय गेहूँ ॥
देखौ जहाँ होइ सोइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता॥
नहि पावस ओहि देसरा, नहिं हेवन्त बसन्त।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कन्त ॥

जायसी का विरह वर्णन अत्यन्त मार्मिक और विशद बन पडा हैं। विरह ग्रस्त प्रेमी और प्रेमिका के साथ उन्होंने सम्पूर्ण विश्व की सहानुभूति प्रदर्शित की है, सम्पूर्ण पशु-पक्षी आदि को विरह की पीडा से संतप्त बतलाया है। विरह की अधिकता के कारण ही कौआ काला हो गया है और विरह के कारण गेहूँ का हृदय फट गया है। अनेक स्थानों पर यह विरह वर्णन अत्युक्तिपूर्ण और अवास्तविक भी जान पडता है; परन्तु अधिकांश में अत्युक्तियो के साथ उत्प्रेक्षा सूचक 'जन' 'मानो' आदि शब्दों को रखने के कारण वह यथार्थ जगत् की वस्तु न हो कल्पना की बात हो जाती है। सौन्दर्य का वर्णन करते हुए आध्यात्मिक भावनाओ का समावेश बहुत सुन्दर वन पड़ा है—

बरुनी का बरनौ इमि बानी। साधे बान जानु दुई आनि ॥
उन बानन्ह अस को जो न मरा। बेधि रहा सगरौ संसार ॥
गगन नखत जो जाहि न गनें। वै सब बान ओहि क हने ॥
धरती बान बेधि सब राखी। सासो ठाढ़ देहि सब भाखी ॥
रोंव रोंव मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े ॥
बरुनि बान ओसहँ बेधे रन बन ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवां, पंखिहि तन सब पांख ॥

'पद्मावत' महाकाव्य सम्बन्धी काव्य गुणों से पूर्ण होने के कारण उच्चकोटि का महाकाव्य कहा जा सकता है।

कबीर तथा जायसी और ज्ञानश्रयी व प्रेम-मार्गी काव्य शाखाएँ:—

कबीर और जायसी में सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई विशेष मतभेद नही। दोनों ही निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं, दोनों ही प्रेम को अपनी अपनी साधना पद्धति में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान देते हैं, और गुरू को इस विश्व में उस भगवान से मिलाने का एकमात्र साधन समझते हैं। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों साधकों में विशेष मतभेद नही तथापि दोनो के व्यक्तित्व ने दोनों को हमारे

सामने एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न रूप से पेश किया है। कबीर व्यक्तित्व की दृष्टि से प्रचण्ड, उग्र और अक्खड़ हैं, जबकि जायसी एक शान्ति साधक है। इन दोनो के व्यक्तित्व की विभिन्नता ने इन्हें काव्यक्षेत्र में विभिन्न रूपों में ही उपस्थित किया है। कबीर ने सामाजिक रूढ़ियो का अत्यन्त तीव्र शब्दों मे खण्डन किया है, और इसी कारण आचार्य शुक्ल को कहना पडा कि कबीर आदि झाड फटकार के द्वारा 'चिढ़ाने वाले' सिद्ध हुए। अन्य सन्तो के साथ जायसी की तुलना करते हुए कहा है कि इनका (कबीर आदि का) प्रयत्न 'हृदय स्पर्श' करने वाला नहीं हुआ। "मनुष्य-मनुष्यों के बीच रागात्मक सम्बध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन मे जिस हृदयसाम्य का अनुभव मनुष्य कभी-कभी किया करता है उसकी अभि-व्यजना उससे न हुई। कुतवन जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखायी पडता है। हिन्दू-हृदय और मुसलमान-हृदय को आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालो मे इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा।"[1]

कबीर आदि कवियों ने हिन्दुओं तथा मुसलमानों मे फैले कट्टरपन को दूर कर उन्हें वास्तविक रहस्य को पहिचानने के लिए प्रेरित किया। जायसी आदि प्रेम-मार्गी शाखा के कवियो ने प्रेम-गाथाओ को लिख अपनी ओर से भी इस विषय में प्रयत्न किया; परन्तु उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट ही है कि इस कार्य में प्रेम-मार्गी कवियों को ही अधिक सफलता प्राप्त हुई।

काव्य की दृष्टि से भी जायसी आदि की रचनाएँ उत्कृष्ट हैं; उनकी भाषा परिमार्जित बोलचाल की अवधी है। शब्द का भी उन्हें ज्ञान था; अलकारों का भी उन्होंने यत्र तत्र समुचित प्रयोग किया है। इनके विचार परस्पर सम्बन्धित और शास्त्रानुमोदित थे। इसके विपरीत् कबीर आदि संत कवियों की भाषा साहि-त्यिक दृष्टि से अशुद्ध थी और उनके छंद भी ऊट-पटाग थे। फिर भी देश में सूफी कवियों की नज्में अधिक प्रसिद्ध ही हुईं और न प्राचीन समय मे साहित्यिक दृष्टि से ही इनका अधिक मान हुआ। कबीर आदि सत कवियों

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १४४

का जनसाधारण पर बहुत प्रभाव था और उनकी मान्यता भी बहुत थी। इसका कारण यही समझा जाता है कि शायद इन सूफियों की साधना पद्धति और उनकी रहस्यात्मक कविता इस देश के वातावरण के अनुकूल नहीं थी, परंतु इनकी रचनाओं द्वारा जो सामाजिक हित हुआ और साहित्य की वृद्धि हुई उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

उसमानः—की लिखी 'चित्रावली' नामक पुस्तक प्राप्य है। ये गाजीपुर के निवासी शेखहुसेन के पुत्र थे, और जहाँगीर के समकालीन थे। इनके गुरू का नाम हाजी बाबा था—

बाबा हाजी पीर अपारा। सिद्ध देत जेहि लाग न वारा॥

यह हाजी बाबा शाह निजामुद्दीन की शिष्य परपरा मे थे। 'चित्रावली' का रचना काल सं० १६७० माना जाता है। प्रेम गाथाओं के वर्णन मे प्रचलित परम्परा के अनुसार प्रारम्भ में इसमें भी पैगम्बर, गुरु आदि की बदना तथा बादशाह जहाँगीर की प्रशसा की गई है।

अपने काव्य में उसमान ने जायसी का पूर्ण अनुकरण किया है। यत्र तत्र वाक्य विन्यास मे भी समता है; परतु उसमान का कथानक पूर्ण रूप से कल्पना पर आश्रित है। यह कल्पनाएँ लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकार की हैं। इस कथा में सूफी परम्परा में प्रचलित आध्यात्मिक संकेतो को लेते हुए प्रेम-मार्ग में आने वाले सकटो का वर्णन किया गया है।

'चित्रावली' में नेपाल के राजा धरनीधर पवार के पुत्र राजकुमार सुजान और रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली और सागरगढ़ की राजकुमारी कंवलावती के प्रेम और विवाह की कथा का वर्णन किया गया है। चित्रावली की चित्रसारी में राजकुमारी के चित्र को देख राजकुमार उस के अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है, परन्तु दैव वशात् वह उससे मिल नही पाता। राजकुमार उसे प्राप्त करने के लिए अनेक यत्न करता है; परन्तु सफल नहीं हो पाता। इसी दौरान में वह भटकता हुआ सागर गढ नामक नगर में पहुँच राजकुमारी कॅवलावती के उपवन में विश्राम करने लगता है। राजकुमारी राजकुमार सुजान को देख उस पर मुग्ध हो जाती है। इधर किसी अन्य सोहिता नाम के एक राजा ने कॅवलावती को प्राप्त करने की इच्छा से सागर-गढ़ पर आक्रमण

कर दिया; परन्तु राजकुमार सुजान उसे भगाने में सफल हो जाता है। कॅवलावती और राजाकुमार सुजान का विवाह हो जाता है। इधर अनेक कष्टों के अनन्तर वह चित्रावली का समाचार पाता है, और उससे विवाह करने की इच्छा से वह रूपनगर पहुँचता है। उसे वहाँ अनेक भयकर कष्टो का सामना करना पड़ता है; परन्तु अन्त में वह अपने उद्देश्य मे सफल होता है। उसका विवाह चित्रावली से हो जाता है। वह चित्रावली और कॅवलावती को साथ ले अपने देश नैपाल में पहुँच सुख से अनेक वर्षों तक राज्य करता है।

जायसी की तरह कवि ने षड्ऋतु, नगर, यात्रा, सरोवर आदि का सुन्दर वर्णन किया है; परन्तु 'पद्मावत' की सी उत्कृष्टा नहीं आ पाई।

नीचे 'चित्रावली' की कविता उदाहरण स्वरूप उद्धृत की जाती है। विरह वर्णन के अन्तर्गत षड ऋतु वर्णन:—

ऋतु बसंत नौतन वन फूला। जहँ तहँ भौंर कुसुम-रँग भूला॥
आहि कहाँ सो भंवर हमारा। जेहि बिनु वसरा बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवादहूँ दिसि लाई॥
रवि पति-ढुरद ऋतुपति बली। कानन-देह आइ दल मली॥

उसमान के पश्चात् शेख नबी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद आदि कवि हुए, परन्तु प्रेम गाथाओं की प्रचुरता समाप्त हो गई और वह धारा क्षीण पड गई।

राम भक्ति शाखा

(वैष्णव धारा के अन्तर्गत)

पीछे सगुणोपासक वैष्णव धर्म की धारा पर विचार करते हुए हमने वैष्णव धर्म के विकास और इतिहास का वर्णन किया है। हिन्दी कवियों की 'राम-भक्ति-शाखा' वैष्णव भक्ति की धारा के अन्तर्गत ही है।

भारत में भक्ति और ज्ञान की धारा प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है। कभी ज्ञान मार्ग की प्रधानता रही है तो कभी भक्ति की, परन्तु भक्ति मार्ग मानव-प्रकृति के लिए अधिक आकर्षक रहा है, इसलिए भारत में इस की लोकप्रियता सदा ही रही है। वैदिक काल में भी भक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति अनेक मत्र सृष्टा ऋषियों के मंत्रों से होती रही। इधर वैदिक काल

के पश्चात् कर्मकाण्ड की प्रधानता और यज्ञ में पशु बलि की अधिकता के फलस्वरूप भारत में तीन सुधारवादी आन्दोलनों का उदय हुआ। यह आन्दोलन वासुदेव धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म के नाम से प्रख्यात हैं। वासुदेव धर्म मे भक्ति की प्रधानता थी और इस में वासुदेव की उपासना पर विशेष बल दिया गया था। इसको प्राचीन काल में एकान्तिक धर्म भी पुकारा जाता था और इस में एक ही देव की पूजा का विधान था। बाद में यही भगवत धर्म या पचरात्र के नाम से पुकारा गया। नारायण धर्म और विष्णु धर्म के मिलने से इसका नाम वैष्णव धर्म पड गया। भागवद गीता, उपनिषद्, सॉख्य-योग से अनेक सिद्धान्तों को ले इस का दार्शनिक आधार दृढ किया गया। प्रारम्भ में बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण इस का अधिक विस्तार न हो सका।

बौद्ध धर्म के पतन के समय श्रीस्वामी शकराचार्य ने अपने तीव्र तर्कों से बौद्ध मत का खंडन कर शाकर वेदान्त का व्यवस्थापन किया; परन्तु शाकर वेदान्त मानवात्मा को सन्तुष्ट न कर सका। फलस्वरूप वैष्णव धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ और स्वामी रामानुजाचार्य ने मानव की अतृप्त आत्मा को एक बार फिर भक्ति का सम्बल प्रदान किया। रामानुज ने विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिपादन के द्वारा शकराचार्य के मायावाद का खण्डन किया, और जगत् की सत्यता को स्वीकार करते हुए 'पदार्थ त्रियम'—जीव, ब्रह्म तथा प्रकृति की सत्यता को सिद्ध किया। रामानुज ने अद्वैतता को स्वीकार अवश्य किया है, परन्तु इन के द्वारा स्वीकृत अद्वैतता विशिष्ट अर्थात् विशेषण युक्त है। ये जीव तथा जगत् को ब्रह्म का विशेषण मानते हैं। विशिष्टाद्वैतवाद मे ब्रह्म की प्राप्ति का एक मात्र साधन भक्ति ही बतलाया गया है। रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर 'श्री भाष्य' लिखा और बडी विद्वत्तापूर्वक जगत् की सत्यता का और ईश्वर की सगुणता का प्रतिपादन किया। इनका मत श्री सम्प्रदाय कहलाया, और इसके द्वारा विष्णु या नारायण की उपासना का प्रचार किया गया। रामानुज ने भक्ति की भावना पर अधिक बल दिया था, जब कि इनके पीछे के आचार्यों ने प्रपत्ति या शरणागत के भाव को मुख्यता प्रदान की है। रामानुज स्वभाव से बहुत उदार थे, और वे शूद्रों को भी भक्ति का अधिकार देने का समर्थन करते थे; परन्तु उनके विचार जाति पाति के

विरोधक न होकर पोषक ही अधिक थे। फिर भी तत्कालीन समाज में प्रचलित सम्पूर्ण धार्मिक सभ्यताओं को स्वीकार कर रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म का रूप व्यापक बना दिया।

रामानन्द और रामभक्ति शाखा :—रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा की पाँचवी पीढ़ी में स्वामी रामानन्द हुए। उन्होंने विष्णु के स्थान पर उनके लोक-कल्याणकारी स्वरूप राम की उपासना का प्रचार किया। वैसे रामोपासना बहुत प्राचीन काल से ही इस देश में चली आ रही थी, और विगत शताब्दियों की धार्मिक भावनाओ और चिन्तन विकास की खोज करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि राम की उपासना बहुत प्राचीन है। वैष्णव भक्ति में भी राम भक्ति कृष्ण भक्ति से प्राचीन है। मध्ययुग में निश्चय ही स्वामी रामानन्द ने रामोपासना पर विशेष बल दिया। राम की उपासना उन्हें परमब्रह्म मान कर ही की गई है। रामानन्द ने अपने अद्भुत व्यक्तित्व और उदार विचारों द्वारा उत्तर भारत की भक्ति सम्बन्धी धारणाओं में एक नवीन लहर उत्पन्न कर दी। स्वामी रामानन्द ने सम्पूर्ण भारत का पर्यटन किया और अपनी विचार धारा का प्रचार भी किया; परन्तु रामानन्द के भक्ति के सन्देश को इतनी व्यापकता कैसे प्राप्त हुई? इसके कुछ और ही कारण हैं। वैष्णव भक्ति के इतिहास में स्वामी रामानन्द ने ही सर्व प्रथम भक्ति की भावना को लोक व्यापक बनाया, विना भेद-भाव के सम्पूर्ण जन समाज को उन्होंने भक्ति का अधिकारी घोषित कर दिया। इस प्रकार जब क्या स्त्री और क्या शूद्र सभी को भक्ति का अधिकार प्राप्त हो गया तो भक्ति की भावना का व्यापक होना स्वाभाविक ही था। दूसरा स्वामी रामानन्द और उनके शिष्यों ने अपने भावों के प्रगटिकरण के लिए संस्कृत का आश्रय छोड़ जन सामान्य की भाषा को अपना माध्यम बनाया। हिन्दी ने भक्ति की ज्योति से प्रकाशित हो उत्तर भारत के हिन्दुओं के हृदयों को इस कल्याणकारी प्रकाश से भर दिया। जन सामान्य एक बार फिर भक्ति पूर्ण गीतों, आख्यानों और कथाओं को सुन अपने सुख-दुःख को भूल भक्ति की भावना से झूम उठा। शीघ्र ही हिन्दी में युग युग तक अमर रहने वाले गीतों और महाकाव्यों की रचना प्रारम्भ हुई। राम-भक्ति धारा ने जन सामान्य के जीवन में एक क्रान्ति पैदा कर दी, जनता निर्गुण ब्रह्म के उपासक कबीर आदि

की अटपटी बानी को सुनते थे, परन्तु उन के मन को सन्तोष नहीं हो पाता था। इधर लोक-मर्यादा-विरोधी प्रचार भी समाज के लिए अत्याधिक अहितकर था। रामभक्ति शाखा के कवियों ने हिन्दू जनता के सम्मुख भगवान् राम के लोकोपकारक रूप को रख उसे उसकी महान संस्कृति की उत्कृष्टता का अनुभव कराया। समाज में फैल रही अव्यवस्था का अन्त हुआ, और हिन्दु जनता भगवान् राम के कल्याणकारी रूप का स्मरण कर गद्गद् हो उठी। इस प्रकार साहित्यिक तथा सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से रामभक्ति शाखा का बहुत महत्व है।

रामभक्ति-शाखा की मुख्य मुख्य विशेषताओं का संक्षिप्त परिचयः—

१—रामभक्ति शाखा के कवि वैष्णव थे, अ वैष्णव धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार भगवान् राम को विष्णु का अवतार मान उसकी उपासना करते थे। वे उसको ब्रह्म से भी ऊपर मानते थे। भक्ति में सेवक सेव्य भाव को प्रमुखता दिए जाने पर बल दिया जाता था। भक्ति को ज्ञान तथा कर्म से श्रेष्ठ माना गया, और भक्ति में भी सगुण भक्ति को ही स्थान दिया गया।

२—प्राचीन भारतीय संस्कृति के लिए प्राचीन सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा करने का विशेष प्रयत्न किया गया। भक्तों ने अपनी कविता तथा उपदेशों द्वारा हिन्दु जनता को वर्ण व्यवस्था तथा सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्था को भग न करने की प्रेरणा की। इस विषय में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया।

३—शुद्ध भारतीय-साधना-पद्धति और रचना शैली को अपनाया गया। यद्यपि भक्तों का मतलब कविता द्वारा भावाभिव्यक्ति से ही था, और उन्होंने कविता के लिए कविता को कदापि कभी नहीं किया तथापि पूर्व काल से चली आ रही काव्यक्षेत्र में अव्यवस्था को उन्होंने समाप्त कर, एक व्यवस्था को स्थापित किया। भक्त कवियों की रचनाएँ काव्य गुणों की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ी हैं। आदर्शों की उच्चता तथा भक्तिपूर्ण भावनाओं की प्रबलता के कारण काव्य में प्रवाह का आ जाना स्वाभाविक ही था।

४—रामभक्ति शाखा के कवियों की भाषा अवधी और ब्रज दोनों ही थीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने अवधी को साधारण बोल-चाल की भाषा से उत्कृष्ट साहित्य की भाषा बना दिया। जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों की अवधी बोलचाल की अवधी है, परन्तु गोस्वामी जी की संस्कृत मिश्रित साहित्यिक। राम भक्ति-शाखा के कवियों ने तत्कालीन काव्य भाषा ब्रज में भी रचनाएँ की हैं। सन्त कवियों की भाँति इनकी भाषा अटपटी या अशुद्ध न होकर पूर्ण रूपसे प्राजल और साहित्यिक है।

५—राम भक्ति शाखा के कवियों की रचनाएँ मुक्तक और प्रबन्ध दोनों ही रूप में उपलब्ध हैं, और दोनों में ही उन्हें काफी सफलता प्राप्त हुई है।

६—इस शाखा के कवि अपने उपास्य देव का गुण गान करना अपना परम धर्म समझते थे। इस प्रकार जहाँ वे अपने हृदय के उल्लास की अभिव्यक्ति करते वहाँ वे अपने सुख-दुःख का प्रगटिकरण आत्म-निवेदन के रूप में करते।

७—राम भक्ति शाखा के कवि पहुँचे हुए भक्त थे। वे अत्यन्त विनीत और नम्र-स्वभाव के थे। सन्तों में और इन भक्त कवियों में मौलिक भेद था। संत कवि हिन्दुसमाज की जाति-पाँति की व्यवस्था का तीव्र विरोध करते परन्तु अपने आप को समाज के अन्य निकृष्ट जीवों से उच्च समझते, परन्तु भक्त कवि वर्ण व्यवस्था द्वारा समाज में उत्पन्न ऊँच-नीच मर्यादा को स्वीकार करते थे और समाज में उच्चता के अधिकारी होते हुए भी अपने आप को 'तृणादपि सुनीचेन' तृण से भी गया गुज़रा समझते थे। वे अपने आपको इस भवसागर मे भटकता हुआ गुमराह प्राणी समझ अपने कल्याण के लिए भगवान् के सम्मुख सदा ही नत सिर थे। एक को ज्ञान पर गर्व था और दूसरे को अपने अज्ञान पर भरोसा। संत कवियों ने बहुत सी बातें हठ योगियो से उत्तराधिकार में प्राप्त की थीं, उसी का ही परिणाम है कि कबीर आदि सन्त कवियों ने योगियों की उपरोक्त बातें ग्रहण की।

८—भक्त-कवियों ने कभी राजाश्रय की इच्छा नहीं की। जो लिखते थे यातो स्वान्तः सुखाय या लोक हितार्थ लिखते थे। भक्त कवि तो वास्तव में

तत्कालीन जन नायक थे, और सदा जनता के हित के लिए ही वह, लिखते रहे। परन्तु रीतिकालीन कवियों में यह बात नहीं थी, वे सदा अपने आश्रय-दाताओं की प्रसन्नता के लिए ही रचना करते, और उन्हीं की प्रवृत्तियों का अनुसरण करते।

राम-भक्ति शाखा के कवि और काव्य

स्वामी रामानन्दः—आचार्य रामानुज के अनुयायी थे, और उन्ही के 'श्री सम्प्रदाय' में दीक्षित हुए थे। रामानन्द के गुरू का नाम राघवानन्द था। किसी आचरण विषयक विषय पर रामानन्द का गुरू से मतभेद हो गया। उन्होंने मठ त्याग दिया और उत्तर भारत की ओर चले आए। कहा जाता है कि यह मठ अत्याधिक सम्पदाशाली था। स्वामी रामानन्द ने इतनी बड़ी सम्पत्ति को गुरू से विचार भेद होने के कारण त्याग अपनी स्वतंत्र चिन्तन शक्ति का परिचय दिया। उत्तर भारत में राम-भक्ति को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन को लोक व्यापक बनाने का श्रेय स्वामी रामानन्द को ही है। यह प्रसिद्ध है कि—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्त दीप नवखण्ड॥

रामानन्द के क्रान्तिकारी विचारो में सबसे महत्त्वपूर्ण उनकी भक्ति विषयक उदार धारणा थी। उन्होंने भक्ति का द्वार सब के लिए खोल दिया। उन्होंने यह अनुभव किया कि जो भगवान् की शरण में आजाए उसके लिए वर्णाश्रम व्यवस्थ के बन्धन व्यर्थ हैं। इसी कारण उन्होंने अपनी शिष्य परपरा में विभिन्न जातियों के सन्तों को दीक्षित किया। इन की सख्या १२ थी—

रैदास (चमार), कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट), सेना (नाई), पीपा (राजपूत), भवानंद, सुखानंद, आशानन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द, श्री आनन्द।

इन शिष्यों में से अनेक हिन्दी के उत्कृष्ट कवि हुए और उन्होंने अपने मतों को भी चलाया।

दूसरा स्वामी रामानन्द ने सस्कृत का आश्रय छोड़ लोक भाषा हिन्दी को ही अपने विचारों के प्रचार का माध्यम बनाया। उनके सम्पूर्ण शिष्यों ने

भी इस विषय में स्वामी रामानन्द का ही अनुसरण किया। रामानन्द की शिष्य परम्परा में ही गोस्वामी तुलसीदास हुए जिन्होंने अपने अमर काव्य 'राम चरित मानस' द्वारा जहाँ काव्यरस पिपासुओं की आत्मा को तृप्त किया वहाँ उत्तर भारत की धर्मप्राण जनता के लिए एक अद्भुत भक्ति का सम्बल प्रदान किया।

स्वामी रामानन्द के जीवन के विषय में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। परपरा से चली आई जनश्रुतियों के आधार पर ही उनका समय भी निश्चित किया जाता है, इनके अनुसार विद्वानोंने इनका समय १५ वीं शताब्दी के चतुर्थ और १६ वीं शताब्दी के तृतीय चरण के भीतर माना है।

रामानन्द लेखक की दृष्टि से बहुत उच्चस्थान प्राप्त नहीं कर सकते। उनके रचे हुए केवल दो सस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध है—वैष्णवमताब्ज भास्कर, और श्री रामानन्द पद्धति। वैसे पीछे के कुछ एक ग्रन्थ उनके नाम से प्रसिद्ध कर दिए गए, परन्तु वस्तुतः वे उन्होंने नहीं लिखे। स्वामी रामानन्द ने हिन्दी में भी देवताओं की स्तुति में कुछ पद रचे हैं, परन्तु उनमें से अब तक केवल दो ही प्राप्त हुए है। एक पद हनुमानजी की स्तुति में है—

आरति कीजै हनुमानलला की। दुष्ट दलन रघुनाथ-कला की॥
जाके बल-भरते महि काँपै। रोग सोग जाकी सीमा न चाँपै॥
अंजनी-पुत्र महा बल-दायक। साधु संत यह सदा सहायक॥
बाँए भुजा सब असुर सँहारी। दहिन भुजा सवता उबारी॥
लछिमन धरति मे मूर्छित परयो। पैठि पताल जम कातर तोरयो॥
आनि सजीवन प्रान उबारयो। मही सवन के भुजा उदारयो॥
गाढ़ परे कपि सुमिरौ तोही। होहु दयाल देहु जस मोहीं॥

इत्यादि।

गोस्वामी तुलसीदास:—न केवल हिन्दी के ही अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के अनुपम रत्न हैं। गोस्वामीजी का उदय उस संक्राति काल में हुआ जिस समय कि भारत की हिन्दु जनता महान् परिवर्तनों में से गुजरती हुई एक नवीन संस्कृति का निर्माण करने जा रही थी। जिस समय समाज में हठयोगियों और कबीर आदि सन्तों की वाणी के प्रभाव स्वरूप एक प्रकार की अव्यवस्था

उत्पन्न हो रही थी। क्योंकि जहाँ कबीर आदि सन्त कवि और हठयोगी प्राचीन काल से चली आ रही वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध करते और प्रत्येक मत की साधना पद्धति को व्यर्थ ठहराते, वहाँ वे उनका स्थान लेने के लिए कोई भी योजना को प्रस्तुत न कर सके। परिणाम स्वरूप समाज में एक ऐसे (Vaccum) रिक्त स्थान के उत्पन्न हो जाने की आशका थी, जो कि देश और जाति के लिए किसी प्रकार भी हितकर न हो सकता। ऐसी अवस्था में गोस्वामी तुलसीदास ने जनता के मानसिक सन्तुलन को स्थापित करने के लिए भगवान् राम के आदर्श चरित्र को काव्य के रूप में उपस्थित किया। उन्होंने अपनी कल्याणकारिणी वाणी द्वारा जनता में पुनः भक्ति और आशा का सदेश दिया। चिरकाल से भक्ति रस के पिपासुओं के लिए एक ऐसे ग्रन्थ का अभाव था जो कि उनके लिए भक्ति के रसास्वादन के साथ २ जीवन के उच्चादर्शों को भी उपस्थित कर सके। तुलसीदास के 'राम चरित मानस' ने इस कमी को पूर्ण किया और 'राम चरित मानस' के रूप में प्रत्येक हिन्दु गृहस्थ के घर में भक्ति की धारा को प्रवाहित किया। गोस्वामी तुलसीदास का साहित्य जहाँ समाज के लिए कल्याणकारी था वहा वह साहित्यिक गुणा से भी सम्पन्न था। अपनी अलौकिक प्रतिभा और दिव्य काव्य शक्ति द्वारा वे देश और काल की ीमा को लाघ सार्वदेशिक और सार्वकालिक होगा। तुलसीदास को बीते ाब्दियाँ व्यतीत हो गयीं, परन्तु उनका काव्य आज भी उसी प्रेम और आदर से पढ़ा जाता है, जैसा कि शताब्दियो पूर्व। उनका काव्य नित्य-नवीन है, तथा प्रत्येक काल और देश में वह मानवात्मा की शान्ति और आनन्द को प्रदान करता रहेगा।

जीवन वृत्तान्त :—प्रायः भारतीय साहित्यिकों में से बहुत कम ही ने अपने विषय में कुछ लिखा है। गोस्वामीजी भक्त थे और इसी कारण उन्होंने अपने विषय में कहीं कुछ नहीं लिखा, उनकी पुस्तकों में ऐसे बहुत थोड़े ही स्थल उपलब्ध होंगे, जिसमें उन्होने अपने विषय में कुछ संकेत किया हो। गोस्वामीजी के जीवन वृत्तान्त पर प्रकाश डालने वाली सामग्री निम्नलिखित ग्रन्थों से मिलती है—

(१) दो सौ वैष्णवन की वार्ता (गोकुलनाथ सं० १६२५)

(२) भक्तमाल (नाभादास सं० १६४२)

(३) भक्तमाल पर प्रियादास की टीका।

(४) गोसाईं चरित (बाबा वेणीमाधवदास (सं० १६८७)

(५) तुलसी चरित (बा० रघुबरदास)

(६) 'मानस मयंक' नाम की मानस पर एक प्राचीन टीका।

इसके अतिरिक्त पं० रामगुलाम द्विवेदी, शिवसिंह सेंगर और सर जार्ज ग्रियर्सन ने गोस्वामीजी के जीवन के विषय में पर्याप्त अनुसन्धान किया है। गोस्वामीजी के काव्य ग्रन्थो में आत्म-निवेदन के रूप में कहे गए कुछ स्थल और यत्र तत्र बिखरे हुए एतद् विषयक संकेत भी उनके जीवन वृत्तान्त के जानने में कुछ सहायता करते हैं, परन्तु प्रमाणिक रूप से अभी तक उनका सम्पूर्ण जीवन वृत्तान्त तैयार नहीं किया जा सका। क्या इधर उधर बिखरे हुए तथ्यों को एकत्रित करने से एक शृङ्खलाबद्ध जीवन का निर्माण नहीं किया जा सकता, और नहीं उसे सम्पूर्ण रूप से प्रमाणिक ही कहा जा सकता है। दूसरा ये संकेत और उपरोक्त ग्रन्थों में वर्णित घटनाएं गोस्वामीजी के जीवनी के बाह्य स्वरूप को भी बड़ी कठिनता से बता पाते हैं, जब कि एक प्रमाणिक और पूर्ण जीवनी में मानसिक विकासक्रम और विभिन्न परिस्थितियों के परिचय के साथ साथ ग्रन्थों का निश्चित रचनाक्रम भी प्रमाणिक होना चाहिए।

जन्म संवत्:—गोस्वामी जी की जीवनी विषयक अब तक प्राप्त सामग्री पूर्ण-रूप से न सही तो भी आंशिक रूप से संदिग्ध है। इसी कारण उनके जन्म संवत् के विषय में भी अनेक मत हैं। पं० रामगुलाम द्विवेदी के मत के आधार पर डा० सर जार्ज ग्रियर्सन ने गोस्वामी जी का जन्म सं० १५८६ वि० में माना है, परन्तु बा० वेनीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित' में गोस्वामी जी का जन्म-संवत् १५५४ वि० है—

पन्द्रह सै चौवन विषै कालिन्दी के तीर।
श्रावन सुक्ला सप्तमी तुलसी धरयो शरीर॥

बा० राघवदास कृत 'तुलसी-चरित' और 'राम-चरित मानस' पर की गई 'मानस-मयंक' नाम की टीका भी 'गोसाईं चरित' वाले सम्वत् का ही समर्थन करती है। पं० रामगुलाम द्विवेदी का मत भक्तों की जनश्रुति के आधार पर

ही आश्रित है। डा० श्यामसुन्दरदासजी 'गोसाईं-चरित' में दिए जन्म-सं० की प्रमाणिकता को ही स्वीकार करते है।

मृत्यु संवत:—गोस्वामीजी की मृत्यु के विषय मे निम्नलिखित दोहा बहुत प्रसिद्ध है:—

संवत् सोलह सौ असी, असी गङ्ग के तीर।
स्रावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परन्तु बाबा बेणीमाधवदास कृत् 'गुसाईं चरित' में इस दोहे के उत्तरार्द्ध का का पाठ इस प्रकार है——

'श्रावण श्यामा तीज सनि, तुलसी तज्यौ शरीर'।

गोस्वामीजी के परम मित्र टोडरमल के बंशज अब भी उपरोक्त तिथि पर ही गोस्वामीजी के नाम से सीधा देते हैं, जिससे उपरोक्त तिथि की पुष्टी होती है। श्रावण शुक्ला सप्तमी तो वास्तव में गोस्वामी जी की जन्म तिथि हैं। अतः मृत्यु संवत् निश्चित् रूप से १६८० माना जा सकता है।

जन्मस्थान गोत्र तथा विवाह:—गोस्वामीजी के जन्मस्थान के विषय में अनेक प्रकार के मत प्रगट किए जाते हैं। कुछ तो यह सौभाग्य बाँदा जिला में स्थित राजपुर नामक ग्राम को प्रदान करते है जबकि कुछ चित्रकूट के निकट हाजीपुर नामक ग्राम को। इधर ला० सीताराम ने एटा जिला में स्थित सोरों नामक स्थान को गोस्वामी जी का जन्म स्थान सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने भी इसी स्थान को उनका जन्म स्थान माना है, परन्तु बहुमत सयुक्त प्रान्तके बाँदा जिला में स्थित राजपुर को ही गोस्वामीजी का जन्म स्थान मानने के पक्ष में हैं। डा० श्यामसुन्दरदास, प० रामगुलाम द्विवेदी, आचार्य शुक्ल तथा तुलसी चरित आदि इसी मत का समर्थन करते हैं। दूसरा ऐसा सुना जाता है कि यहीं पर गोस्वामी जी के हाथ से लिखी हुई 'रामचरित मानस' की प्रति विद्यमान है।

ये सरयू पारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। माता के नाम के प्रमाण में रहीम का यह दोहा सर्व प्रसिद्ध है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी सों सुत होय।

जनश्रुति यह है कि गोस्वामी जी अभुक्त मूल में उत्पन्न हुए और माता पिता द्वारा त्याग दिए गए थे। गोस्वामी जी ने स्वयं भी लिखा है "मातु पिता जग जाइ तज्यौ विधिहु न लिख्यो कछु भाल भलाई" इसी प्रकार "जनक जननि तज्यो जनमि, करम बिनु विधिहु सृज्यो अब डेरे" और "तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यौ मातु पिता हू" इत्यादि कथनों से भी उपरोक्त मत का ही समर्थन होता है। इधर 'गोसाईं चरित' में बाबा वेणीमाधवदास ने भी उपरोक्त घटना का विस्तृत वर्णन दिया है और सम्पूर्ण स्थिति को स्पष्ट कर दिया है। बाल्यावस्था में ही इन्हें काफ़ी कष्ट सहने पड़े। इनके माता-पिता ने इन्हें अपनी दासी मुनिया को इन के पालन-पोषण के लिए सौंप दिया; परन्तु कुछ ही समय पश्चात् मुनिया का देहावसान हो गया और ये फिर अकेले रह गए।

बाबा नरहरिदास ने इन पर दयार्द्र हो इनको शिक्षा दी और पालन पोषण प्रारम्भ किया। इन्हीं से गोस्वामी जी ने सर्व प्रथम रामायण की कथा को सुना। गोस्वामी जी बाबा नरहरि के संग काशी में रहते थे। वहीं एक उच्च-कोटि के पंडित शेष सनातन भी रहते थे, जिनसे इन्होंने वेद वेदांग इत्यादि पढ़े। लगभग १५ वर्ष तक काशी में रह कर गोस्वामीजी ने शास्त्र ज्ञान को प्राप्त किया, तदनन्तर यह अपने ग्राम लौट आए। वहीं इन के शील स्वभाव और विद्वता से मुग्ध हो एक अन्य ग्राम के ब्रह्मण ने अपनी कन्या का विवाह इनसे कर दिया।

गोस्वामीजी के विवाह के विषय में कुछ आलोचकों द्वारा सन्देह प्रकट किया गया है। यह सन्देह गोस्वामी जी के स्त्री सम्बन्धी विचार और उनका एक पद्यांश "ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं" पर आधारित है। स्त्रियों के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर गोस्वामीजी ने अत्यन्त कटु शब्द कहे हैं, अतः कुछ आलोचक इन विचारों के अध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि गोस्वामीजी का विवाह ही नहीं हुआ था। गोस्वामीजी सम्पूर्ण आयु एक वैरागी के रूप में ही रहे, इसी कारण वह स्त्री स्वभाव और उसके

गुणों से अपरिचित रहे।

परन्तु परम्परा से चली आ रही गोस्वामीजी के जीवन से सम्बन्धित कथाएँ उपरोक्त मत का समर्थन नहीं कर पातीं।[1] परम्परा से यह प्रसिद्ध चला आता है कि गोस्वामीजी अपनी पत्नी रत्नावली[2] पर बहुत मुग्ध थे। एक दिन उसके अपने पीहर चले जाने पर और उसके वियोग में न रह सकने के कारण गोस्वामीजी का पर्याप्त कष्टों को सहकर भी सुसराल पहुँचना और अपनी पत्नी द्वारा निम्नलिखित शब्दों में फटकारा जाना सर्वविदित है—

लाज न आवत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ हौं नाथ॥
अस्थि चरम मय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
होती जो श्रीराम महँ, होती कतो भव भाति॥

इन शब्दों का प्रभाव जादू का सा असर हुआ। गोस्वामी जी लौट पड़े, उनका अनुराग सचमुच ही श्री राम की ओर प्रवाहित हो चला। वह विरक्त हो घर-बार छोड़ देश के विभिन्न तीर्थों के भ्रमण के लिए निकल पड़े। उपरोक्त घटना का वर्णन वेनीमाधव दास कृत 'गोसाईं चरित' और प्रियदास कृत 'भक्त माल' की टीका में भी मिलता है।

तीर्थाटन:—विरक्त होने के अनन्तर गोस्वामीजी ने विभिन्न तीर्थों और देश के विभिन्न भू भागों का भ्रमण किया। ऐसा कहा जाता है कि उत्तर में मानसरोवर और दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर तक इन्होंने सहस्रों मील की यात्रा की; और अनेकों तीर्थों के दर्शन किए। गोस्वामी जी की रचनाओं से विदित होता है कि गोस्वामीजी का चित्त चित्रकूट में विशेष रूप से रमा था। ऐसा प्रसिद्ध है कि यहीं पर महात्मा सूरदास गोस्वामी तुलसीदास से मिले थे। तीर्थ यात्रा करते हुए ये मथुरा वृन्दावन भी पहुँचे, कहते हैं वहाँ गोस्वामीजी ने श्री कृष्ण की मूर्ति के सम्मुख यह दोहा पढ़ा।

---

[1] तुलसी चरित के अनुसार गोस्वामी जी के तीन विवाह हुए थे, तीसरी पत्नी का नाम बुद्धिमति था, जिससे उन्हें तारक नाम का पुत्र भी उत्पन्न हुआ था।

[2] रत्नावली भी कविता करती थी, इधर हाल ही में इनकी एक पुस्तक भी प्रकाशित हो गई है, जिसमें रत्नावली के पश्चाताप का वर्णन है।

का बरनउँ छवि आजु की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बान लेउ हाथ॥

यह सुन श्री कृष्ण ने ऐसा ही किया। कुछ आलोचक इसकी सत्यता में सन्देह प्रगट करते हुए, इसे बाद का लिखा हुआ मानते हैं।

सम्भव है वृन्दावन का यात्रा करते हुए ही गोस्वामी जी ने 'कृष्ण-गीतावली' लिखी हो।

काशी और अयोध्या गोस्वामी जी के निवास स्थान थे। परन्तु जीवन के साध्य काल में इन्होंने काशी को ही अपना निवास स्थान बनाया और वहीं अपनी साहित्यिक रचनाएँ कीं। इस तीर्थयात्रा के समय गोस्वामी जी ने अनेकों साधु सन्तों की संगत की और बहुत अनुभव प्राप्त किया। अतः इनकी रचनाओं मे गाम्भीर्य और प्रौढ़ता का होना स्वाभाविक ही था। सं० १६३१ के लगभग इन्होंने काशी में आकर अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामचरित मानस' की रचना प्रारम्भ की। लगभग ढाई वर्ष में गोस्वामी जी ने इस एक महाकाव्य ग्रन्थ को पूरा किया। इस का अधिकाश भाग काशी में ही लिखा गया और कुछ अन्यत्र भी।

गोस्वामी जी का साहित्यः—गोस्वामी जी के लिखे हुए ३७ ग्रन्थ बतलाए जाते हैं, परन्तु केवल १२ ग्रन्थ ही प्रमाणिक माने जाते हैं। शेष या तो बाद में लिखे गए हैं, या इन्हीं पुस्तकों में से विभिन्न अंशों का संग्रह मात्र हैं। इन १२ ग्रन्थों का रचना काल और उनका सचिप्त परिचय नीचे दिया जाता है—

(१) रामलला नहछूः—का निर्माण लगभग संवत् १६३६ में हुआ होगा। यह २० सोहक छन्दों की छोटी सी कविता पुस्तक है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि गोस्वामी जी ने इसे तत्कालीन स्त्री समाज में प्रचलित अश्लील गीतों के स्थान पर स्त्रियों के गाने के लिये बनाया था। इस में श्री रामचन्द्र जी के विवाह के समय नाईन द्वारा नख काटने की रीति का वर्णन है। यह क्रिया यज्ञोपवीत के अवसर पर भी की जाती है, इसमें अयोध्या जी और कौशल्या जी का उल्लेख है, इसलिए बहुत से आलोचक इसे यज्ञोपवीत के समय का मानते हैं।

(२) वैराग्य संदीपनी:—का रचना काल १६६९ माना गया है। इसमें दोहा, चौपाई, तथा सोरठा छन्द में साधु-सन्तों के लक्षण स्वभाव और उनकी महिमा का वर्णन है। इसकी भाषा ठेठ अवधी है।

(३) बरवे रामायण:—ऐसा कहा जाता है कि गोस्वामी जी ने इस का निर्माण अपने परम मित्र अब्दुर्र-रहीम खानाखाना के अनुरोध पर किया था। इसमें सात काण्ड और ६९ छन्दों में रामचरित का वर्णन है। छन्द बहुत उत्कृष्ट हैं, अलकारा का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है, भाषा ठेठ अवधी है। इसके तलसीकृत होने में सन्देह किया जाता है। डा० माता प्रसाद गुप्त ने इसकी रचना का समय १६६४ ठहराया है परन्तु अधिकाश आलोचक इसकी रचना सं० १६६९ वि० में हुई मानते हैं।

(४) पार्वती मंगल:—का रचना काल सं० १६४३ है। मिश्र बन्धु इसे तुलसीकृत नहीं मानते। इसमें १६४ अरुण और हरिगीतिका छन्दों में शिव तथा पार्वती के विवाह की कथा का वर्णन किया गया है। इसकी भाषा पूर्वी अवधी है।

(५) जानकी मंगल:—में राम विवाह का वर्णन है। इसकी कथ बाल्मीकीय रामायण से प्रभावित है। गोस्वामी जी जब मिथिला गए थे उस समय उन्होंने इसकी रचना की थी। इसका रचना काल स० १६४३ ठहराया जाता है।

(६) रामाज्ञा प्रश्न:—का निर्माण गोस्वामी जी के मित्र पण्डित गगाराम ज्योतिषी के आग्रह पर हुआ था। इसमें ७ सर्ग है, और प्रत्येक सर्ग में ४९ दोहे हैं। विषय बाल्मीकीय रामायण से प्रभावित राम कथा है। इसकी भाषा ब्रज-मिश्रित अवधी है।

(७) दोहावली:—का रचना काल स० १६४० माना जाता है। यह विभिन्न विषयों पर गोस्वामी जी द्वारा लिखे गए दोहों का संग्रह मात्र है, और यह अनुमान किया जाता है कि गोस्वामी जी की मृत्यु के पश्चात् गोस्वामी जी की विभिन्न रचनाओं से दोहों का इस में संग्रह कर दिया गया। यह स्वतन्त्र रचना नहीं है।

(८) कृष्ण-गीतावली:—का रचना काल संवत् १६२८ है। 'गोसाईं-चरित' के अनुसार इसकी रचना चित्रकूट में की गई थी, परन्तु कुछ अन्य आलोचकों का यह विचार है कि जब गोस्वामी जी वृन्दावन की यात्रा पर गए थे तो उस समय वृन्दावन में ही इसकी रचना की गई। इस में व्रज भाषा में भगवान् कृष्ण की कथा का वर्णन किया गया है'। इसमें कुल ६१ पद हैं।

(९) कवित्त रामायण:—का दूसरा नाम 'कवितावली' भी है। इस में तुलसीदास जी के समय समय पर लिखे राम-चरित सम्बन्धी स्फुट छन्दों का संग्रह है। छन्दों में कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, और षट्पदी का प्रयोग किया गया है। रचना शैली बहुत उत्कृष्ट, भाव परिमार्जित और साहित्यिक है। काव्यगुणों की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत उत्कृष्ट है। इसकी रचना तुलसीदास जी की मृत्यु से कुछ समय पूर्व ही हुई थी। इसका रचना काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। 'गोसाईं चरित' में भी कोई चर्चा नहीं।

(१०) गीतावली:—का रचना काल सं० १६२६ माना गया है। यह पुस्तक गोस्वामी जी द्वारा रचित राग रागनियों का संग्रह है। विषय राम चरित ही है, भाषा व्रज है, शृंगार, करुण और वात्सल्य भावनाओं की प्रचुरता है।

(११) विनय पत्रिका:—कुछ आलोचकों की दृष्टि में गोस्वामी जी की सर्व श्रेष्ठ रचना है। इसमें विभिन्न राग,रागनियों का प्रयोग किया गया है, और उन्हीं द्वारा विभिन्न देवी देवताओं के प्रति विनय पूर्ण पद लिखे गए हैं। ऐसा कहा जाता है कि जब गोस्वामी जी कलि काल द्वारा अत्यन्त पीड़ित किए गए तो उस समय इन्होंने भगवान् राम के राज दरबार में अपनी एक अर्जी 'पत्रिका' प्रस्तुत करने को तैयार की। इस में सम्पूर्ण राज दरबारी नियमों का बहुत ध्यान रक्खा गया है। भावनाओं की अभिव्यक्ति की दृष्टि से निसन्देह यह ग्रन्थ उच्च कोटि का काव्य ग्रन्थ है। इस में शान्त रस की प्रधानता है।

इसकी भाषा अत्यन्त पाण्डित्य पूर्ण संस्कृत गर्भित व्रज भाषा है। संस्कृत शब्दों की बहुलता के होते हुए भी व्रज भाषा के माधुर्य में कमी नहीं होने पाई इसका रचना काल सं० १६३९ है।

(१२) राम चरित मानस:—तुलसीदास जी का सर्वश्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ है। महा काव्य सम्बन्धी सम्पूर्ण लक्षणों द्वारा परीक्षित किए जाने पर और भावना तथा आदर्श इत्यादि के मापदण्ड के अनुसार 'रामचरित मानस' साहित्य की श्रेष्ठतम रचना कही जा सकती है। अंग्रेज़ी में जो बात ताज महल के लिए कही गई है "They built like giants and finished like jewellers" अर्थात् उन्होंने दानवों की भाँति बृहदाकार में निर्माण प्रारम्भ किया और जौहरिया की भाँति एक एक फूल-पत्ती को पच्चीकारी के रूप में समाप्त किया—वही 'रामचरित मानस' के सम्बन्ध में कही जा सकती है। क्या कथानक, क्या प्रसंगानुकूल संवाद, क्या भाव व्यंजना, क्या वस्तु व्यापार, वर्णन इत्यादि सभी की दृष्टि से 'रामचरित मानस' उत्कृष्टतम् काव्य ग्रन्थ बन पड़ा है। तुलसीदास ने अपने महाकाव्य में जहाँ एक तरफ कथानक सौष्ठव कायम रखा है वहाँ साथ ही साथ भावना तथा आदर्श की मुख्यता में भी अन्तर नहीं पड़ने दिया। स्वाभाविकता के साथ-साथ कला का पूर्ण निर्वाह किया गया है। वर्णन में कहीं भी असम्बद्धता नहीं आने पायी और नहीं कहीं प्रासगिक कथाएँ लम्बी होने पायी हैं। तुलसीदास में मार्मिक और भावव्यंजक स्थलों को पहिचानने की अद्भुत शक्ति थी, इसी कारण उनके महाकाव्य में अधिक विस्तार से उन्हीं प्रसगों का वर्णन किया गया है जो मानव मात्र के लिए हृदयस्पर्शी हैं जैसे—जनक वाटिका में राम सीता का परस्पर दर्शन, राम बन-गमन, दशरथ मरण इत्यादि। जो बात जिस समय कहनी चाहिए और जिस प्रसग में जैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए इत्यादि बातों का भी तुलसीदास ने बहुत ध्यान रखा है, प्रसगानुकूल भाषा का अत्यन्त प्रयोग किया है। घरेलू प्रसग के उपस्थित होने पर भाषा सर्वथा घरेलू और साधारणतया गृहस्थ में चलते प्रयोगों का व्यवहार किया गया है। कैकेयी और मन्थरा के सम्वाद के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मन्थरा केकैयी को अपना हित पहिचानिने को इन शब्दों में कहती है।

का पूछहु तुम्ह अबहु न जाना। निज हित अनहित पसु पहचाना।
जौ असत्य कछु कहब बनाई। तौ विधि देहि हमहि सजाई।

रामहिं तिलक कालि जौं भयऊ। तुम्ह कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ।
रेख खंचाइ कहउँ बल भाखी। भामिनि भइहु दूध कर माखी।
जौं सुत सहित करहुँ सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई।
कद्रू बिनतहि दीन्ह दुःख, तुम्हहिं कोसिला देब।
भरत बन्दिगृह सेइहहिं, लषनु राम के नेव॥

कैकेयी उत्तर देती हैं:—

सुनु मन्थरा बात फुरि तोरी। दहिनी आँख नित फरकति मोरी।
दिन दिन देखहुँ राति कुसपने। कहहुँ न तोहि मोह बस अपने।
काह करउ सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउं काऊ।
नेहर जनम भरब बरु जाई। जियत न करब सवनि सेवकाई।
अरिकस देब जियावत जाही। मरनु नीक तेहि जीवन चाही।

इस प्रकार के अनेक उद्धरण विभिन्न सम्वादों से उद्धृत किए जा सकते हैं, जो कि प्रसंगानुकूल भाषा के परिचायक हों।

तुलसीदास ने श्रृंगार रस का वर्णन अत्यन्त संयत भाषा में सर्वथा भारतीय मर्यादा के अनूकूल किया है। ऐसा सयत और शिष्ट श्रृगार वर्णन जो कि बिना किसी संकोच और लज्जा के सबके सम्मुख पढ़ा जा सके केवल गोस्वामी जी का ही है। गोस्वामी जी ने अपनी सार ग्रहणी प्रवृत्ति का परिचय अपने महाकाव्य 'राम चरित मानस' मे भी दिया है। 'नाना पुराण निगमागम' के सार तत्वों को लेकर उन्होने 'राम चरित मानस' की रचना की है। 'मानस' के कथानक का मुख्य आधार 'वाल्मीकीय रामायण' और 'आध्यात्म रामायण' पर ही आधारित है। वैसे साधारणतया योगवाशिष्ठ, अद्भुत रामायण, भुसुण्डि रामायण और हनुमान्नाटक का आधार भी यत्र-तत्र लिया गया है, और इन ग्रन्थो का प्रभाव 'मानस' की कथा पर स्पष्ट है। परन्तु स्थान-स्थान पर काव्य-सौष्ठव के वर्द्धन के लिए गोस्वामीजी ने कथा में परिवर्तन भी किया है, परन्तु यह परिवर्तन मुख्य कथा से सम्बन्धित न होकर प्रासंगिक कथाओं और छोटी-मोटी घटनाओं से ही सम्बन्धित हैं।

'मानस' की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए जार्ज ग्रियर्सन के शब्दों में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि 'राम चरित मानस' का हिन्दुओं में बाइबिल

से भी अधिक प्रचार है और उसकी पहुँच राजाओं के महलों से लेकर निर्धनों की झोंपड़ियों तक है। मध्यकालीन आदर्शविहीन हिन्दू समाज के सम्मुख गोस्वामी जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम को प्राचीन संस्कृति के उत्कृष्टतम आदर्श के रूप में उपस्थित किया है। गोस्वामीजी ने हिन्दू धर्म के सच्चे स्वरूप को राम के चरित्र में अन्तर्निहित कर दिया है। हिन्दु समाज की सम्पूर्ण सामाजिक, पारिवारिक और धार्मिक समस्याओं का बड़ा ही सुन्दर विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है। भक्ति भाव की प्रचुरता और आदर्शों की महानता ने उन्हें इतना ऊँचा उठा दिया है कि धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक सभी दृष्टियों से उनका 'राम चरित मानस' एक अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति प्रतीत होता है।

'राम चरित मानस' की भाषा अवधी है। अवधी मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र की जन्म भूमि की भाषा थी, इस कारण इनकी रुचि का अवधी में होना स्वभाविक था। दूसरा जायसी का 'पद्मावत' पहिले रचा ही जा चुका था, जोकि गोसाईं जी के लिए प्रबन्ध काव्य का उदाहरण भी था, क्योंकि 'पद्मावत' में भी दोहे चौपाइयों की शैली का मार्ग प्रशस्त किया जा चुका था। तीसरा ब्रजभाषा की उपयुक्तता मुक्तक काव्य के लिए और अवधी की प्रबन्ध काव्य के लिए सर्व मान्य है। तुलसीदास जी ने अपने मुक्तक काव्य में ब्रज को अपनाया है। 'मानस' में मुख्य रूप से दोहा–चौपाई पद्धति को ही अपनाया है। परन्तु प्रसगानुकूल छप्पय, हरिगीतिका, सोरठा, आदि का भी समावेश किया गया है।

मानस का रचना काल तुलसीदास जी ने स० १६३१ वि० दिया है।

गोस्वामी जी की कविता—एक दृष्टि में:—मानव जीवन की भाँति काव्य में भी सरलता—भावों की तथा वर्णन शैली की—आवश्यक मानी गई है। क्यों कि काव्य मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है और उसमें उसकी भावनाएँ और कल्पनाएँ निहित हैं, अतः जिस प्रकार मानव जीवन में सरलता का महत्व है, उसी प्रकार काव्य में भी भावों की तथा वर्णन शैली की सरलता आवश्यक है। जीवन की श्रेष्ठता सरलता में ही मानी गई है। तुलसीदास ने जीवन के सरल और स्वाभाविक तथ्यों को अत्यन्त सरल और स्वाभाविक

भाषा में अभिव्यक्त किया है। क्यों कि गोस्वामी जी को सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी अतः चित्त की विभिन्न वृत्तियों का वर्णन भी अत्यन्त स्वाभाविक और सरल बन पडा है। गोस्वामी जी के पात्रों में सरलता कूट कूट कर भरी हुई है। भगवान राम, लक्ष्मन, सीता तथा भरत इत्यादि सच ही सरलता के अवतार हैं। काव्य में वर्णन की दृष्टि से और भावनाओं की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी गोस्वामी जी का काव्य सरल बन पडा है। राम, सीता तथा लक्ष्मण की वन यात्रा के पथ में ग्रामीण बालिकाओं द्वारा पूछे गये प्रश्न और सीता द्वारा उन प्रश्नो के उत्तर कितने स्वाभाविक और सरल हैं:—

सीय समीप ग्रामतिय जाहीं। पूछत अति स्नेह सकुचाहीं॥
राजकुमारि विनय हम करहीं। तिय सुभाव कुछ पूछत डरहीं॥
स्वामिन अविनय छमवि हमारी। विलगु न मानव जानि गॅवारी॥
राजकुमर दोउ सहज सलोने। इनते लहिं दुति मरकत सोने॥
कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहुँ को आहि तुम्हारे॥
सुनि स्नेह मय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन मुहुँ मुसकानी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन विधु ऑचल ढाँकी। प्रियतन चितई भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेहु तिन्हि सिय सैननि॥

'बहुरि बदन विधु आलल ढाँकी। पियतन चितई भौंह करि बाँकी' तथा 'खजन मंजु तिरीछे नैननि' मे कितनी कला, स्वाभाविकता और सरलता है। जहाँ कवि एन्द्रिय सौन्दर्य का वर्णन कलात्मक ढग से करता हैं, वहाँ वह सरलता और स्वाभावितता को नहीं भूल जाता।

दिन भर की लम्बी यात्रा के अनन्तर विश्रान्ति का कितना सुन्दर वर्णन किया गया है—

जलको गए लषन हैं लरिका,
परिखौ पिय! छांह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं,
और पांय पखारिहुँ भूभुरि ठाढ़े

तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि के,
बैठि विलम्ब को कंटक काढ़े।
जानकि नाह को नेह लख्यो,
पुलकी तनु वारि बिलोचन बाढ़े ॥

इस प्रकार के अनेक पद्य तुलसीदास जी की 'भावाभिव्यक्ति और वर्णन शैली को सरलता के उदाहरणार्थ प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

कविता का भावपूर्ण होना कविता की दूसरी बड़ी विशेषता है। कवि की कुशलता भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति में ही देखी जाती है। 'राम चरित मानस' में हम विभिन्न स्थानों पर हृदय की विभिन्न भावनाओं और चित्त-वृत्तियों का सूक्ष्म वर्णन पाते हैं। हृदय की विभिन्न वृत्तियों—ईर्ष्या, द्वेष, करुणा इत्यादि—का तुलसीदास ने अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। भावनाओं के उतार चढ़ाव के साथ साथ भाषा में भी परिवर्तन हो जाता है। विभिन्न भावों का संघर्षण प्रत्येक मानव मन में होता है, इसी संघर्ष के चित्रण में ही कवियों की कुशलता का परिचय मिलता है।

राम तिलक से एक दिन पूर्व मन्थरा का कैकेयी के कानों को भरना और उसके भावों में धीरे २ परिवर्तन होना और उसका राजा से वर माँगना—

सुनहु प्रान प्रिय भावत जी का। देहु एक बार भरतहिं टीका॥
तापस वेष विशेषि उदासी। चौदह बरस राम बनवासी॥

इन शब्दों के सुनते ही राजा के चित्त पर क्या गुजरती है और वह किस प्रकार वेदना पूर्ण शब्दों में अनुनय करता है—

कहउं सुभाव न छल मन माहीं। जीवन मोर राम बिनु नाहीं॥
समुझि देखु प्रिय प्रिया प्रवीना। जीवन राम दरस आधीना॥

इत्यादि प्रसगों में कवि ने चित्त की सूक्ष्म वृत्तियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है।

पिता की मृत्यु और राम बन गमन के कारण को जान भरत कितने विनयता और वेदना पूर्ण शब्दों में कहते हैं—

जो पै करुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारेसि मोही॥
पेड़ी काटतें पालउ सींचा। मीन जियन हित वारि उलीचा॥

केकइ कत जनमी जग मांझा। जौं जनमि त भइ काहे न बांझा॥

सीताहरण के अनन्तर राम की विरह व्यथा का वर्णन बहुत मार्मिक और भावपूर्ण है। राम अपने आपको भुला 'खग-मृग और मधुकर' श्रेणी से पूछते हैं—

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृग नैनी॥
श्री फल कनक कदलि हरषाही। नेक नसंक सकुचि मन माहीं॥
सुनि जानकी तोहि बिन आजु। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥

यह करुणा पूर्ण विलाप विरह दर्शन के लिए कितना स्वाभाविक है। इसमें एन्द्रिय प्रेम की झलक अवश्य है, परन्तु इस में आत्मा की महानता विद्यमान है।

रात का अन्धकार छाया हुआ है, लक्ष्मण वर्छी लगने से मूर्च्छित भूमि पर पडे हैं, सम्पूर्ण वानर सेना उदास भाव मे अपने प्रभु की करुणा पूर्ण स्थिति को निहार रही है और भगवान शोकाकुल, अत्यन्त वेदना पूर्ण स्वर से कह रहे हैं—

जो जनतेउं बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन मनतेउं नहि ओहू॥
सुत वित नारि भवन परिवारा। होंहि जाहिं जग बारहि बारा॥
अस विचारि जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥

इन शब्दों मे तुलसीदास ने कितनी वेदना तथा पीड़ा को उँडेल दिया है। इस प्रकार अनेक भाव पूर्ण चित्त-वृत्तियो के सूक्ष्म वर्णन के स्थल उदाहरण स्वरूप उपस्थित किए जा सकते हैं।

कविता मे एन्द्रिय (Sensuous) भावो का वर्णन भी आवश्यक है, क्योंकि आत्मा और शरीर का अभिन्न सम्बन्ध है, आत्मा का निवास स्थान शरीर ही है। अतः कविता में आत्मा तथा शरीर दोनों ही की अनुभूतियों का वर्णन होना चाहिए। एन्द्रिय भावनाओं के वर्णन के बिना कविता में स्थायित्व की आशा नहीं की जा सकती। एन्द्रिय प्रेम के वर्णन में एक अजीब वेदना और तड़प होती है। 'राम चरित मानस' में तो प्रेम का स्रोत बह रहा है, विभिन्न पात्रों के हृदय श्रद्धा, भक्ति, प्रणय और आत्मा की भावनाओं से पूर्ण हैं। परन्तु तुलसीदास के प्रेम में आत्मिक भावों की प्रधानता है ; एन्द्रिय अनुभूतियों और उनके वर्णन का सर्वथा अभाव नहीं।

सीता भगवान् राम के 'स्याम मृदु गात' का स्मरण कर कह उठती है—

कबहुँ नयन मम सीतल ताता।
होइहहिं निरखी स्याम मृदु गाता।
बचन न आव नयन भरि वारी।
अहह नाथ हौं निपट बिमारी।

इसी प्रकार राम भी सीता 'मृगनैनी' के लिए अपनी व्याकुलता को स्थान स्थान पर प्रगट करते हैं।

परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि तुलसी के प्रेम वर्णन में आध्यात्मिक भावनाओं की अधिकता है। एन्द्रिय भावनाओं को तुलसीदास ने अपने काव्य में अधिक स्थान नहीं दिया। कुछ आलोचक तुलसी के काव्य में एन्द्रिय भावनाओं की न्यूनता के कारण ही उन्हें विश्व के उच्चतम कवियों में स्थान नहीं देते। परन्तु यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि तुलसीदास के काव्य में एन्द्रियता का सर्वथा अभाव नहीं। यदि आलोचक उनके काव्य मे (Sensual) शारीरिक मलिनता को देखना चाहते हैं तो निश्चय ही उन्हें निराश होना पड़ेगा; परन्तु शारीरिक मलिनता काव्य की उच्चता का लक्षण नहीं। तुलसीदास निश्चय ही विश्व के उच्चतम कवियों में से हैं, उनकी कविता सरल, भावपूर्ण और एन्द्रिय तथा भक्ति के अनुभूतियों से परिपूर्ण है। तुलसीदास ने अनेक महान् आदर्शों को ध्यान में रखते हुए अपनी रचनाओं में सयम और मर्यादा का बहुत ख्याल रखा है। वास्तव में मर्यादा और सयम की दृष्टि से तुलसी संसार के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। प्राजलता, माधुर्य और ओज की दृष्टि से तुलसीदास की कविता अनुपम है।

तुलसीदास भक्ति युग के एक मात्र प्रतिनिधि कवि हैं। तत्कालीन काव्य शैली में विभिन्न रचना पद्धतियाँ प्रचलित थीं, इन सभी रचना शैलियों में रचना कर गोस्वामी जी ने अपनी काव्य कुशलता का परिचय दिया है। नीचे संक्षेप से विभिन्न रचना शैलियों के और उनमें की गई गोस्वामी जी की रचना के उदाहरण दिए जाते हैं।

'राम चरित मानस' के लंका काण्ड में वीर गाथाकालीन चन्द आदि कवियों द्वारा प्रयोग में लाए गए छन्दों का भी गोस्वामी जी ने प्रयोग किया

है। गोस्वामी जी द्वारा रचित एक छप्पय देखिए—

डिगति उर्व अति गुर्व, सर्व पब्बै समुद्र सर॥
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गंबर लरखरत परत दसकंठ मुक्ख भर॥
सुर विमान हिम भानु, संघटित होत परस्पर॥
चौंके विरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ॥
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम शिव धनु दल्यौ॥

तुलसीदास जी ने विनय पत्रिका और गीतावली में सूरदास और विद्यापति की गीत-पद्धति पर बड़ी सुन्दर रचना की है। गोस्वामी जी की भाषा संस्कृत प्रधान होने के कारण भी देश भाषा के स्वाभाविक माधुर्य से विमुक्त नहीं होने पायी। 'कोमलकान्त पदावली' और अनुप्रासों की विचित्र छटा ने गीतों के सौन्दर्य को चौगुना कर दिया है—

सजनी! है कोउ राजकुमार।
पन्थ चलत मृदु पद कमलनि दोउ सील रूप आगार॥
आगे राजिव नैन स्याम तनु सोभा अमित अपार।
डारौं वारि अङ्ग अङ्गनि पर कोटि कोटि सतभार॥
सुनि प्रिय बचन चितै हित कै रघुनाथ कृपा सुख सार।
तुलसीदास प्रभु हरे सबन्हि के मन तन रही न सम्भार॥

'गीतावली' मे गोस्वामी जी ने सूरदास का अतिशय अनुकरण किया है, परिणाम स्वरूप उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की छाप और उसका प्रभाव रचना पर नहीं आ पाया।

'कवितावली' में गोस्वामी जी ने कवित्त-सवैया पद्धति का अनुसरण किया है; यह पद्धति भाटों की परम्परा में प्रचलित चली आ रही थी। रसों के अनुकूल भाषा में परिवर्तन ने वर्णन में अद्भुत सौन्दर्य भर दिया है—

जल को गए लखन हैं लरिका,
परिखौ पिय! छाँह घरीक ह्वै ठाड़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं,
और पाय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े।

तुलसी रघुवीर प्रिया श्रम जानिके,
बैठि विलम्ब लौं कण्टक काढ़े ?
जानकि नाह के नेह लख्यो
पुलकी तनु बारि विलोचन बाढ़े।

इसी प्रकार—

राम को रूप निहारत जानकि, कंकन के नग की परिछाहीं।
याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल डारत नाहीं॥

वीर इत्यादि रसों का वर्णन करते हुए शब्दावली सर्वथा परिवर्तित हो जाता है—

प्रबल प्रचण्ड बरिबण्ड बाहुदण्ड वीर,
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरिकै।
महा बल पुंज कुञ्जरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ तहाँ पटकै लंगूर फेरी फेरि कै।
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हा हा खात,
छहै तुलसी "राखि राम की सौं" टेरि कै।

'राम चरित मानस' और 'दोहावली' में गोस्वामी जी ने दोहा पद्धति में भी रचना कौशल का बड़ा सुन्दर परिचय दिया है—

एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसी दास॥
लोगन भलो मनाव जो, भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास॥
की तोहि लागहि राम प्रिय, की तु राम प्रिय होहि।
दुहु मँह रुचै जो सुगम कोइ, कीवे तुलसी तोहि॥

राम चरित मानस में गोस्वामीजी ने 'पद्मावत' में जायसी द्वारा अपनायी गयी चौपाई-दोहा पद्धति को ही अपनाया है; परन्तु जायसी और तुलसीदास की अवधी में पर्याप्त अन्तर होने के कारण तुलसीदास की रचना अधिक साहित्यिक बन पायी है—

अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल सब भज परिवारू॥
सुकृत सम्भु तनु विमल विभूती। मंजुल मङ्गल मोद प्रसूती॥
जन-मन-मंजु-मुकुर-मल हरनी। किए तिलक गुज गन बस करनी॥

इसके अतिरिक्त गोस्वामीजी की रचनाओं में सब रसों का परिपाक हुआ, क्या वीर, क्या शान्त, क्या शृंगार और क्या वात्सल्य सभी पर गोस्वामीजी ने लिखा है और पूर्ण सफलता और अधिकार के साथ लिखा है। जैसा कि पीछे भी लिखा जा चुका है कि गोस्वामी जी का शृंगार वर्णन अत्यन्त सयत और मर्यादित है।

गोस्वामी जी का अवधी और ब्रज दोनों भाषाओ पर पूर्ण अधिकार था। जहाँ जायसी ने केवल अवधी में लिखा और सूरदास ने केवल ब्रज में तुलसीदास ने दोनो ही भाषाओं में रचना कर इन भाषाओं पर अपने पूर्ण अधिकार का परिचय दिया है। परन्तु तुलसीदास की अवधी और जायसी की अवधी में भी अन्तर है। गोस्वामी जी सस्कृतज्ञ विद्वान थे, इस कारण उनकी अवधी का रूप संस्कृत मिश्रित होने के कारण साहित्यिक हो गया है, परन्तु जायसी सस्कृतज्ञ नहीं थे, इस कारण उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमे साहित्यिकता की छाप नहीं। परन्तु तुलसीदास जी ने सदाही पात्रानुकूल, प्रसगानुकुल और रसानुकूल भाषा लिखने का ध्यान रखा है। इसी कारण उनके ग्रन्थों में ठेठ बोलचाल की अवधी और साहित्यिक अवधी दोनो के ही रूप मिल जाते हैं।

गोस्वामी जी ने कवितावली, विनय पत्रिका तथा गीतावली में ब्रज भाषा का साहित्यिक प्रयोग कर इस भाषा पर अपने पूर्ण अधिकार का परिचय दिया है। यद्यपि तुलसीदास से पूर्व ही ब्रज मे रचना प्रारम्भ हो चुकी थी, परन्तु तुलसीदास ने सस्कृत शब्दों का प्रयोग कर ब्रज भाषा का जहाँ परिमार्जन किया है वहाँ उसे प्रौढ़ता भी प्रदान की। तुलसीदास की रचनाओं में दोनों प्रकार की ब्रज भाषा का उपयोग किया गया है—

छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरि के तू
दे री मैया 'ले कन्हैया' 'सोकब' अबहिं तात।

सिगरियै हौं ही खैहों, बलदाऊ को न दैहों
सो क्यो भटू तेरो कहा इत उत जात।
बाल बोलि डहकि बिरावत चरित लखि
गोपीगन मुदित महरि पुलकित गात।
नूपुर की धुनि किंकिनी के कलरव सुनि
कूदि कूदि किलकि किलकि ठाढ़े ठाढ़े खात॥

जहाँ तुलसीदास ने इस प्रकार की सरल ब्रज भाषा का प्रयोग किया है, वहाँ ऐसी सस्कृत मिश्रित ब्रज भाषा का प्रयोग 'विनय पत्रिका' आदि में बहुत किया गया है—

अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत इति वासना धूप दीजै॥
दीप निज बोध गत क्रोध मद मोहतम प्रौढ़ अभिमान चित्त वृत्ति छीजै॥

हिन्दी साहित्य में केवल तुलसीदास ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होने दोनों भाषाओं—अवधी और ब्रज—में समान रूप से इतनी सफलता के साथ रचना की है, और साथ ही अपने समय की प्रचलित सम्पूर्ण रचना शैलियो—छप्पय, गीति, कवित्त, दोहा, सवैया आदि—का अपनी कविता में सफल प्रयोग किया है। फिर रस निरूपण, चरित्र चित्रण, घटना सघटन, प्रबन्ध काव्य और गीत काव्य मे अपने रचना कौशल को सफलतापूर्वक प्रदर्शित करते हुए मानवात्मा के लिए भक्ति का महान् सन्देश दिया है।

तुलसीदास की भक्ति भावना और दार्शनिक मत:—तुलसीदास जी स्मार्त वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे, या रामनदी सम्प्रदाय से, इस विषय में भी विद्वानो में मतभेद है। आचार्य शुक्ल ने इनके रामनदी सम्प्रदाय से संबधित होने में सन्देह प्रगट किया है। उनके मतानुसार "उक्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत जितनी शिष्य-परम्पराएँ मानी जाती हैं उनमें तुलसीदास जी का नाम कहीं नहीं है। रामानन्द परपरा मे सम्मिलित करने के लिये उन्हें नरहरिदास का शिष्य बता कर जो परम्परा मिलायी गई है, वह कल्पित प्रतीत होती है। वे रामोपासक वैष्णव अवश्य थे पर स्मार्त्त वैष्णव थे"।[1] जबकि डा० श्यामसुन्दरदास इनको रामानंद की शिष्य परम्परा के

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० १४७

अन्तर्गत ही मानते हैं। जो कुछ भी हो, वे मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के अनन्य भक्त थे, और सम्पूर्ण विश्व को 'सियाराम मय' देखते थे। तुलसीदास ने भक्ति में चातक का आदर्श माना है, और अपने आप को चातक के रूप में चित्रित करते हुए भगवान राम के प्रति अपनी अनन्य भक्ति का परिचय अपने निम्न शब्दों मे दिया है—

एक भरोसो, एक वल, एक आस विश्वास।
एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसी दास॥

वे चातक के सदृश राम के प्रति प्रेम प्यास को सदा जाग्रत रखना चाहते हैं, इस उत्कण्ठा और पिपासा में ही वे अपना जीवन समझते हैं। सूरदास की भाँति के अन्य देवताओं के प्रति अनादर की भावना नहीं प्रदर्शित करते, वे उनकी याचना करते हैं, उनका गुणगान करते हैं, परन्तु केवल भगवान राम की कृपा प्राप्ति मे सहायता के लिए ही। उन की इन याचनाओं का ध्येय केवल राम की कृपा प्राप्ति ही है। भगवान राम के सम्पूर्ण भक्तों और सहयोगियों—हनुमान, लक्ष्मण, इत्यादि—की वे वन्दना करते हैं, और उनकी प्रशंसा मे पद्य लिखते हैं परन्तु अन्त में वे अपनी राम की कृपा प्राप्ति की आकांक्षा को भी व्यक्त कर ही देते हैं।

राम के दरबारियों की यह प्रशंसा कहीं कहीं चाटुकारिता के भावों को भी व्यंजित करती है।

तुलसीदास की भक्ति दास्य भाव की थी, जब कि सूर आदि कवियो की सखा भाव की। इसी कारण तुलसीदास में सूरदास की सी अक्खड़ता नहीं आ पायी। तुलसीदास तो सेव्य-सेवक भाव के बिना भक्ति मानते ही नहीं।

'सेव्य- सेवक भाव बिनु भव न तरिए उरगारि'

इस कारण वे सदाही भगवान् राम की महानता को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त शिष्टता और मर्यादा से ही पेश आते हैं। उन्हें स्थान स्थान पर अपने प्रभु के 'मर्यादा परुपोत्तम' होने का अनुभव होता रहता है, और राम के राजा होने के कारण तो तुलसी की एतद् विषयक शिष्टता और भी बढ़ जाती है।

तुलसीदास के दार्शनिक विचारों के विषय में काफी वाद-विवाद जारी है, विद्वान अपने अपने मतानुसार इनके दार्शनिक मत को सिद्ध करते हैं। पं०

गिरिधर शर्मा, पण्डित बल्देव प्रसाद मिश्र तथा श्रीधर पन्त इत्यादि पण्डित इनको इनके दार्शनिक विचारों का अध्ययन कर—अद्वैतवादी बतलाते हैं। जबकि आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, डा० रामकुमार वर्मा तथा श्री वियोगीहरि इन्हें विशिष्टाद्वैतवादी सिद्ध करते हैं। यहाँ हम अधिक वादविवाद में न पड़ते हुए केवल तुलसीदास द्वारा स्थान स्थान पर प्रगट किए गए एतद् विषयक विचारो के अनुसार कुछ स्थूल निर्णयों को नीचे लिख देते हैं।

रामचरित मानस मे एक लम्बा पद्य आया है जिसमें तुलसीदास ने अपने दार्शनिक विचारों को सन्क्षिप्त रूप से प्रगट करने का यत्न किया है—

ईश्वर अस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥
सो माया बस भयउं गुसाईं। बंधेउ करि मरकट की नांई॥
जड़ चेत नहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निस बरई॥
ज्ञान पथ किरपान के धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जो निरविघन पंथ निवहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥
राम भजत सोइ मुकति गोसांई। अन इच्छित आइई बरि आई॥

उपरोक्त उद्धरण में तुलसीदास ने कुछ बातें ऐसी कही हैं जो उनके दार्शनिक विचारों का कुछ परिचय दे सकती हैं। प्रथम तो अविनाशी जीव ईश्वर का अंश है, वह चेतन निर्मल और स्वाभाविक रूप से ही सुख-निधान है। दूसरा वह माया में पड़ कर साधारण प्राणियों की भाँति अपने रूप को भुला देता है। तीसरा जड़ तथा चेतन में जो गाँठ पड़ गई है, यद्यपि वह झूठी है तथापि उसका छूटना अत्यन्त कठिन है। उससे छुटकारा केवल भगवान की कृपा से ही हो सकता है। चौथा ज्ञान द्वारा भी प्राणी मुक्ति प्राप्त कर सकता है; परन्तु ज्ञान मार्ग तलवार के सदृश्य कठिन है। जो इस मार्ग को निर्विघ्न रूप से पार कर जाते हैं, वे निश्चय ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु ज्ञान मार्ग की कठिनता निर्विवाद है। पाँचवाँ राम की भक्ति अत्यन्त सरल है, राम भक्त निश्चय ही सगुण राम की उपासना से मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार तुलसीदास जीव को अविनाशी मानते हुए ब्रह्म का ही एक अंश मानते हैं। परन्तु वह माया वश इस संसार में फँसा हुआ है, माया के

अस्तित्व की स्वीकृति अन्यत्र भी है।

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। तहँ लगि माया जानेउ भाई॥

इसी प्रकार 'रज्जौयथाहेर्भ्रमः' में भी तुलसीदास संसार को केवल भ्रमस्वरूप ही मानते हैं। गोस्वामीजी ने जीव और ब्रह्म की पृथक पृथक सत्ता को स्वीकार किया है।[1] इस प्रकार द्वैतवाद को मान्यता प्रदान की है। द्वैत भावना की सगति ही भक्ति भावना के साथ है।

ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार करते हुए भी तुलसीदास जी ने भक्ति को ही अधिक मान्यता प्रदान की है। वैसे अन्यत्र उन्होंने ज्ञान और भक्ति को एक ही बतलाते हुए कहा है—

ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।

इस अभेद को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने भक्ति को ही मुख्यता दी है, इसका कारण उन्होंने काव्य मय ढंग से दिया है।

मोहि न नारि नारि कै रूपा। पन्नगारि यह नीति अनूपा॥

ज्ञान की समता तुलसीदास जी ने उस दीपक से की है जोकि सासारिक पवन से बुझ सकता है, जबकि भक्ति की चिन्तामणि से जिस पर वायु का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। भक्ति की सुलभता भी ज्ञान मार्ग से अधिक है, इसी कारण तुलसीदास जी ने भक्ति भाव को प्रधानता देते हुए ब्रह्म की सगुणोपासना पर बल दिया है।

तुलसीदास की महानता:—सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है कि महात्मा बुद्ध के अनन्तर तुलसीदास ही सबसे बड़े लोकनायक थे। तुलसीदास एक विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न और प्रभावोत्पादक व्यक्ति थे, उनकी वाणी में अद्भुत माधुर्य और अलौकिक शान्ति विराजमान थी। वे भारत की मूक और पीड़ित जनता के सच्चे लोकनायक थे। उनके काव्य तथा जीवन की सबसे बड़ी महानता है लोक धर्म का ग्रहण। उनसे पूर्व के तथा समकालीन निर्गुण शाखा के और कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने लोक धर्म की अवहेलना की, परन्तु तुलसीदास ने समाज की पतित अवस्था को देखा तथा आदर्शहीन समाज की विलासिता की

[1] माया वस्य जीव अभिमानी। ईस वस्य माया गुन खानी॥
पर बस जीव स्ववस भगवंता। जीव अनेक एक श्री कंता॥

ओर बढ़ती हुई रुचि, और भंग होती हुई सामाजिक व्यवस्था तथा पडितों और ज्ञानियों की इन सबके प्रति उपेक्षा भाव को भी तुलसीदास ने अनुभव किया। जिस युग में तुलसीदास का जन्म हुआ, उसमें समाज का उच्च वर्ग आदर्श-हीन हो विलासिता के गढ़े में गिर रहा था, और निम्न वर्ग हठ योगियों और निर्गुण पन्थियों के भ्रामक प्रचार मे फँस रहा था। ऐसे ही समय में एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो आदर्शहीन समाज के सम्मुख उच्चादर्शों को उपस्थित कर सके, और विशृंखल होती हुई सामाजिक व्यवस्था को व्यवस्थित कर सके। तुलसीदास का जन्म ऐसी ही आवश्यकता के समय में हुआ, और उन्होंने लोक धर्म की महत्ता को पूर्णतयः अनुभव करते हुए, और व्यक्तिगत साधना की महत्ता को समझते हुए भी, उन्होंने सामाजिक जीवन का ही आश्रय ग्रहण किया तथा विशृंखल सामाजिक व्यवस्था को एक सूत्र में बान्धने का प्रयत्न किया।

भारत नाना संस्कृतियों, मतों, सम्प्रदायों और भाषाओं का देश है। इसमें अनेक प्रकार की परस्पर विरोधिनी विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। अतः भारत के लोक नायक के लिए यह आवश्यक है कि वह इन परस्पर विरोधिनी भाव-धाराओं में और आदर्शों में समन्वय कर सके। वह विभिन्न साधना पद्धतियों और धार्मिक विचारों में सामंजस्य को उत्पन्न कर सके। भगवान् बुद्ध की महान् सफलता का कारण उनकी समन्वयकारी प्रवृत्ति ही थी। उन्होंने विभिन्न परस्पर विरोधी आदर्शों में और विचार धाराओं में समन्वय स्थापित किया। भगवान् कृष्ण के गीता में दिए गए उपदेश भी इसी समन्वय भावना से ही परिचालित हैं। तुलसीदास ने भी सगुण भक्ति तथा निर्गुण ज्ञानवाद में, शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में, मधुर भाव की भक्ति भावना में और दास्यभाव की साधना पद्धति मे समन्वय करने का प्रयत्न किया। उनके महान काव्य 'राम चरित मानस' मे समन्वय की यह भावना प्रारम्भ से अन्त तक कार्य कर रही है।

गोस्वामीजी का शास्त्र ज्ञान बहुत विस्तृत था। उन्होंने नाना पुराण और निगमागम का विशद अध्ययन किया हुआ था, और समाज के विभिन्न स्तरों में रहने के कारण उनका सामाजिक विषयों का ज्ञान भी पूर्ण था,

इसी कारण वह अपनी रचनाओं में सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिये और प्राचीन मर्यादाओं को स्थापित करने के उद्देश्य से उच्चादर्शों को उपस्थित कर सके। उन्होंने भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण विशेषताओं को भगवान राम के चरित्र में अन्तर्निहित कर दिया है। धर्म तथा समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिये, राजा का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए, हमारे पारिवारिक कर्त्तव्य क्या हैं इत्यादि सम्पूर्ण विषयों पर गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में प्रकाश डाला है।

तुलसीदास महान आदर्शवादी थे। वे केवल कविता के लिए कविता नहीं कर रहे थे, उनके सम्मुख तो महान आदर्शों की अभिव्यक्ति का उद्देश्य था। इसीलिए वह आगे आने वाली सन्तति को प्रभावित कर सके। आजका उत्तर भारत तुलसीदास के ही आदर्शों का अनुयायी है। आज के उत्तर भारत के लिए 'राम चरित मानस' की महत्ता वेद, उपनिषद और गीता से कम नहीं। 'राम चरित मानस' करोड़ों भारतियों का एक मात्र धर्म ग्रन्थ और पथ प्रदर्शक है।

तुलसीदास एक महान कवि थे, वे एक श्रद्धालु भक्त थे, वे समाज सुधारक थे और महान लोकनायक थे। विगत शताब्दियों मे उन्होंने ही अपनी रचनाओं द्वारा उत्तर भारत का पथ प्रदर्शन किया और भविष्य में भी वे ही करेंगे।

नाभादास :—तुलसीदास की रचनाओं के सम्मुख अन्य राम भक्ति शाखा के कवियो की रचनाएँ फीकी पड़ जाती है। यही कारण है कि राम भक्ति शाखा के अन्य कवियो की इतनी प्रसिद्धि न हो सकी। नाभादास तुलसीदास के समकालीन थे और स्वामी अग्रदासजी के शिष्य थे। इनकी 'भक्त माल' नाम की पुस्तक बहुत प्रसिद्ध है और बहुत काल से भक्तों का प्रिय ग्रन्थ चला आ रहा है। इस पुस्तक मे नाभादास ने २०० भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे हैं। साधारण जनता में भक्तों के प्रति आदर की भावना उत्पन्न करना ही पुस्तक के लिखने का उद्देश्य था, परन्तु नाभादास ने विभिन्न भक्तों की चमत्कार पूर्ण बातों का संक्षिप्त परिचय देते हुए साम्प्रदायिक भावनाओं का कहीं परिचय नहीं दिया अपितु विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित भक्तों का प्रशंसागान निष्पक्ष होकर ही किया है। सूरदास के विषय में नाभादास लिखते हैं—

उक्ति चोज अनुप्रास करन अस्थति अति भारी ॥
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी ॥
प्रतिबिंबित दिखे दृष्टि हृदय हरि लीला भासी ॥
जनम करम गुन रूप सवै रसना परकासी ॥
बिमल बुद्धि गुण और की जो वह श्रवननि धरै ॥
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहीं सिर चालन करै ।

'भक्तमाल' पर प्रियादास ने एक टीका भी लिखी है। क्योंकि 'भक्त माल' में सब बातें अत्यन्त सक्षेप ने कही गयी हैं, उनको समझना कठिन है। प्रियादास ने इस समस्या का हल कर दिया है। इस ग्रन्थ का बगला में भी अनुवाद हो चुका है।

नाभादास तुलसीदास के समकालीन थे, और इन्होंने तुलसीदास से भेंट भी की थी। इनके जीवन वृत्तान्त के विषय में बहुत कम ज्ञात है, कुछ भी कह सकना असम्भव है। इनका जन्म स० १६७५ में बतलाया जाता है।

'भक्तमाल' के अतिरिक्त नाभादास ने 'अष्टयाम' भी बनाए हैं—एक ब्रज भाषा गद्य में और दूसग दोहा चौपाइयों में।

प्राणचन्द्र चौहान :—ने नाटक शैली में राम कथा का वर्णन किया है। इनका 'रामायण महा नाटक' नाम का ग्रन्थ प्रसिद्ध है, इसमें कथोपकथन के रूप मे सम्पूर्ण कथा का गायन किया है। इनका समय सं० १६७७ वि० माना गया है।

हृदयराम :—ने सस्कृत हनुमान्नाटक के आधार पर हिन्दी में 'हनुमान्नाटक' की रचना की है, जो बहुत सुन्दर बन पड़ी है। भाषा अत्यन्त परिमार्जित और काव्योपयोगी है, सम्पूर्ण कथा कवित्त और सवैयों में कही गई है जोकि बहुत सुन्दर बन पड़ी है।

हृदयराम पजाबी थे, और इनका समय संवत १६८० वि० माना गया है। इनका एक कवित्त उदाहरण स्वरूप दिया जाता है—

सातो सिंधु, सातो लोक, सातो रिषि हैं ससोक,
सातों रवि-घोरे थोरे देखे न उरात मैं।
सातों द्वीप, सातों ईति काँप्योई करत और,
सातों मत रात दिन प्रान है न गात मैं।

सातो चिरजीव बरराइ उठे बार बार,
सातों सुर हाय हाय होत दिन रात मैं।
सात हूँ पताल काल सबर कराल, राम
भेदे सात ताल, चाल परी सात सात मैं।

राम चरित सदा ही भारतीय कवियों के काव्य का विषय रहा है, फिर भला हिन्दी में राम चरित पर लिखे गए काव्यों का अभाव कैसे हो सकता है ? हिन्दी साहित्य में प्रायः सभी कालों में राम चरित को काव्य का विषय बनाया जाता रहा है। रीति काल में केशवदास ने और इधर रीवां नरेश रघुराजसिंह और विश्वनाथ सिंह ने राम चरित पर कविता की। आधुनिक काल में भी राम-काव्य का काफी विस्तार हुआ है। इन सबका वर्णन यथा स्थान किया जाए गा।

कृष्ण भक्ति शाखा

वैष्णव-धारा के अन्तर्गत

बहुत प्राचीन काल से ही राम-काव्य की भाँति कृष्ण-काव्य की परंपरा भी चली आती है। श्रीमद्भागवत की रचना के अनन्तर कृष्ण-काव्य की परम्परा का निरन्तर विकास होता चला गया और श्री कृष्ण का लोक रंजक रूप—जैसा श्री मद्भागवत में चित्रित किया गया था—रामके कल्याणकारी रूप से अधिक आकर्षक होने के कारण शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया।

हिन्दी में कृष्ण-काव्य का विस्तार वल्लभाचार्य के शिष्यों द्वारा ही हुआ। वल्लभाचार्य से पूर्व मध्वाचार्य और निम्बार्क स्वामी ने राधा-कृष्ण की माधुर्य भाव की उपासना का प्रारम्भ किया था, परन्तु उत्तर भारत में उसका प्रचार वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी द्वारा हुआ।

मध्वाचार्य दक्षिण में मंगलौर के निवासी थे। इन्होंने ब्रह्म को सगुण मानते हुए द्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। जीव तथा ब्रह्म की पृथक पृथक सत्ता को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार जीव ब्रह्म नहीं हो सकता। जीव और ब्रह्म में सेव्य-सेवक भाव का सम्बन्ध है। जीव भगवान का अंश है, और

भगवान की प्रसन्नता को प्राप्त करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है। मध्वाचार्य माया के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए जगत की सत्यता को सिद्ध करते हैं। ये ज्ञान तथा भक्ति को समान मानते हुए दोनों को ही मुक्ति का साधन समझते हैं। उनके दृष्टिकोण के अनुसार भक्ति का अर्थ है भगवान के प्रति पूर्ण रूप से आत्मसमर्पण। उन्होंने राधा को अपने मत में स्थान नहीं दिया, परन्तु इनके अनुयायी विष्णुस्वामी ने अपनी भक्ति पद्धति में राधा को भी स्थान दिया है।

निम्बार्क के मतानुसार सर्व-शक्ति-मान ब्रह्म सगुण है और वही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है। वह स्वयं जगत के रूप में प्रगट होता है, और प्रलय के अनन्तर यह विश्व उसी में लीन हो जाता है; परन्तु इस अवस्था में ब्रह्म, निर्गुण और निर्विकार ही रहता है। जीव तथा ब्रह्म का सम्बन्ध अंश-अंशी का है। इस प्रकार भेद और अभेद दोनों का ही समर्थन किया जाता है। परन्तु स्पष्ट रूप से निम्बार्क स्वामी जीव तथा ब्रह्म की पृथक सत्ता स्वीकार करते हैं, और यह मानते हैं कि मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म नहीं हो पाता। भक्ति को मुक्ति का साधक स्वीकार किया गया है, और उनके मतानुसार ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप समान रूप से उपास्य हो सकते हैं। निम्बार्क स्वामी ने ही राधा और कृष्ण की भक्ति भावना में माधुर्य भाव का प्रतिष्ठापन किया है। वल्लभाचार्य ने दोनों आचार्यों के मतों को अधिकांश रूप से स्वीकार कर उत्तर भारत में कृष्ण भक्ति में माधुर्य भाव की उपासना का प्रचार किया है। वल्लभाचार्य सिद्धान्त से विशुद्धाद्वैतवादी थे, वे ब्रह्म तथा जीव की एकता को स्वीकार करते थे, और इस भेद का कारण माया को मानते थे, जिसका निराकरण भक्ति द्वारा हो सकता है। यह भक्ति प्रेम भाव से पूर्ण होनी चाहिये। मनुष्य की इस प्रेमपूर्ण भक्ति की ओर प्रवृत्ति भगवान् की विशेष कृपा से ही हो सकती है। इसी कृपा या अनुग्रह को पुष्टि कहा गया है, और इसी कारण इनका मत 'पुष्टि मार्ग' कहलाया है।

हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना विभिन्न प्रकार से की है, और इसी प्रकार उनकी रचनाओं में भी विभिन्न भावनाओं

की प्रधानता है। वे प्रायः विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित थे, अतः भावनाओं में अन्तर आ जाना स्वाभाविक ही था। सूर और हितहरिवंश के कृष्ण-काव्य में एक विशेष भेद है, इस भेद का कारण उनका विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित होना ही है। इस प्रकार भावना की दृष्टि से हिन्दी कृष्ण काव्य विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, ये विभिन्न वर्ग विभिन्न दार्शनिक मतवादों से प्रभावित थे।

(१) पुष्टि मार्ग की सेव्य-सेवक भावना। 'अष्ट छाप' के कवि इस मत के अनुगामी थे।

(२) शिशु रूप में श्रीकृष्ण की उपासना। सूरदास इसके प्रतिनिधि थे।

(३) राधाकृष्ण और गोपियों की प्रेमलीलाओं का वर्णन। यह वर्णन लगभग सभी कृष्ण भक्त कवियों ने किया है।

(४) राधा की प्रधानता को स्वीकार कर उसकी उपासना पर बल देना। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हितहरिवंश थे, और वही इसके प्रतिनिधि कवि हैं।

(५) अपने आप को राधा के रूप में रख श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य भाव की प्रीति। मीरा की भक्ति भावना इसी प्रकार की थी।

जैसा कि हम लिख आए हैं कि वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय ही पुष्टि मार्ग कहलाता है। वल्लभाचार्य के अनुगामी बहुत से कृष्ण भक्त हिन्दी के उत्कृष्टतम कवियों में हो गए हैं। जब वल्लभाचार्य ने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर बृजभूमि में आ गोवर्द्धन में अपनी गद्दी स्थापित की, और गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी और नवनीतप्रिया जी का भव्य मन्दिर बनवाय तब श्रीनाथ जी के मन्दिर में ही बहुत से कृष्ण भक्त कवियों ने भगवान् की अलौकिक लीलाओं का गायन किया। इन लीलाओं के गायकों में से अनेक वल्लभाचार्य के शिष्य थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी ने उनका स्थान ग्रहण किया, उन्होंने चार वल्लभाचार्य जी के कवि शिष्यो को और चार अपने कवि शिष्यों को लेकर 'अष्ट छाप' की स्थापना की। कवियों की इस मण्डली की कविता इतनी उच्चकोट की है कि केवल इन्हीं कवियों की कविता के बल पर हिन्दी साहित्य विश्व की उच्चतम भाषाओं के साहित्य का समकक्ष हो सकता है। 'अष्ट छाप' के आठ कवि हैं—(१) सूरदास (२) कृष्णदास

(३) परमानन्ददास (४) कुम्भनदास (५) चतुर्भुजदास (६) छीतस्वामी (७) नन्ददास (८) गोविन्द स्वामी। इनमें प्रथम चार तो वल्लभाचार्य के और अन्तिम चार विट्ठलनाथ के शिष्य थे।

इसके पूर्व कि हम इन कवियों का परिचय दें, यहाँ कृष्ण भक्ति शाखा की प्रमुख विशेषताओं पर भी विचार कर लेना चाहिए—

(१) कृष्ण भक्त कवियों की रचनाएँ मुक्तक गीत के रूप में ही हुई हैं। मुक्तक काव्य को प्रमुखता दिए जाने के भी कुछ विशेष कारण हैं। प्रथम कृष्ण भक्त कवियों ने भगवान् कृष्ण के लोक रक्षक रूप को न अपना लोक रंजक रूप को ही अपनाया, और कृष्ण के इस रूप में माधुर्य भाव की प्रधानता है, इस माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ साधन गीति काव्य ही है। कृष्ण के जीवन में अनेक रूपता थी, और उनका शक्तिशाली और ऐश्वर्यवान रूप भी महाभारत में अभिव्यक्त हुआ है, यह रूप प्रबन्ध काव्य के लिए ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। परन्तु कृष्ण-काव्य के कवियों का मन भगवान् के इस रूप में न रमा, और इसी कारण उन्होंने प्रबन्ध काव्य न लिख मुक्तक गीत ही लिखे।

(२) कृष्ण के लोक रंजक रूप को अपनाए जाने के कारण कृष्ण भक्त कवियों की कविताओं में विषय की विषधता न आ पायी, और वे जनता के सम्मुख भगवान् कृष्ण को गोपियों से प्रेम-क्रीडाएँ करने वाले और गौओं के लालन-पालन करने वाले के रूप में प्रस्तुत कर सके। उन्होंने कृष्ण के जीवन का केवल एक पक्ष ही लिया है।

(३) कृष्ण-भक्त कवियों ने भगवान् कृष्ण की जन्म भूमि ब्रज की भाषा को ही अपने काव्य का माध्यम बनाया है। कृष्ण साहित्य की ब्रज बहुत प्रांजल और मधुर बन पड़ी है। व्रजभाषा में की गई इनकी कविता इतनी उत्कृष्ट कोटि की है कि न केवल बाद का सारा कृष्ण-काव्य ही उनकी भाषा में लिखा गया, अपितु इन्हीं द्वारा परिमार्जित और प्राजल बनाई गई ब्रज भाषा का हिन्दी काव्य पर शताब्दियों तक एक छत्र अधिकार रहा।

(४) कृष्ण-भक्त कवियों ने 'भ्रमर-गीत' लिखकर अनेक युक्तियों द्वारा सगुणोपसना की उत्कृष्टता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। सम्पूर्ण

कृष्ण भक्त कवि सगुणोपासक थे, और ज्ञान और कर्म की अपेक्षा सगुण भक्ति को अधिक महत्व देते हैं।

कृष्ण भक्त कवि और काव्य

सूरदास :—हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों में और 'अष्टछाप' में सर्व प्रमुख हैं। सूरदास तो साक्षात् वात्सल्य और भक्ति के अवतार हैं, इस अमर कवि ने अपनी माधुर्य पूर्ण कविताओं द्वारा नीरस हृदयो को भी भक्ति और प्रेम के रस से प्लावित कर दिया। सूर का वात्सल्य वर्णन तो इतना काव्याग पूर्ण और मोलिक है कि अन्य कवियो की एतद् विषयक उक्तियाँ सूर की जूठी जान पड़ती हैं। सूर जैसा वात्सल्य रस का अमर चित्रकार न कभी हुआ है और न होगा ही।

जीवन वृत्तान्त :—सूरदास के जीवन वृत्तान्त के विषय में बहुत कम ज्ञात है। प्रायः सभी मुख्य मुख्य बातों पर विद्वानों में मत भेद है। साधारण-तया सूरदासजी का जन्म संवत् १५२६ माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सं० १५४० के आस पास सूरदास का जन्म माना है। कुछ लोग इनका जन्म स्थान रुनकता (रेणुकाक्षेत्र) बतलाते हैं, और कुछ लोग इनकी जन्म भूमि दिल्ली के निकट सीही नामक ग्राम को मानते हैं। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'भक्त माल' के आधार पर सूरदास सारस्वत ब्राह्मण माने जाते हैं। एक अन्य मत के अनुसार सूरदास ब्रह्म-भट्ट और चन्द वरदाई के वंशज माने जाते हैं। यह मत 'साहित्य लहरी' के एक पद पर अवलम्बित है।

वल्लभाचार्य के शिष्य होने से पूर्व ये 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' के अनुसार "सो गऊ घाट ऊपर सूरदासजी को स्थल हुतौ" गऊ घाट पर एक सन्यासी के रूप मे रहते थे। ये गऊ घाट आगरा-मथुरा की सड़क पर रुनकुता के पास है।

सूरदासजी प्रज्ञा-चक्षु थे। कुछ लोग इनका जन्मान्ध होना सिद्ध करते हैं, और कुछ इनको जन्मान्ध न मान युवावस्था में अन्धा हुआ मानते हैं। इस विषय में एक परम्परा से कथा चली आ रही है कि सूरदासजी ने एक सुन्दरी द्वारा, जिस पर कि वे मुग्ध हो गए थे, अपने नेत्र फुड़वा लिए थे; क्योंकि वे अपने नेत्रों को ही अपने मनके विचलित होने का कारण समझते थे।

जन्मान्ध होने के विषय में भी एक कथा प्रचलित है कि एक बार सूरदास एक कुएँ में गिर पड़े। छः दिन तक उसी में पड़े रहे; अन्त में ७ वें दिन भगवान कृष्ण ने इन्हें नेत्र दान दे, अपने दर्शन कराए; परन्तु इन्होंने अपने अन्धे बने रहने का वरदान यह कह कर माग लिया कि जिन आँखों से भगवान के दर्शन किए हैं उनसे वे अब किसी मनुष्य को न देखें। निम्न लिखित दोहा इस घटना से सम्बन्धित बतलाया जाता है—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानि के मोहि।
हिरदे ते जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि॥

परन्तु इसकी प्रामाणिकता में सन्देह है।

सूरदास की कविता में शृंगार तथा बाल क्रीड़ाओं के वर्णन से सदेह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास जन्मान्ध नहीं थे, क्योंकि ऐसा सूक्ष्म और सुन्दर वर्णन कोई भी निज अनुभव के बिना नहीं कर सकता। सुनी सुनाई कथा द्वारा इतना सूक्ष्म वर्णन असम्भव है।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार सूरदास की मृत्यु संवत् १६२० में पारसोली नामक ग्राम में हुई थी। उस समय स्वामी गोस्वामी विट्ठलनाथ भी उपस्थित थे, और सूरदास ने यह पद गाया—

खजन नैन रूप रस माते
अतिसय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
उड़ि उड़ि जाय निकट श्रवननि के उलट-पलिट ताटँक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

सूरदासजी की रचना:—सूरदास जी के लिखे हुए १६ ग्रन्थ कहे जाते हैं, परन्तु इनमें प्रामाणिक तो ३ ग्रन्थ ही माने गये हैं। वे हैं—१. सूर-सागर, २. साहित्य लहरी, ३ सूर सारावली।

वल्लभाचार्य के शिष्यत्व में आने के अनन्तर इन्होंने आचार्य जी के अनुरोध से श्री मद्भागवत की कथाओं का गाने योग्य पदों में लिखना प्रारम्भ किया, सूरसागर में इन्हीं पदों का संग्रह है। परन्तु 'सूरसागर' श्रीमद्भागवत का अनुवाद नहीं है, उसकी छाया अवश्य है। इसमें सूरदासजी की अनेक नवीन उद्भावनाएँ सम्मिलित हैं। श्रीमद्भागवत की भान्ति 'सूरसागर' १२ स्कन्धों

में विभाजित है, परन्तु दशम स्कन्ध को छोड़ शेष सबकी कथा अत्यन्त संक्षिप्त रूप से कही गयी है। दशम स्कन्ध में सूरदासजी ने भगवान् कृष्ण की लीलाओं का बड़ा सुन्दर और मधुर वर्णन किया है, इसमें कृष्ण की बाल-लीला, उनके गोकुल छोड़ने और गोपिकाओं के विरह वर्णन की कथा पदों मे कही गयी है। दशम स्कन्ध की सम्पूर्ण कथा श्रीमद्भागवत से कहीं अधिक विशद और सुन्दर बन पड़ी है। 'सूर सागर' ही सूरदास की मुख्य कृति है, इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि इसमें सवा लाख पदों का संग्रह है, परन्तु इस समय 'सूरसागर' की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें चार या पाँच हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परन्तु 'सूर सागर' के इतने पद ही सूरदास की उत्कृष्टता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त हैं।

सूरसागर की रचना 'गीति काव्य' के रूप मे हुई है। सम्पूर्ण कथा स्फुट पदों के रूप में कही गयी है। यह पद मुक्तक गीत के रूप में ही हैं।

सूरदास की प्रतिभा एकागी है। उन्होंने जीवन के विस्तृत और विविध क्षेत्रों में से केवल निश्चित क्षेत्र को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। उन्होंने अपने काव्य का अवलम्बन श्री कृष्ण को बनाया है, और श्रीकृष्ण के भी लोक रजक स्वरूप को ही स्वीकार किया है। जीवन के विस्तृत दृष्टिकोण से उनका क्षेत्र परिमित और उनकी प्रतिभा एकागी प्रतीत होती है, परन्तु सूर ने अपने निश्चित क्षेत्र श्रीकृष्ण के लोक रञ्जक रूप के चित्रण में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने के कारण उनकी भक्ति भावना माधुर्य पूर्ण थी, और गीत काव्य की परम्परा में उन्होंने जयदेव और विद्यापति की शृगार प्रधान कविताओं को ही उत्तराधिकार में पाया था। इसी कारण सूरदास की कविताओं में मुख्य रूप से दो रसों—वात्सल्य और शृंगार—का ही वर्णन है। कहीं-कहीं विनय सम्बन्धी पदों में शान्त रस का भी बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है।

सूर का वात्सल्य तथा शृङ्गार वर्णन :—ऊपर हम लिखे चुके हैं कि सूरदास ने अपनी कविता में मुख्य रूप से वात्सल्य और शृंगार रस का ही वर्णन किया है, और इस प्रकार से वे वात्सल्य और शृंगार के ही कवि हैं। सच तो यह है कि सूरदास इन दोनों रसो के सब से बड़े कवि हैं।

इन दो क्षेत्रों में उनकी समता कोई नहीं कर सकता। वात्सल्य वर्णन तुलसीदास ने भी किया है; परन्तु वे भी इस क्षेत्र में सूरदास की बराबरी न कर सके। सूरदास ने यदि वात्सल्य को चुना है तो वात्सल्य ने भी सूरदास को ही अपना एक मात्र आश्रय बनाया है। सूरदास के वात्सल्य वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे बालक का हृदय लेकर उत्पन्न हुये थे और बालक का हृदय लिए हुए ही वह भव-सागर की यात्रा कर गए। बाल लीलाओं के वर्णन में सूर न केवल हिन्दी साहित्य अपितु विश्व साहित्य में बेजोड़ हैं। कृष्ण और राधिका दोनों की ही बाल क्रीड़ाओं को उन्होंने आकर्षक और भावपूर्ण बना दिया है।

कृष्ण और बलराम आगन में खेल रहे हैं, सहसा कृष्ण का ध्यान बलराम की चोटी की ओर चला गया और उसकी इतनी लम्बी चोटी को देख कृष्ण का मन मचल गया। झट माँ के पास पहुँचे और पूछा मैया! दाऊ की इतनी लम्बी चोटी और मेरी इतनी छोटी! तू तो कहा करती थी कि कन्हैया! दूध पियेगा तो तेरी भी चोटी दाऊ जैसी लम्बी मोटी हो जायगी। पर मुझे दूध पीते पीते कितनी देर हो गई और यह आज भी छोटी ही है। तू मुझे खिझा खिझा कच्चा दूध देती है, माखन रोटी तो देती नहीं। फिर भला यह चोटी कैसे बढ़े—

मैया, मेरी कब बाढ़ेगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥
तूँ तो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त, गुहत, न्हवावत, ओछत, नागिन-सी भुँइ लोटी॥
काचो दूध पियावति पचि-पचि, देत न माखन रोटी।
सूरस्याम, चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी॥

बाल स्पर्धा का कितना सुन्दर वर्णन है।

कभी बलदाऊ की शिकायत यशोदा के पास इन शब्दों में की जाती है—

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिजाओ।
मोसो कहतु मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायो॥

कहा कहौं, या रिस के मारें, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहतु कौन व माता, कौन तिहारो तात॥
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम शरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहिं कबहुं न खीजै।
मोहन कौ मुख रिस-समेत लखि, जसुमति अति मन रीझै॥

इसी प्रकार हार जीत के खेल में बालकों के 'क्षोभ' का कैसा स्वाभाविक चित्रण इन शब्दों में किया गया है—

खेलत में को काको गोसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्री दामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाँति हमतें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयां।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयां॥

कृष्ण दूर खेलने चले जाते हैं, यशोदा का हृदय व्याकुल हो जाता है। देर बाद कृष्ण आते हैं, दौड़ कर गोद में उठा लेती है और बार बार मुख चूमकर यशोदा मैया कहती है—

खेलन दूर जात कित कान्हा?
आज सुन्यौ बन हाऊ आयो, तुम नहिं जानत नान्हा॥
यह लरिका अबहीं भजि आयौ लेहु पूछि किन ताहि।
कान काटि वह लेतु सबनि के, लरिका जानत जाहि॥

मातृहृदय के मर्म को समझने के लिए सूरदास ने अद्भुत दृष्टि प्राप्त की थी। 'सूरसागर' में ऐसे ही अनेक पद्य शिशु कृष्ण की बाल क्रीडाओं के वर्णन में कहे गए हैं।

यशोदा के बालकृष्ण शीघ्र ही सम्पूर्ण ब्रज मण्डल में सबके प्रेम भाजन बन जाते हैं। बनों में ग्वाल बाल उन्हें अपने स्वाभाविक बाल-नेता के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, और गोपिएं कृष्ण की लीलाओं से मुग्ध हो उन्हें अपना प्रेम पात्र बना लेती हैं। किशोरावस्था के आगमन के साथ ही राधा से मिलन होता है, और श्रीकृष्ण उसके अलौकिक सौन्दर्य को देख मुग्ध हो जाते हैं—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गए श्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चन्दन की खौरी॥
औचक ही देखी तहं राधा, नैन विसाल भाल दिये रोरी।
सूर श्याम देखति ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

यह रूप का आकर्षण बालपन से प्रारम्भ हो जाता है। सूर ने कृष्ण राधा के प्रेम का प्रारम्भ भी रूप के आकर्षण द्वारा ही किया है। दोनों का साहचर्य वढ़ता है, वृन्दावन के करील-कुंजों में और कोकिल के स्वर से गुंजित यमुना के कछारों पर दोनों का मिलन होता है, गाय चराते समय भी वृज के वनों में साथ हो जाता है, और बालापन तथा किशोरावस्था का यह साहचर्य धीरे धीरे प्रेम का रूप धारण करने लगता है। कभी कभी कुछ मनमुटाव भी उत्पन्न हो जाता है, झगड़ा बढ़ जाता है और राधा कृष्ण को धमकी देती हुई कहती है

करि ल्यो न्यारी. हरि आपनि गैयां।
नहिं न बसात लाल कछु तुमसों सबै ग्वाल इक ठैयां॥

इसी प्रकार बालापन का यह प्रेम युवावस्था के प्रगाढ़ प्रेम के रूप में परिवर्तित हो जाता है और बालक्रीड़ा क्रमशः यौवन-क्रीड़ा में परिणत हो जाती है। बालपन के प्रेमी युवावस्था में पहुँच सूर के शृंगार वर्णन के विषय बन जाते हैं। राधा कृष्ण और गोपिकाओं के प्रेम वर्णन में भी सूर ने अद्भुत कला चातुर्य्य का परिचय दिया है। कृष्ण और गोपिकाओं की रासलीलाएं आरम्भ होती हैं, कभी वे श्रीकृष्ण की मुरली छुपा लेती हैं और कभी आबीर से उनके मुख को रंग देती हैं, इधर कृष्ण भी किसी की आख मूंद लेते हैं और कभी किसी को कदम्ब वृक्ष के नीचे बिठा मुरली सुना मुग्ध करते हैं। सूर ने इन सबका बड़ा मनोहर वर्णन अपने पदों में किया है।

सूरदास ने शृंगार रस के दोनों ही पक्षों—संयोग और वियोग—का बड़ा ही सुन्दर और विशद चित्रण किया है। संयोग और शृंगार के आलम्बन हैं राधा, कृष्ण और गोपिकाएं; और वियोग शृंगार के कृष्ण, राधा, गोपिकाएं और यशोदाजी। सूरदास के आलम्बनो का स्वतन्त्र विकास नहीं हुआ। क्योंकि किसी का पृथक स्वतन्त्र चित्रण नहीं किया गया। व्यभचारी भावो के वर्णन

में कविने अपनी प्रतिभा का विशेष प्रदर्शन किया है। उद्दीपन तथा अनुभावों की सामग्री पर्याप्त है। शृंगार वर्णन में कृष्ण का रूप वर्णन उद्दीपन के रूप में किया गया है। नख शिख वर्णन मुरली और मुरली-ध्वनि सब उद्दीपन के ही अंग हैं। उद्दीपन के लिये किया गया कृष्ण के नेत्रों का वर्णन देखिये—

देखि री! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगन चपलाई, नहि पटतर एक सैन॥
राजिव दल इन्दीवर शतदल कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै विगसत ये विगसे दिन राति॥
अरु न असित-सित झलक-पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गंग जमुन मिली आगम कीन्हौं आय॥

इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में मुरली के विषय में कैसी अनूठी उक्ति है।

सुनरी सखी! जदपि नन्द नन्दनहि नाना भाँति नचावति।
राखति एक पाँय ठाढ़े करि अति अधिकार जनावति॥
आपुन पौढ़ि अधर-सज्जा पर कर पल्लव सों पद पुलरावति।
भ्रकुटि कुटिल कोप नासा पुट हम पर कोपि कँपावति॥

राधा, गोपियों और भक्त के नेत्र अनुभाव प्रकट करते हैं। अनुभाव पक्ष में किए गए नेत्रों के वर्णन को देखिए—

मेरे नैना विरह की बेल बई।
सींचत नीर नैन के सजनी मूल पताल गई॥
विगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं सजनी सब तन पसरि छई॥

सूरदास का शृंगार वर्णन संयोग के समय सोलह आने सयोगमय है। उसमें वियोग की किसी प्रकार की आशंका नहीं, ब्रज के मधुर वातावरण का चित्रण और कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य का वर्णन संयोग शृंगार में उद्दीपन के रूप में ही प्रयुक्त किया गया है।

संयोग के अनन्तर वियोग होता है। कृष्ण वृन्दावन छोड मथुरा चले जाते हैं, और वहाँ राजकीय कार्यों में संलग्न हो ब्रज की गोपियों, राधा और यशोदा सहित सम्पूर्ण ब्रज निवासियों को भूल से जाते हैं। इधर ब्रज निवासी,

गोपिकाएँ, यशोदा और राधा उनकी प्रतीक्षा करते हैं, दिन बीत जाते हैं परन्तु कृष्ण नहीं आते। कभी यशोदा नन्द से कहती —

छाँड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई ब्रज की छाती, कत यह सूल सह्यौ॥

कृष्ण वियोग से व्याकुल यशोदा कृष्ण से मिलने के लिए आतुर है, और नन्द से सन्तोषजनक रूप से उत्तर न पा वह कितनी व्याकुलता से और खीज से कहती है—

नन्द! ब्रज लीजे ठोकि बजाय।
देहु विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुले कराय॥

कितनी पीड़ा, व्याकुलता, निर्वेद और तिरस्कार आदि भावनाओं को इसमे भर दिया गया है।

गोपियों का विरह अत्यन्त व्यापक है, वह उनके सम्पूर्ण जीवन का एक अभिन्न अङ्ग बन जाता है, और इसी कारण उसमें एक विशेष तीव्रता आ गयी है। सयोग के समय के वृन्दावन के मधुर प्राकृतिक दृश्य जो आनन्द और सुख के वर्द्धक थे, और जिस यमुना के तटों पर कृष्ण और गोपियों ने प्रेम क्रीड़ाएँ की थीं, अब वे सब उन्हें काटने को दौड़ते हैं, अब वह रसहीन जीवन से उकता वृन्दावन के प्राकृतिक सौन्दर्य को दुःखद समझती हुई कहती हैं—

मधुवन! तुम कत रहत हरे?
विरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?
तुम हो निलज, लाज नहीं तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठि परे?

बिना कृष्ण के गोपियों के लिए 'बैरिन भई रतियाँ" और "साँपिन भई सेजिया" हो जाती हैं। यही नहीं कि वे अपने घरों की चार-दीवारी के अन्दर बैठ कृष्ण की याद में तड़पती हों। जिस प्रकार सयोगावस्था में वे श्रीकृष्ण के साथ यमुना के कछारों और वृन्दावन के करील वनों में विहार करती थीं, वैसे ही अब भी वे श्याम के वियोग में वन वन फिरती हैं और अन्त में निराश हो कहती हैं—

एक बन ढूंढ़ि सकल बन ढूंढ़ौ कतहुँ न श्याम लहौ।"

गोपियों के मन की निराशा की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है और इसके साथ ही "एक बन ढूँढ़ि सकल बन ढूँढ़ौं" में मानव हृदय में स्थित वन्य जीवन के माधुर्य पूर्ण संस्कारों को जाग्रत करने की कितनी शक्ति है। विभिन्न प्राकृतिक दृश्यो का और बसन्त आदि ऋतुओं का वर्णन कर कवि ने गोपियों की वियोगावस्था को और भी अधिक उद्दीप्त करने का प्रयत्न किया है। उद्धव श्रीकृष्ण के सन्देश को लेकर आते हैं और गोपियों को ज्ञान का उपदेश देते हैं। गोपियों ने जहाँ उद्धव के ज्ञान का उपहास किया है वहाँ उन्होंने अपने विरह का भी बड़ा ही सुन्दर कथन किया है। यह उद्धव और गोपियों का सम्वाद 'भ्रमर गीत" के नाम से प्रसिद्ध है। सूरदास ने विरह की अन्यत्र सूक्ष्म दशाओं का जैसा विदग्धतापूर्ण वर्णन इस गीत मे किया है, वैसा अत्यन्त दुर्लभ है। साथ ही सूरदास ने अत्यन्त कुशलता पूर्वक गोपियो के मुख से निर्गुण मत की शुष्कता और अग्राह्यता प्रदर्शित की है। गोपियों ने बड़े व्यंग्य पूर्ण ढग से उद्धव के योग का उपहास उड़ाया है।

जिस प्रकार सूर का शृंगार वर्णन संयोग के समय सोलह आने संयोग मय है, उसी प्रकार वियोग के समय वह सोलह आना वियोगमय है। इसका मुख्य कारण सूर के स्वभाव का बालक सदृश सरल होना है जो कि प्रिय के क्षणिक सम्मिलन के समय सब कुछ भूल खुशी के मारे फूला नहीं समाता और प्रिय के क्षणिक वियोग के कारण व्याकुल हो उठता है। सूरदास ने राधिका के वियोग समय का चित्रण अत्यन्त आकर्षक रूप से किया है। उसका वह चित्रण उसके प्रेमकी प्रगाढ़ता के अनुकूल ही बन पड़ा है। कृष्ण के मिलन समय की चचल, हँसोड़ और प्रगल्भ राधिका वियोग के समय शान्त और गम्भोर हो जाती है। श्याम-सुन्दर के संदेश को ले जब उद्धव ब्रज में पहुँचते हैं तो उस समय अन्य गोपिकाएं तो उद्धव से वाद-विवाद करती हैं; परन्तु राधिका वहाँ जाती भी नहीं। वियोग के कारण राधिका की आँखें धस चुकी थीं, मुख पीला पड़ चुका था और शरीर सूख कर काँटा हो गया था। संयोग के समय प्रिय के निकट विरह की किंचित् आशंका न कर प्रेम में पूर्ण मग्न रहने वाली राधिका की विरहा-वस्था की यह दशा बहुत

मार्मिक बन पड़ी है।

वियोग शृंगार की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं और जिन विभिन्न शैलियों से इन दशाओं का साहित्य में वर्णन किया जा सकता है, वह सब सूर के वियोग शृंगार में मौजूद हैं।

सूरदास के काव्य में शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—का जितना विस्तार मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है और जैसी इस क्षेत्र में सूर को सफलता प्राप्त हुई है, वैसी अन्य किसी कवि को नहीं।

सूरदास ने आदर्श को छोड़ यथार्थ जीवन का चित्रण किया है। उनके राधाकृष्ण अलौकिक होते हुए भी लौकिक ही अधिक बन पड़े हैं, उनका प्रेम साधारण स्त्री पुरुष का प्रेम है। सूरदास ने अपनी प्रतिभा को यथार्थवाद की ओर अधिक लगाया है। दूसरा सूरदास पर काव्य शास्त्र का काफी प्रभाव है, भक्तमाल के कवियों में से विद्यापति को छोड़ काव्य शास्त्र का जितना प्रभाव सूरदास पर है उतना अन्य किसी पर नहीं।

सूरदास गीति-काव्य के कवि हैं, इसी कारण सूरदास चरित्र-चित्रण में असफल रहे हैं। उनके काव्य का कोई भी ऐसा पात्र नहीं जिसका कि चरित्र-चित्रण की दृष्टि से विकास हुआ हो। यदि सूरदास ने कृष्ण की सम्पूर्ण जीवन कथा को उसकी अनेक रूपता सहित कहा होता तो उसमें चरित्र-चित्रण की कला का पूर्ण विकास हो सकता था; परन्तु सूर ने कृष्ण जीवन के केवल एक पक्ष को ही लिया है। उन्हें लोक रक्षक की अपेक्षा लोक रंजक कृष्ण ही अधिक भाये।

सूरदास के काव्य में व्यभिचारी भावों की प्रचुरता है और उन्होंने व्यभिचारी भावों को आवश्यकता से अधिक प्रमुखता प्रदान की है; परन्तु मन के सूक्ष्म भावों के वर्णन में सूरदास की सी दक्षता अन्य कवियों में उपलब्ध नहीं हो सकती। वे मन की विविध वृत्तियों के चित्रकार हैं। कहीं २ सूरदास द्वारा वर्णित संयोग शृंगार में यत्र-तत्र अश्लीलता आगयी है और कहीं २ आवश्यकता से अधिक शृंगार का आश्रय लेने के कारण स्वाभाविक संयोग के वर्णन में भी अस्वाभाविकता आ गयी है। जहाँ कहीं सूरदास ने केवल कविता के लिए ही कविता करने का प्रयत्न किया है वहाँ अलंकारों की भरमार के कारण काव्य

सम्बन्धी अन्य गुणों का सर्वथा अभाव हो गया, और कविता कविता न रह केवल चमत्कार प्रदर्शन का एक साधन मात्र बन गयी है।

सूरदास ने दृष्टि कूट और कूट पद भी लिखे हैं जिनका अर्थ समझने में साधारण जन तो क्या अच्छे अच्छे विशेषज्ञ भी कठिनता अनुभव करते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटो की निम्न कोटि के साहित्य में गणना की जाती है।

सूरदास की कीर्ति का अक्षय स्तम्भ तो 'सूर सागर' ही है, और केवल सूर सागर ही भारतीय साहित्य के किसी भी बडे से बडे कवि की उत्कृष्टतम रचना की समता में पीछे नहीं रह सकता। सूर मानव हृदय की कोमल, सरल और सरस भावनाओ के कवि हैं। जीवन की गम्भीर समस्याओं पर उन्होंने विचार नहीं किया, और नही उन्होंने लोक पक्ष की परवाह की है, परन्तु भगवान् कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति के चित्रण द्वारा सूरदास ने जहाँ भक्त हृदयों को अलौकिक शान्ति प्रदान की वहाँ काव्य रस पिपासुओं को भी तृप्त किया।

सूरदास की भाषा शुद्ध वृज भाषा है, जो कि बड़ी ललित और श्रुति मधुर है। इसमें माधुर्य तथा प्रसाद गुणों की प्रधानता है। सूरदास ने कहीं कहीं शब्दों को तोडा मरोड़ा भी है और कही २ भाषा व्याकरण विरुद्ध हो गयी है।

सूरदास मानव मन के कवि हैं। प्रेम—माता, पिता, पुत्र व प्रियतम, प्रेयसी का—उनके काव्य का मुख्य विषय है। वे सुधारक नहीं थे, वे ज्ञान-मार्गी भी नही, वे विभिन्न सम्प्रदायों के खण्डन-मंडन में भी नहीं पडे, उन्होंने अत्यन्त सीधे, सरल और भाव पूर्ण हृदय से अपने प्रभु के गुणों का गायन किया है। उन्हें केवल अपने कृष्ण—केवल बालकृष्ण—से मतलब था। सूरदास की भगवान के चरणों में अटल भक्ति थी और उन्हीं पर भरोसा और विश्वास था। वे झगड़ों को पसन्द नहीं करते वे तो प्रेमी और श्रद्धालु भक्त थे। उनका हृदय अत्यन्त सरल था। इसी सरलता की छाप उनके सम्पूर्ण काव्य पर बराबर लक्षित होती है।

तुलसीदास और सूरदास:—तुलसी और सूर दोनों ही हिन्दी के महाकवि हैं, और दो महाकवियों की तुलना न तो लाभप्रद ही है और न ठीक ही हो सकती है, फिर भी उनकी समताओं और विभिन्नताओं को समझ लेना चाहिए।

तुलसीदास और सूरदास के काव्य-क्षेत्र में अन्तर है, सूरदास ने कृष्ण के जीवन के केवल एक पक्ष को ले अपने काव्य की रचना की है, इसी कारण वे जीवन को सम्पूर्ण रूप मे न देख सके और उनका दृष्टिकोण एकांगी ही रहा; परन्तु तुलसीदास ने राम चरित को अपने काव्य का विषय बना जीवन को समग्र रूप में देखा है, और जीवन और समाज सम्बन्धी बहुत सी समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। सूरदास ने केवल शृंगार और वात्सल्य को ही अपने काव्य में अपनाया है; किन्तु तुलसीदास की रचनाओ में शृंगार, वात्सल्य, शान्त, वीर इत्यादि सम्पूर्ण रसो का वर्णन मिल जाता है। उनका शृंगार वर्णन अत्यन्त मर्यादित और भारतीय संस्कृति के अनुकूल बन पड़ा है। सूर ने यद्यपि शृंगार और वात्सल्य पर ही अधिक लिखा है; परन्तु इस क्षेत्र में कोई भी, तुलसीदास भी, उनकी बराबरी नहीं कर सकते। उनका क्षेत्र परि-मित अवश्य है; परन्तु दृष्टि और पहुँच के कारण वे दूसरे सब कवियों को इस क्षेत्र में पीछे छोड़ जाते हैं। सूर की रचनाओ में मधुरता कूट कूट कर भरी है, और इस विषय में वे तुलसी से भी आगे हैं।

सूरदास ने अधिकतर वृज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। यद्यपि सूर की भाषा अत्यन्त श्रुति मधुर है, तथापि उसमें अनेक व्याकरण विरुद्ध प्रयोग भी यत्र—तत्र मिल जाते हैं। तुलसीदास का दोनों भाषाओ – वृज और अवधी—पर समानाधिकार है, उन्होंने दोनों भाषाओं में अपनी काव्य कुशलता का परिचय दिया है। हिन्दी में तुलसीदास के अतिरिक्त अन्य किसी भी कवि ने दोनों भाषाओं पर समानाधिकार प्रदर्शित नहीं किया। गोस्वामी जी ने अवधी और व्रज में संस्कृत शब्दों के मिश्रण द्वारा उन्हें साहित्यिक रूप प्रदान किया है।

सूरदास ने अपने काव्य में जयदेव और विद्यापति की मुक्तक गीत पद्धति को अपनाया है और केवल इसी पद्धति द्वारा उन्होंने भगवान कृष्ण की लीलाओ का गायन किया है; जब कि तुलसीदास ने अपने समय में प्रचलित सम्पूर्ण काव्य शैलियों में रचना कर इस विषय में अपनी व्यापकता और कुशलता का परिचय दिया है।

शुद्ध कलात्मक दृष्टि से सूर और तुलसी दोनों ही हिन्दी के महाकवि हैं। यद्यपि तुलसीदास का काव्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और उन्होंने जीवन

सम्पूर्ण समस्याओं पर बड़ी गम्भीरता से विचार किया है, तथापि सूर और तुलसी ने अपने अपने क्षेत्र में काव्य की दृष्टि से समान सफलता प्राप्त की हैं और दोनों ही हमारे सर्व श्रेष्ठ जातीय कलाकार हैं। सूर और तुलसी के सम्बन्ध में कहा गया निम्नलिखित दोहा ठीक ही है—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगण केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकाश॥

तुलसी और सूर की भक्ति भावना:—सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे और इस प्रकार वल्लभाचार्य के 'पुष्ट मार्ग' के अनुगामी थे। जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है कि वल्लभाचार्य ही कृष्ण भक्ति में माधुर्य भावकी उपासना का प्रतिष्ठापन करने वाले थे। जबसे सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्यत्व में आए उन्होंने वल्लभ की माधुर्य भाव की उपासना को लेकर अपने भगवान के गुणानुवाद में गीत रचना प्रारम्भ की। वे बालकृष्ण के उपासक थे और उनकी भक्ति सखा भाव की थी। सखा भाव की उपासना के कारण सूरदास ने अनेक बार अक्खड़ता का भी प्रदर्शन किया है। मिश्र बन्धुओं का विचार है कि सूरदास अपने प्रभु को समय समय पर खरी खोटी सुनाने में नहीं चूकते कभी वे गोपियों के मुख से और कभी अपने आप ही अवसर पाने पर उपालम्भ देने में पीछे नहीं रहते। इसके विपरीत गोस्वामी तुलसीदास को मिश्र बन्धुओं ने चापलूस बतलाया है; परन्तु आचार्य शुक्ल इस मत का निषेध करते हुए कहते हैं कि सूरदास जी ने जिस किसी प्रसंग में तथाकथित अक्खड़ता का प्रदर्शन किया है, वे प्रायः शृंगार और वात्सल्य के ही हैं। जहाँ कहीं प्रेम की अधिकता होती है वहाँ खरा खोटा सुनाना अक्खड़ता नहीं। यशोदा के लिये कृष्ण सदा ही 'छगन मगन' हैं, चाहे वह मथुरा में कितना ही पराक्रम क्यों न दिखा आए हों। तुलसीदास की भक्ति भावना 'सेव्य-सेवक' भाव की थी और उसमें दास भावना की अधिकता थी। यही कारण है कि उन्होंने कभी ऐसा अवसर ही नहीं आने दिया जिसमें कि उपालम्भ की या खरी खोटी सुनाने की आवश्यकता हो।

सूरदास दैन्य भावों के प्रदर्शन में तुलसीदास से पीछे नहीं। जहाँ इन्होंने विनय के पद लिखे हैं वहाँ दीनता और हीनता का पूर्ण प्रदर्शन है—

सूरदास द्वारे ठाढ़ौ आँधरो भिखारी

भगवान् के द्वारे पर खड़े अन्धे भिखारी के रूप में सूरदास ने कितनी दीनता का प्रदर्शन किया है ? इसी प्रकार—

प्रभु मैं सब पतितन को टीकौ

× × × ×

जसे ही राखो तैसेहि रहिहौ।

इत्यादि अनेक विनय के पदों में सूरदास ने दैन्य भाव का बहुत मार्मिक वर्णन किवा है। विनय के इन पदों में निर्वेद की प्रवलता और शान्त रस की प्रधानता है। सूरदास भी अपने प्रभु के अनुचर हैं—

कमल नयन घन स्याम मनोहर अनुचर भयौ रहौं।
सूरदास प्रभु जगत कृपानिधि अनुचर चरन गहौ॥

परन्तु मुँह लगे अनुचर होने के कारण उनका कभी कभी अकड़ जाना स्वाभाविक ही था। तभी तो वे उन्हें कभी २ 'विरद विनु' करने की धमकी देते हैं।

किन्तु तुलसीदास सदा मर्यादा में ही चलते हैं, वे अपने प्रभु की महानता और ऐश्वर्य को नहीं भूल पाते। वे जब कभी उपालम्भ भी देते हैं तो अत्यन्त शिष्टता से और उसमें भी अपनी अनन्य भक्ति को ही प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं—

दूबरे को दूसरौ न द्वार राम दया धाम,
सबरी ही गति बल-विभव-विहीन की।

इतना कहने के अनन्तर वह कहते हैं:—

लागेगी पै लाज व विराजमान विरुदहिं,
महाराज आज जो न देत दाद दीन की।

तुलसीदास की भक्ति भावना में दास भाव की अधिकता के कारण कहीं-कहीं चाटुकारिता की झलक मिल जाना स्वाभाविक ही है; परन्तु तुलसीदास की दीनता सच्ची है और उन्होंने अत्यन्त मर्यादापूर्वक इसे इष्टदेव के सम्मुख प्रदर्शित करने का यत्न किया है। मर्यादावादी होने के कारण ही तुलसीदास अन्य देवताओं के प्रति भी सदा विनम्र रहते हैं, जब कि सूरदास अन्य देवताओं को नीचा दिखाने में नहीं चूकते।

सूर और तुलसी की भक्ति भावनाओं में अन्तर का कारण उनका विभिन्न उपासना पद्धतियों से सम्बन्धित होना है। दूसरा तुलसी भगवान् के ऐश्वर्य के उपासक थे, और सूर माधुर्य के।

नन्ददास :—का स्थान 'अष्ट छाप' के कवियों मे सूरदास के अनन्तर आता है। इनके लिए ही 'सब कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया' वाली उक्ति प्रसिद्ध चली आती है। नन्ददास के जीवन वृत्तान्त के विषय में अभी तक कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अन्य भक्त कवियों की भाँति नन्ददास ने अपने सम्बन्ध में स्वरचित ग्रन्थों मे कुछ नहीं लिखा। नाभादास आदि द्वारा लिखित भक्तो की जीवनियों में कहीं कहीं आपके विषय में कुछ उल्लेख मिल जाता है, उसी सामग्री के आधार पर ही नन्ददास के जीवन के विषय में कुछ लिखा जाता है।

इनका जन्म सं० १५६० के लगभग माना जाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ द्वारा लिखित "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता" और बाबा बेनीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित' में नन्ददास को गोस्वामी तुलसीदास का भाई बतलाया गया है। उन्हीं के अनुकरण पर ही उन्होंने श्री मद्भागवत की कथा को दोहे चौपाइयों में लिखा था; परन्तु ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही, जिसके अनुसार नन्ददास का गोस्वामी जी का भाई होना प्रामाणिक माना जाए; क्योंकि उपरोक्त दोनों ग्रन्थों की प्रामाणिकता में सन्देह किया जाता है। नाभादास कृत भक्तमाल में इनके जीवन के विषय में निम्न लिखित पंक्ति कही गयी है—

चन्द्रहास-अग्रज सुहृद परम-प्रेम-पथ में पगे।

ऐसा कहा जाता है वे अपने प्रारम्भिक जीवन में एक साहुकार की स्त्री पर आसक्त थे। उसके दर्शन के बिना वे भोजन तक नहीं करते थे और उसी के घरके चारों ओर चक्कर लगाया करते थे। साहुकार का परिवार उनसे तंग आ अपना गाँव छोड़ गोकुल चल पड़ा। जब इन्हें पता चला तो यह भी उनके पीछे पीछे जा पहुँचे; परन्तु वहाँ विट्ठलनाथ के उपदेश से उनकी आखे खुलीं और वे विट्ठलनाथ के शिष्य हो गए। वहीं वे भगवान् कृष्ण की रास लीलाओं का गायन करने लगे।

इनकी रची हुई १–रास-पंचाध्यायी २–भंवरगीत ३–रूप मंजरी ४–विरह-मजरी ५–रस-मजरी ६–मान-मंजरी ७–नाम-माला ८–अनेकार्थ-मंजरी ९–स्याम-सगाई १०–रुक्मिणी मंगल ११–सिद्धान्त-पंचाध्यायी १२–दशम-स्कन्ध तथा पदावली इत्यादि पुस्तकें हैं।

'रास-पंचाध्यायी' की रचना गीत-गोविन्द के ढंग पर की गयी है। इसमें भगवान् की प्रेम क्रीड़ाओं का बड़ा ही सुन्दर वर्णन प्रवाहमयी सजीव भाषा में किया गया है। शब्द शक्ति का गम्भीर अध्ययन होने के कारण इनकी रचना की भाषा अत्याधिक सुन्दर बन पड़ी है—

छवि सों निर्त्तनि, पटकनि, लटकनि, मण्डल डोलनी।
कोटि अमृत सम मुसकानि मंजुलता थेई-थेई बोलनी॥

इसी प्रकार—

नूपर कंकन किंकन करतल मंजुल मुरली।
ताल, मृदङ्ग, उपंग, चंग एकहि सुर जुरली॥
मृदुल मुरज टङ्कार, तार-झंकार मिली पुनि।
मधुर जन्त्र की तार, भंवर गुंजार रली पुनि॥

नन्ददास ने टवर्ग इत्यादि श्रुतिकटु अक्षरों को भी शृंगार रस की अभिव्यक्ति में सफलता पूर्वक प्रयुक्त कर अपनी काव्य कुशलता का परिचय दिया है। 'रास-पचाध्यायी' में यद्यपि मुख्य रूप से भगवान् कृष्ण की रास लीलाओं का ही वर्णन है, अतः शृंगार रस की प्रधानता स्वाभाविक ही है; परन्तु नन्ददास ने लीलाओं का वर्णन करते हुए काव्य के प्रायः सभी मुख्य रसों का भी उसमें यथास्थान समावेश कर दिया है। 'प्रनत मनोरथ करन, चरन सरसी कह पिय के' इत्यादि पंक्तियों में करुणरस की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति हो पायी है, इसी प्रकार 'रास-पंचाध्यायी' की समाप्ति के समय कवि ने शान्त रस का अत्यन्त सुन्दर चित्र खेंचा है।

नन्ददास ने 'रास-पंचाध्यायी' को लौकिक शृंगार वर्णन के रूप में नहीं लिखा, नन्ददास के कृष्ण तो परब्रह्म है—

परमातम पर ब्रह्म, सबन के अन्तर जामी।
नारायन-भगवान धरम करि सबके स्वामी॥

यही पर-ब्रह्म कृष्ण रास लीलाओं के नायक हैं। गोपिकाओं को आत्मा मान रास लीला को भगवान् द्वारा गोलोक में की गई नित्य लीला के समान मान इन्हें पारलौकिक रूप प्रदान किया गया है।

'भंवर गीत' नन्ददास की दूसरी प्रसिद्ध रचना है। 'भँवर गीत' हिन्दी के उत्कृष्टतम विरहकाव्यों में गिना जाता है। नन्ददास की गोपियाँ भावुक कम हो तार्किक अधिक है। 'भँवर गीत' में गोपी—उद्धव संवाद द्वारा नन्ददास ने सगुण मत की प्रतिष्ठा का सुन्दर प्रयत्न किया है—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमे, मोहि तुम कहो कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह ही, माया दर्पन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमल बारि मिल कीच॥
सखा सुन श्याम के।
जो मुख नाहिन हतो कहो किन माखन खायो।
पायन बिन गो संग कहो बन बन को धायो॥
आँखिन मे अंजन दयो गोवर्धन लयो हाथ।
नंद जसोदा पूत है कुंवर कान्ह ब्रज नाथ॥
सखा सुन श्याम के।

इसके विपरीत उद्धव अपने ज्ञान का उपदेश देते हुए उस परब्रह्म की प्राप्ति का साधन योग ही बतलाते हैं; परन्तु गोपियाँ उसका उत्तर इन शब्दों में देती हैं—

ताहि बतावहु जोग जोग ऊधो जेहि भावै।
प्रेम सहित हम पास नन्द नन्दन गुन गावै॥
नैन बैन मन प्रान में मोहन गुन भरपूरि।
प्रेम-पयूषै छाँड़ि कै कौन समेटै धूरि॥
सखा सुन श्याम के।

नन्ददास केवल भक्त ही नहीं थे, वे संस्कृत के पण्डित थे। उनका काव्य शास्त्र विषयक अध्ययन भी बहुत विस्तृत था। उन्होंने संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद भी किया है। नन्ददास ने अपनी कविताओं में अपने सम्प्रदाय के

दार्शनिक और मार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या की है। सूरदास की अपेक्षा नन्ददास में काव्य-कौशल की मात्रा अधिक है। 'अष्ट छाप' के कवियों में सूरदास के अनन्तर इन्हीं का स्थान है।

'अष्ट छाप' के अन्य कवियों ने भी रचनाएँ की हैं; परन्तु उनमें सूर तथा नन्ददास जैसा न तो काव्य सौन्दर्य ही है, और न प्रतिभा ही।

कृष्णदास—जाति के शूद्र और गुजरात निवासी थे। वल्लभाचार्य के विशेष प्रिय होने के कारण इनका कृष्ण भक्तों में काफी सम्मान था। ये बड़े रसिक थे, इन्होंने शृंगार रस का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'भ्रमर गीत' और 'प्रेमतत्त्व निरूपण'। इसके अतिरिक्त जुगलमान चरित्र, प्रेमरस-राशि, पदावली इत्यादि अन्य भी कुछ पुस्तकें हैं। इनकी रचनाओं में भक्ति भाव की प्रधानता अवश्य है, और तन्मयता भी; परन्तु कवित्व कम है। इनका समय सं० १५५४ माना जाता है।

परमानन्ददास—जाति के ब्राह्मण थे और कन्नौज की ओर के रहने वाले थे। यह अपने समय के प्रसिद्ध संगीतज्ञों में से थे। इनके फुटकर पद ही प्राप्य है जो कि 'परमानन्द सागर' में संग्रहीत हैं। इनका समय सं० १५५० वि० माना गया है।

कुम्भनदास—जाति के क्षत्रिय थे और गोवर्धन के पास किसी ग्राम के रहने वाले थे। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—दान लीला तथा पदावली। इनकी कविता साधारण है; परन्तु भक्ति की अनन्यता को प्रदर्शित करने वाली है। इनका दृष्टिकोण इनके इस पद से स्पष्ट है—'कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु और सबै बेकाम'। कुम्भनदास का समय १५५० के लगभग माना जाता है।

छीतस्वामी—जाति के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे और मथुरा के रहने वाले थे। इनके केवल स्फुट पद प्राप्त हैं, जो इनके उत्कट प्रेम के परिचायक हैं। 'विधना तोसों अचरा पसारि माँगों जन्म जन्म दीजो याही वृज बसिबो' पद इन्हीं का है। इनका समय सं० १५६५ माना जाता है

चतुर्भुजदास:—कुम्भनदास के पुत्र थे। इनकी छः पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—दान लीला, भक्ति प्रताप, मधुमालती कथा, द्वादश यश, कीर्तनावली, पदावली। इनकी कविता पर सूरदासजी का अधिक प्रभाव है। इन्होंने कृष्ण चरित्र को

अपनी कविता का विषय न बना केवल कृष्ण पर ही रचना की है। यह कवि की अपेक्षा संगीतकार अधिक थे। इनका समय सं० १५९७ के लगभग माना गया है।

गोविन्द स्वामी :—जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे, तानसेन इन्हीं का शिष्य था। इनके स्फुट पद उपलब्ध हैं। इनका समय स० १५६२ के लगभग माना गया है।

अष्टछाप के प्रायः सभी कवि अपनी भक्ति भावना की अनन्यता तथा तन्मयता के लिए प्रसिद्ध हैं। ये सब प्रायः अच्छे संगीतज्ञ और कलाविद् थे, और इनका ब्रज भाषा पर पूर्ण अधिकार था। भगवान् के प्रेम में लीन हो इन्होंने उच्चकोटि के सरस गीतों की रचना की है। इनकी रचनाएँ स्वान्तः सुखाय होती थीं। इस कारण इनकी रचनाओं में रागात्मकता की प्रधानता है।

हितहरिवंश :—राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे और अष्ट छाप के बाहर रहकर कविता करने वाले कवियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हितहरिवंश जाति के गौड़ ब्राह्मण थे और मथुरा के निकट बाद ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था। ऐसा प्रसिद्ध है कि पहले ये मध्व सम्प्रदाय में दीक्षित थे; परन्तु बाद में स्वयं राधिकाजी ने इन्हें स्वप्न में मन्त्र दीक्षा दी। इन्होंने अपने सम्प्रदाय में राधिकाजी को भगवान् से भी अधिक प्रधानता प्रदान की है, क्योंकि भगवान् सदा अपनी प्रकृति के ही वश में रहते हैं। हितहरिवंश की दो रचनाएँ 'राधा सुधानिधि' और 'हित चौरासी' प्रसिद्ध हैं। प्रथम पुस्तक सस्कृत में लिखी गयी है। इनके कुछ स्फुट पद भी प्राप्य हैं। इनका ब्रज भाषा पर पूर्ण अधिकार था, इसलिए इनकी रचनाएँ भाषा के संगीतमय प्रभाव के साथ साथ माधुर्यपूर्ण हैं। 'हित चौरासी' के सम्पूर्ण पद जहाँ कोमल और सरस भावों से पूर्ण हैं वहाँ भाषा की प्राजलता और मधुरता के कारण बहुत उत्कृष्ट बन पड़े हैं। हितहरिवंश की रचनाओं में माधुर्य की अधिकता है और इसी कारण उनको कृष्ण की वंशी के अवतार कहा जाता है। इनके अनेक शिष्यों ने भी ब्रज भाषा में माधुर्य पूर्ण काव्य सर्जना की है।

हितहरिवंश की कविता का एक उदाहरण देखिये—

आज बन नीको रास बनायौ।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना-तट, मोहन बेनु बजायौ।
कल कङ्कन-किंकन नूपुर-धुन, सुनि खग मृग सचु पायौ॥
जुवतिन-मण्डल मध्य श्यामघन सारङ्ग राग जमायौ।
ताल मृदङ्ग उपंग मुरज ढफ मिलि रस-सिन्धु बढ़ायौ॥

स्वामी हरिदास :—सुप्रसिद्ध गायक तानसेन के गुरु थे और संगीत शास्त्र में विशेष रूप से कुशल थे। ये पहले निम्बार्क मतानुयायी थे; परन्तु बाद में इन्होंने अपना अलग मत स्थापित किया जो कि टट्टी सम्प्रदाय कहलाया।

जाति के ये सनाढ्य ब्राह्मण माने जाते हैं, इनके जीवन के वृत्तान्त के विषय में विशेष रूप से कुछ ज्ञात नहीं। इनका जन्म समय अनिश्चित है, रचनाकाल सं० १६०० के लगभग माना गया है। इनकी रचना राग रागनियों में है, भाव बहुत उत्कृष्ट हैं; परन्तु भाषा परिमार्जित नहीं। इनके पदों के तीन संग्रह 'हरिदासजी के ग्रन्थ' तथा 'स्वामी हरिदासजी के पद' आदि नामों से प्राप्त होते हैं।

मीराँ बाई :—का हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों में बहुत उच्चस्थान है। उनके पदों में जो मधुर वेदना और गहरी पीड़ा अभिव्यक्त होती है, वे निजत्व को लिए होने के कारण बहुत मार्मिक बन पड़ी हैं। सूर अपनी भावनाओं को गोपियों और राधा द्वारा अभिव्यक्त करते हैं; परन्तु मीराँ ने तो स्वयं ही गोपियों और राधा का स्थान ले लिया है; यही कारण है कि उनकी कविता में सूरदास से अधिक गम्भीरता आ गयी है।

जीवन वृतान्त :—मीराँ के जन्म संवत् और वंश आदि के विषय में काफी समय से वाद-विवाद चल रहा है। अनेक प्रकार के मत प्रगट किए जाते हैं। कुछ लोग इन्हें मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा कुम्भ की रानी समझते थे और कुछ अन्य सज्जन इन्हें प्रसिद्ध राठौर वीर जयमल की पुत्री बतलाते हैं। अब काफी खोज के अनन्तर इनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में बहुत सी बातें निश्चित सी हो गयी हैं, और हम उन्हें प्रामाणिक मान सकते हैं।

मीराँ बाई जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ता के प्रसिद्ध राव दूदाजी की पौत्री और राठौर रत्नसिंह की पुत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५५५ के लगभग हुआ माना जाता है। बाल्यावस्था में ही मीराँ गिरधरलाल की मूर्ति को देख उनकी उपासिका बन गयीं और उन्हीं को अपने पति रूप में भी स्वीकार कर लिया। मीराँ ने अपने पदों में भी इसी बालापन के प्रेम का संकेत किया है। "बालपना की प्रीति" या 'बालसनेही' आदि मीराँ के पदों में यत्रतत्र मिल जाते हैं। मीराँ का विवाह उदयपुर के ज्येष्ठ राजकुमार और राणा सागा के पुत्र भोजराज से हुआ था; परन्तु विवाह के थोड़े समय पश्चात् ही उनकी मृत्यु हो गयी और इस प्रकार मीराँ बाई अपने वैवाहिक जीवन के सुख से अल्पकाल में ही वञ्चित हो गयी; परन्तु मीराँ ने अपने गिरधर गोपाल को भुलाया नहीं था, और वे अपने वैधव्य दुःख को भूल भगवान् कृष्ण की सेवा में ही तल्लीन हो गयी। साधु सन्तों के सत्संग में आने जाने के कारण और भगवान् कृष्ण की मूर्ति के सम्मुख नाचने गाने के कारण राज परिवार के लोग इनसे रुष्ट हो गए। उन्हें अनेक प्रकार से तग करने के प्रयत्न किये गये और कहा जाता है कि इन्हें विष भी देने का प्रयत्न किया गया; परन्तु भगवान् की कृपा से इनकी रक्षा ही हो गई। अपनी भक्ति में बाधा पड़ती देख मीराँ ने गृह त्याग दिया और तीर्थ यात्रा करने चल पड़ीं। तीर्थाटन करती हुई मीराँ वृन्दावन पहुँची। वहाँ वे चैतन्य सम्प्रदायी जीवस्वामी का सतसंग करने के अनन्तर द्वारिका चली गयीं और वहीं रहकर भगवान् का भजन करने लगीं। यहीं सं० १६०३ में इनका स्वर्गवास हो गया।

मीराँ बाई की रचना :—मीराँ बाई की निम्नलिखित रचनाएँ बतलायी जाती हैं—(१) नरसीजी रो माहेरो। (२) गीत गोविन्द की टीका (३) राग-गोविन्द (४) सोरठ के पद (५) मीराँ बाई का मलार (६) गर्वागीत (७) फुटकर पद।

'नरसीजी रो माहेरो' या मायरा मीराँ द्वारा लिखा हुआ माना जाता है; परन्तु इसकी अब तक कोई भी प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं हुई। जो पद इसके प्रचलित भी हैं वे भी साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते।

'गीत गोविन्द की टीका' का अभी तक कुछ पता नहीं चला। इसलिए इसे मीराँ की रचना मानने में सन्देह प्रगट किया जाता है। 'राग गोविन्द' के अस्तित्व को भी संदेहास्पद माना जाता है; परन्तु प० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा मीराँ के इस ग्रन्थ के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। मिश्र बन्धुओं ने 'सोरठ के पद' की चर्चा की थी; परन्तु इसका अभी तक पता भी नहीं चला। 'मीराँ बाई का मलार' कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं। गुजरात में प्रचलित गर्बा-गीतों को श्री के० एम० झावेरी ने मीराँ रचित माना है। मीराँ बाई की सम्पूर्ण रचनाओं में स्फुट पदों को ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इन पदों की संख्या दो सौ समझी जाती है। वैसे मीराँ रचित पदों की सख्या अधिक भी हो सकती है; परन्तु भक्तों में तथा जनता में दीर्घकाल से मौखिक रूप में चले आने के कारण उनमें से अनेकों की भाषा परिवर्तित हो चुकी है और इसी कारण वे आज विलुप्त हो चुके हैं।

मीराँ बाई की कविता—मीराँ की कविता में मीराँ के व्यक्तित्व की झलक बहुत स्पष्ट है, इनके जीवन का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब इसमें अङ्कित है। अतः मीरा की कविता की सबसे बड़ी विशेषता हम इनकी आन्तरिक भावनाओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति और व्यक्तिगत सुखदुःख की प्रधानता मान सकते हैं। कृष्ण को अपना प्रियतम मान और अपने आपको राधा के स्थान पर प्रेयसी के रूप में रख मीराँ ने किसी अन्य आलम्बन को न ले कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। इसीलिए इनकी प्रेम पीड़ा में निजीपन अधिक है और इनका विरह-वर्णन भी गोपियों का न होकर अपना ही है। व्यक्तिगत प्रेम वर्णन में तीव्रता का आ जाना स्वाभाविक ही है। इसीलिए मीराँ के पदों में अनुभूति की तीव्रता व्यजित होती है। इनके पदों पर काव्य शास्त्र का प्रभाव नहीं, इसीलिये ये अधिक स्वाभाविक बन पड़े हैं। मीराँ की तनमयता अभूतपूर्व है और इसी कारण इनकी अनुभूतियों की बहुत स्पष्ट व्यंजना हो सकी है। मीराँ ने न तो संचारी भावों का वर्णन किया है और न आलम्बन विभावों का। इन्होंने कृष्ण-कथा का भी आश्रय नहीं लिया। अपनी कविता में तो अपनी प्रेम-पीर की ही अभिव्यंजना की गई है। मीराँ ने जहाँ शृंगार का भी वर्णन किया है वहाँ

थी अपूर्व शान्ति विराजमान है, उसमें तीव्रता नहीं। मीराँ की कविता में इन्द्रियातीत माधुर्य रस की प्रधानता है।

मीराँ की कविता की भाषा सरल राजस्थानी है; परन्तु कुछ पद सम्पूर्ण रूप से वृज और गुजराती में भी हैं। साधारणतया मीराँ की भाषा राजस्थानी है। उसमें अनेक अन्य बोलियों और भाषाओं के शब्दों का मिश्रण अवश्य है। मौखिक रूप से प्रचलित रहने के कारण संग्रह कर्त्ता या गायक के स्थान की भाषा का प्रभाव भी कहीं कहीं लक्षित हो जाता है।

मीराँ की भक्ति भावना पर माधुर्य भाव की उपासना का प्रभाव अवश्य है; परन्तु दासी भाव की प्रधानता है। मीराँ पर निम्बार्क मत का और सूफी साधकों की रहस्य पूर्ण प्रेम साधना का काफी प्रभाव था। मीराँ के कुछ पद देखिए:—

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनी मूरति साँवरी सूरति नैना बने विसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल।
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई, भक्त बच्छल गोपाल॥

दरस बिन दूखन लागे नैन।
जब के तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन।
सबद सुनत मेरी छतियाँ काँपैं, मीठे मीठे बैन।
विरह कथा कासूँ कहूँ सजनी, बह गई करवत ऐन।
कल न परत पल हरि मग जोवत, भई छमासी रैण।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख दैण॥

रसखानः—हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों में उच्चस्थान के अधिकारी हैं। मुसलमान कुल में जन्म लेकर भी रसखान धर्म तथा जाति पाँति के सम्पूर्ण बन्धनों को तोड़ भगवान् कृष्ण की सगुणोपासना में लीन हो गए। कृष्ण के प्रेम में लीन हो इन्होंने अत्यन्त भावपूर्ण और सरस रचनाएँ की हैं।

ये दिल्ली के पठान सरदार थे, सभव है इनका सम्बन्ध दिल्ली के पठान बादशाहों की परम्परा से हो। इनके प्रारम्भिक जीवन के विषय में दो जन-

श्रुतियाँ प्रचलित हैं। एक के अनुसार ये अपने प्रारम्भिक जीवन में एक बनिये के लड़के पर आसक्त थे और दूसरे के अनुसार इनकी अनुरक्ति एक स्त्री पर थी। कुछ भी हो इतना तो निश्चित ही है कि ये अपने प्रारम्भिक जीवन में अत्यन्त प्रेमी और रसिक व्यक्ति थे। इसी लौकिक प्रेम से विरक्त होने के अनन्तर ही ये गोस्वामी विट्ठलनाथ की शरण में पहुँचे और उनसे दीक्षा लेकर ब्रज-राज तथा ब्रज-भूमि के अनन्य भक्त हो ब्रज भाषा में कविता करने लगे।

रसखान द्वारा लिखित दो पुस्तकें (१) प्रेम वाटिका और (२) 'सुजान रसखान' प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्होने अपनी कविताओं में प्रेम का बहुत सुन्दर चित्रण किया है; परन्तु यह प्रेम लौकिक वासना से ऊँचा उठा हुआ है और इसमें शारीरिकता को नियंत्रित कर विश्व जनीन बनाने का प्रयत्न किया गया है। एकाङ्गी और निस्वार्थ प्रेम ही इनका आदर्श है—

इक अङ्गी, बिनु कारनहिं, इक रस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥

रसखान की कविता की भाषा चलती हुई शुद्ध ब्रज भाषा है और इसमें अप्रचलित और बाहर के शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया। रसखान ने अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की भाँति गीत न लिखकर दोहे और सवैये लिखे हैं। 'प्रेम वाटिका' दोहों में रची गई है और 'सुजान रसखान' कवित्त-सवैयों में। यह सवैये बहुत ही सुन्दर और सरस बन पड़े हैं। इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारों।
आठहुँ सिद्धि नवों निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारों॥
नैनन सों रसखान जबै बृज के बन बाग तड़ाग निहारों।
कोटिन हूँ कल धौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारों॥

ग्वालन संग जैबो बन ऐबो सुगाइन संग,
हेरि तात गैयों हाहा नैन फरकत है।
ह्वा के गज मोती माल वारो गुञ्ज मालन पै
कुंज सुधि आए हाय प्रान धरकत हैं।

गोबर को गारो सुनौ मोहि लगै प्यारो,
कहा भये महल सोने को जटत मरकत है।
मन्दर ते ऊँचे यह मन्दिर हैं द्वारिका के,
ब्रज के खिरक मेरो हिय खरकत है।

नरोत्तमदास :—सुप्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ 'सुदामा-चरित' के लेखक हैं। इनके जन्म तथा जाति वृत्तान्त के विषय में अभी तक कुछ विशेष ज्ञात नहीं हुआ। इनका समय संवत् १६०२ के लगभग माना गया है। ये सीतापुर ज़िले के अन्तर्गत बाड़ी नामक कस्बे के निवासी थे।

'सुदामा-चरित्र' एक अत्यन्त मार्मिक और सरस खण्ड-काव्य है। इसमें सुदामा की निर्धनता और कृष्ण के सात्विक तथा सच्चे प्रेम का बहुत ही आकर्षक वर्णन किया गया है। पुस्तक की भाषा परिमार्जित तथा माधुर्यपूर्ण ब्रज है। 'ध्रुव-चरित्र' नामक एक अन्य खण्ड-काव्य भी इन्हीं का लिखा हुआ बतलाया जाता है; परन्तु वह अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। इनकी कविता का उदाहरण नीचे लिखा जाता है—

सीस पगा न झगा तन पै,
प्रभु जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी-दुपटी अरु,
पाँय उपानहुँ की नहिं सामा॥
द्वार खड़ौ द्विज दुर्बल एक,
रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम,
बतावत आपनो नाम सुदामा॥

कृष्ण जीवन की विशालता का प्रदर्शन ही इस खण्ड-काव्य का उद्देश्य था। कृष्ण भक्त कवियों की परम्परा यहीं समाप्त होती है। यद्यपि कृष्ण-चरित्र काव्य का विषय बना रहा; परन्तु प्रथम तो उसकी प्रमुखता में कमी आ गई और दूसरा भक्ति भावना का विलोप हो गया।

भक्ति काल की समान भावनाएँ तथा विश्वास :—पीछे हम हिन्दी काव्य की विभिन्न भक्ति सम्बन्धी शाखाओं और उपशाखाओं का वर्णन कर

आए हैं, यहाँ हम इन विभिन्न शाखाओं के परस्पर विरोधी विचार धाराओं, धार्मिक मतो और साधना पद्धतियों के बावजूद भी जो समान विश्वास और भावनाएँ हैं उनका वर्णन करेंगे। भावनाओं और विश्वासों की यह समता सब कवियों में समान रूप से व्याप्त है और इसी कारण विभिन्न श्रेणियों या शाखाओं में विभाजित किए जाते हुए भी ये भक्त कवि एक ही विशेष वर्ग में रखे जा सकते हैं।

१. **भगवान् से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापना की भावना**—सब कवियों मे समान रूप से पायी जाती है। प्रत्येक शाखा या मतवाद से सम्बन्धित भक्त कवि अपने भगवान् से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करने को उत्सुक हैं, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि भगवान् एक ऐसा सर्व शक्ति सम्पन्न व्यक्ति है जो कि इस सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है, और जो कृपा कर सकता है, प्रेम कर सकता है और सबसे बड़ा सहायक हो सकता है। इसी भावना से प्रेरित हो कबीर कहते हैं—

हरि जननी, मैं बालक तेरा। काहे न औगुन बगसहु मेरा।
सुत अपराध करे दिन केते। जननी के चित रहे न तेते॥

इसी प्रकार दादू अपने प्रियतम के लिए तड़पते हुए कहते हैं—

तुम बिन व्याकुल केसवा, नैन रहे जल पूरि।
अन्तरजामी छिप रहे, हम क्यों जीवें दूरि॥
आप अपरछन होइ रहे, हम क्यों रैन बिहाय।
दादू दरसन कारने तलफि तलफि जिय जाय॥

इसी प्रकार सूर तथा तुलसीदास आदि भक्त कवियों ने सेव्य-सेवक भाव को प्रश्रय दिया है।

२. **नाम की महत्ता**—को सब कवियों ने समान रूप से स्वीकार किया है। सगुण और निर्गुण दोनों मतवादों से सम्बन्धित भक्त कवियों ने भगवान् के नाम की महिमा का गायन किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'राम-चरित मानस' के प्रारम्भ में राम नाम की महिमा का विशद वर्णन किया है। इसी प्रकार 'विनय पत्रिका' में भी राम नाम का जपना सब विधियों का सिरताज और उसे भुला देना सब निषेधों का सिरताज कहा है—

नाम-सुमरिन सब विधिहु को राज रे।
नाम को बिसारिबौ निषेध सिरताज रे॥

सूरदास भी नाम जपन की महिमा को स्वीकार करते हुए यह विश्वास करते हैं कि जो मनुष्य नाम पर विश्वास कर लेता है उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं और वह सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त कर लेता है—

नाम-प्रतीत भई जा जन की लै आनन्द दुख दूरि बह्यौ।
सूरदास धन धन वे प्रानी जो हरि को ब्रत लै निबह्यौ॥

दादू, नानक, सुन्दर आदि सम्पूर्ण सन्त कवियों ने नाम जपन की महत्ता को एक मत से स्वीकार किया है। कबीर तो राम नाम को सार तत्व स्वीकार करते हुए कहते हैं—

कबीर कहैं मैं कथि गया कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नाँम ततसार है सब काहू उपदेस॥

३. कवि के प्रति आदर की भावना—भी सब भक्त कवियों ने समान रूप से व्यक्त की है। कबीर, दादू तथा जायसी आदि सन्तों ने तो किस प्रकार से गुरु की महत्ता को स्वीकार करते हुए उसे भगवान् के समान माना है इसका वर्णन हम पीछे कर आए हैं, परन्तु सगुणोपासक भक्त कवि भी समान रूपसे ही गुरु की महानता को स्वीकार करते हैं, तुलसी दास ने 'राम चरित मानस' के आरम्भ में 'बन्दो गुरु पद पदृम परागा' और सूरदास ने अपने काव्य ग्रन्थों में 'वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँही अन्धेरो' गाया है।

४. भक्ति भावना की सर्व प्रमुखता—सब सम्प्रदायों में समान रूप से प्राप्य है। भक्त भगवान् के दर्शनों के लिए अपनी व्याकुलता अभिव्यक्त करता हुआ कहता है कि हे भगवान् मुझे मुक्ति नहीं चाहिये मैं तो तुम्हारे दर्शनों के लिए इच्छुक हूँ और इसी के निमित्त मेरे प्राणों में व्याकुलता व्याप रही है। ये सांसारिक भोग, ये ऋद्धि और सिद्धी से क्या अर्थ? मैं तो तुम्हारे दर्शन चाहता हूँ—

दरसन दे दरसन दे हौं तो तेरी मुकति न माँगो रे।
सिधि न माँगों रिधि न माँगों तुम्ह हीं माँगों गोविन्दा।
जोग न माँगों भोग न माँगो तुम्ह ही माँगों रामजी।

घर नहिं माँगों बन नहिं माँगों तुम्ह हीं माँगों देव जी।
'दादू' तुम्ह बिन और न जानै दरसन माँगो देहु जी।

इसी प्रकार तुलसीदास अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति में अपनी अनिच्छा को व्यक्त करते हुए केवल 'रघुपति-भगति' का वरदान माँगते हैं—

अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहों निरबान।
जनम जनम रघुपति-भगति, यह बरदान न आन॥

कबीर दास ने भी भक्ति को प्रमुखता प्रदान की है "हरि भक्ति जाने बिन बूड़ि-मुआ संसार"। प्रेम मार्गियो का प्रेम भक्ति का परिचायक है। कृष्ण-भक्त कवि तो सम्पूर्ण सांसारिक सुखों पर लात मार नन्द की गाय चराने में ही परमानन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की धेनु चराइ बिसारौं॥
आँखिन सों रसखानि कबै ब्रज के वन बाग तड़ाग निहारौं॥
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करीर के कुंजन ऊपर वारौं॥

५. प्रेम भावकी प्रधानता—भी इस काल की सम्पूर्ण शाखाओं और उपशाखाओं में समान रूप से व्याप्त है। कबीर ने प्रेम को कितना अधिक महत्व दिया है और उसका कितना विशाद वर्णन किया है, यह हम पीछे दर्शा चुके हैं। प्रेम मार्गी कवि तो प्रेम से ओतप्रोत हो रहे हैं। दादू दयाल प्रेम को भगवान् की जाति बतलाते हुए कहते हैं—

इश्क अलह की जाति है इश्क अलह का अंग।
इश्क अलह औजूद है इश्क अलह का रंग॥

सूरदास ने भी प्रेम की इस महत्ता को स्वीकार किया है और कहा है कि प्रेम से ही इस भवसागर को पार किया जा सकता है, प्रेम के बन्धन में ही सम्पूर्ण विश्व बँधा हुआ है और प्रेम वह सत्य है जिससे कि भगवान् की प्राप्ति हो सकती है—

प्रेम प्रेम सों होय प्रेम सों पारहिं जैये।
प्रेम बंध्यो संसार प्रेम परमारथ पैये॥

एकै निश्चय प्रेम को जीवन्मुक्ति रसाल।
सांचो निश्चय प्रेम को जातें मिलैं गोपाल॥

प्रेम से वशीभूत होकर ही तो भगवान् बैकुण्ठ धाम को छोड़ नटवर वेश धारण कर इस भू पर अवतरित हुए। प्रेम की यह भावना सम्पूर्ण भक्ति साहित्य में व्याप्त है।

भक्ति काल की विविध प्रवृत्तियाँ

पीछे हम लिख चुके हैं कि किस प्रकार भक्ति काल का प्रारम्भ होते होते राजनैतिक स्थिति बदलती हुई मुग़ल शासन के रूप में स्थिर हो गई। देश के राजनैतिक वातावरण में स्थिरता उत्पन्न हो गयी और मुगल शासकों ने अपने से पूर्ववर्ती शासकों की धार्मिक निष्ठुरता की नीति को छोड़ सहिष्णुता की नीति को अपना जहाँ जनता की समृद्धि में वृद्धि की हाँ, वहाँ देश में भी पूर्ण शान्ति स्थापित की। मुग़ल सम्राट् अकबर के शासन काल में साहित्य, संगीत आदि ललित कलाओं का पूर्ण विकास हुआ। शासकों की ओर से भी साहित्य सृजन में पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। ऐसे ही समय में जहाँ सूर तथा तुलसीदास आदि महान् भक्त कवियो का प्रादुर्भाव हुआ वहाँ सम्राट् अकबर ने भी अनेक साहित्यिकों और कवियों को प्रोत्साहित कर हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि में पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

इन कवियों ने अधिकतर स्वतन्त्र विषयों को ही चुना है और उनकी अभिव्यक्ति विविध शैलियों द्वारा की है। वीर, शृंगार तथा नीति पर ही अधिक रचना हुई और छप्पय, कवित्त-सवैये और दोहे ही प्रयुक्त किए गए। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक सुन्दर प्रबन्ध काव्य भी लिखे गए। अकबर के दरबार से सम्बन्धित कवियों ने ब्रज तथा अवधी में रचनाएँ की हैं।

रहीम, गंग, नरहरि, बीरबल तथा सेनापति आदि कवियों ने इन विविध विषयों को अपनी काव्य कुशलता का परिचय दिया।

रहीम :—का पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानाखाना था और ये इतिहास प्रसिद्ध बैरामखाँ के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१० में हुआ था। ये अकबर

के प्रधान सेनानयक और मंत्री थे ; परन्तु जहाँगीर के शासनकाल में इन्हें काफी अपमान सहना पड़ा और उच्चपद तथा सम्पत्ति से वंचित होना पड़ा। रहीम ने अपने जीवन में पर्याप्त अनुभव प्राप्त किए थे और जीवन की ऊँच-नीच में से गुज़र चुके थे। इसी कारण इनकी उक्तियों में भावव्यजना अत्यन्त तीव्र और मार्मिक बन पड़ी है। स्वभाव के ये बहुत दयालु और दानी थे। दानशीलता में तो इनकी कर्ण से तुलना की जाती है। इनका अरबी, फारसी तथा संस्कृत पर पूर्ण अधिकार था और लगभग इन सभी भाषाओं में इन्होंने सफलता पूर्वक रचना की है।

रहीम गोस्वामी तुलसीदास के अभिन्न मित्र थे और इन्होंने ही तुलसीदास के—'सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय' दोहार्द्ध की पूर्ति इस प्रकार की थी—'गोद लिए हुलसी फिरे तुलसी सो सुत होय'।

रहीम ने अधिकतर रचना दोहों में ही की है ; परन्तु नायका भेद सम्बन्धी इनके बरवे भी बहुत प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त रहीम ने सोरठा, सवैया तथा कवित्त आदि अनेक छन्दों का भी प्रयोग किया है।

रहीम के 'रहीम दोहावली'-'बरवे नायिका भेद', 'श्रृंगार सोरठ', 'मदनाष्टकम्' तथा 'रास पञ्चाध्यायी' पाँच ग्रन्थ कहे जाते हैं। इन्होंने अवधी तथा ब्रज दोनों में ही सफलता पूर्वक रचना की है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि रहीम का दरबारी जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध था, इन्होंने जीवन के बहुत से ऊँच-नीच देखे थे, इसी कारण इनकी कविता जहाँ जीवन सम्बन्धी अनुभवों की अभिव्यक्ति करती है, वहाँ अत्यन्त सरस और हृदयग्राही भी बन पड़ी है। नीचे इनकी रचना के उदाहरण दिये जाते हैं—

दोहावली से—

रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥
रहिमन रहिला की भली, जो परसै चितलाय।
परसत मन मैला करै, सो मैदा जर जाय॥
ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय॥

मदनाष्टक से :—

कलित ललित वा जवाहिर जड़ा था।
चपल-चखन-वाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

बरवे नायिका भेद से :—

लै कै सुधर खुरपिया पिय के साथ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ॥
पीतम इक सुमरिनियाँ मोहि दइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु॥

फुटकल :—

कमलदल नैनन की उनमानि।
बिसरति नाहिं, सखी! मो मन तें मन्द मन्द मुसकानि।
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधा पगी बतरानि॥
मढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकत माल थहरानि।
नृत्य समय पीताम्बर हू की फहर फहर फहरानि॥
अनुदिन श्री वृन्दावन वृज तें आवन आवन जानि।
अब रहीम चित तें न टरति है सकल स्याम की बानि॥

गंग :—अकबर के दरबारी कवि थे। इन्हीं को लक्ष्य करके ही कहा गया है :—

तुलसी गङ्ग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिलै, भाषा विविध प्रकार॥

रहीम खानखाना ने इनके निम्न पद्य से मुग्ध हो इन्हें १ लाख रुपये दे डाला था :—

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमलवन।
अहि फन मन नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुन्दर पद्मनि पुरुष न चहै न करै रति॥

खल भलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रवि रथ खस्यो।
खान खान बैरम-सुवन जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो॥

. गग अपने समय के नरकाव्य की रचना करने वालों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। पुराने संग्रह ग्रन्थों में इनके जो कवित्त मिलते हैं वे अधिकतर शृंगार और वीर रस पर ही लिखे गये हैं। इनकी भाषा बहुत ही उत्कृष्ट और काव्य गुणों से पूर्ण है; परन्तु इनका रचा हुआ ग्रन्थ अब तक कोई भी उपलब्ध नहीं हुआ; केवल प्राचीन सग्रह ग्रन्थों में ही यत्रतत्र इनके कवित्त उपलब्ध हो जाते हैं।

गग कवि के जीवन के विषय में अभी तक कोई विशेष प्रामाणिक खोज नहीं हो सकी। जाति से ये ब्रह्म भट्ट ही माने जाते हैं। गंग बहुत ही निर्भीक और स्पष्टवादी थे, कहते हैं इसी कारण किसी राजा या नवाब ने इन्हें हाथी से कुचलवा दिया था। मरने से पूर्व कही गई इनकी यह कटूक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

कबहुँ न भडुआ रण चढ़े, कबहुँ न बाजै बंब।
सकल सभाहिं प्रणाम करि विदा होत कवि गंग॥

विरह ताप का अतिश्योक्ति पूर्ण वर्णन करते हुए ये लिखते हैं—

बैठी थी सखिन सङ्ग, पिय को गवन सुन्यो।
सुख के समूह में वियोग आगि भरकी॥
गंग कहै त्रिविध सुगन्ध लै, पवन बह्यो।
लागत ही ताके तन भई बिथा जर की॥
प्यारी को परस पौन गयो मानसर कहूँ।
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो।
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी॥

नरहरिः—का जन्म संवत् १५६२ और मृत्यु संवत् १६६७ माना जाता है। असनी जिला फतहपुर के निवासी थे और इनका अकबर के दरबार में बहुत सम्मान था। अकबर ने इन्हें महापात्र की उपाधि से सम्मानित

किया था। इन्होंने नीति पर ही अधिक छन्द लिखे हैं। इनके बनाये हुए दो ग्रन्थ 'छप्पय-नीति' और 'रुक्मनी मगल' बतलाए जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इनके एक छप्पय को सुनकर अकबर ने अपने सम्पूर्ण राज्य में गो-वध का निषेध कर दिया था।

बीरबल—अकबर के मंत्रियों में से थे और बादशाह के अन्तरगमित्र थे। इनके हास्यरस पूर्ण चुटकुले सम्पूर्ण उत्तर भारत में प्रसिद्ध हैं। इनके आश्रय में अनेक कवि रहते थे; परन्तु ये खुद भी ब्रज भाषा में बहुत सुन्दर रचना करते थे। इनकी रचना में जहाँ अलंकार इत्यादि काव्य गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, वहाँ सरलता और मधुरता की कमी नहीं होने पायी। इनकी कोई पुस्तक नहीं मिलती। कवित्तों का एक संग्रह प्राप्य है।

महाराज टोडरमल:—अकबर के मत्री थे और भूमि-कर सम्बन्धी सुधारों के लिये इतिहास में प्रसिद्ध चले आ रहे हैं। इनके नीति विषयक स्फुट छन्द मिलते हैं, जो काव्य की दृष्टि से विशेष आदरणीय नहीं समझे जाते।

सेनापति:—का स्थान मुगल दरबार से सम्बन्धित कवियों में सर्वोच्च है। ये बहुत ही सहृदय और भावुक कवि थे। इनका जन्म लगभग सं० १६४६ के आस पास माना जाता है। ये ज्ञाति से कान्यकुब्ज ब्राह्मण और अनूप शहर के निवासी थे। इनके जीवन का प्रथमाश राजदरबारों के वातावरण में बीता; परन्तु जीवन की संध्या में सेनापति को दरबारी जीवन से विरक्ति हो गई और ये सन्यासी हो गए। इनकी वैराग्य पूर्ण रचनाएँ इसी कारण काफी मार्मिक बन पड़ी हैं। इन्होंने षडऋतु वर्णन भी किया है और इस ऋतु वर्णन में वे सबसे आगे हैं। प्रकृति निरीक्षण की इन्हें सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त थी, इसी कारण इनकी कविता में प्रकृति से सम्बन्धित सूक्ष्म अनुभवों का भी वर्णन यत्र-तत्र मिल जाता है। इनके दो ग्रन्थ हैं काव्य कल्पद्रुम तथा कवित्त-रत्नाकर।

कला की दृष्टि से सेनापति उच्च कोटि के कवियों में गिने जा सकते हैं। इन्होंने अत्यन्त मधुर और प्राजल ब्रजभाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया है। कवि में साधारण भाव को भी चमत्कार पूर्ण ढंग से कहने की

अद्भुत शक्ति है; परन्तु चमत्कार के साथ भाव की प्रधानता में कमी नहीं आने पाती। श्लेश तथा यमक आदि शब्दालंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों की अधिकता के होते हुए भी स्वाभाविकता की कमी नहीं होने पायी। इनकी कविता के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

तपत है जेठ जग जात है जरनि जरयो,
ताप की तरनि मानो भरनि भरत है।
आतहि असाढ़ उठी नूतन सघन घटा,
सीतल समीर हिय धीरज धरत है।
आधे अंग ज्वालन के जाल विकराल,
आधे सीतल सुभग मोर हीतल भरत हैं।
सेनापति ग्रीखम तपति ऋतु भीखम है,
मानौ बाड़वानल सों बारिधि जलत है॥

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखो,
आई रितु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत सुनत धुनि धरकी सु,
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ।
आई सुधि बर की हिय में आनि खरकी,
सुमिरि प्रान प्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मन भावन की,
डग भईं बावन की सावन की रतियाँ॥

नाहीं नाहीं करै, थोरो माँगे सब दैन कहै,
मंगन को देखि पट देत बार बार है।
जिनके मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सुभ जनमन भावै निरधार है।
भोगी है रहत बिलसत अवनि के मध्य,
कन कन जोरै दान पाठ परवार है।
सेनापति बचन की रचना निहारि देखौ,
दाता और सूम दोऊ कीन्हें इकसार है॥

बनारसीदासः—का जन्म सं० १६४३ में हुआ था। ये जौनपुर के निवासी थे और अपने समय के सुप्रसिद्ध जौहरी परिवार से सम्बन्धित थे। बनारसी दास जैन मतानुयायी थे। इनकी लिखी हुई 'अर्द्ध-कथानक' नामक पुस्तक हिन्दी का प्रथम आत्म चरित माना जाता है। इसमें कवि ने अपने जीवन का बहुत ही सुन्दर और सच्चा वर्णन किया है। 'अर्द्ध-कथानक' से विदित होता है कि प्रारम्भ में इनका चरित्र काफी गिर चुका था; परन्तु शीघ्र ही बोध होने पर इन्होंने अपने आप को सम्भाल धार्मिक कार्यों में लगा दिया। जीवन के यौवन में इन्होंने शृंगार रस की भी अनेक रचनाएँ कीं, परन्तु पश्चात् में धार्मिक भावनाओं से प्रेरित हो इन्होंने इन रचनाओं को गोमती में प्रवाहित कर दिया। इनकी रचनाएँ सुन्दरदास के ढंग की हैं और अधिकतर नीति तथा ज्ञानोपदेश पूर्ण है। इनकी बनाई पुस्तकें इस प्रकार हैं—

बनारसी-विलास; नाटक समयसार; नाम माला; अर्द्ध-कथानक; बनारसी पद्धति; मोक्षपदी; ध्रुव वदना; कल्याण मंदिर भाषा; वेद निर्णय-पचाशिका; मारगन विद्या।

नीचे इनकीकविता के दो उदाहरण दिए जाते हैं—

काया सों विचार प्रीति, माया ही में हार जीति,
लिये हठ रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,
त्यौंही पायँ गाड़ै पैन छाँड़ै टेक पकरी।
मोह की मरोर सो मरम को न ठौर पावै,
धावै चहुँ ओर ज्यौं बढ़ावै जाल मकरी।
ऐसी दुर बुद्धि भूलि, झूठ के झरोखे झूलि,
फूली फिरै ममता जँजीरन सों जकरी॥

भौंदू! ते हिरदय की आखें।
जो करखें अपनी सुख सम्पत्ति भ्रम की सम्पत्ति नाखें।
जिन आँखिन सो निरखि भेद गुन ज्ञानी ज्ञान विचारें।
जिन आँखिन सो लखि सरूप मुनि ध्यान धारना धारें॥

उत्तर मध्य-काल

रीति काल

संवत् १७०० से १६००

राजनैतिक स्थिति :—रीतिकाल का प्रारम्भ मुग़ल शासन के चरमोत्कर्ष के समय हुआ, देश की राजनैतिक स्थिति पर उनका पूर्ण अधिकार था। शान्ति और व्यवस्था के कारण देश की जनता सुख समृद्धि में पल शृंगार और विलासिता की ओर झुक रही थी; किन्तु औरंगजेब के सिंहासनारूढ़ होने के साथ ही देश की राजनैतिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हो गए। औरंगजेब ने अपने पूर्वजों की उदार धार्मिक नीति को छोड़ निकृष्ट कोटि की प्रतिक्रियावादी, निष्ठुर तथा अनुदार धार्मिक नीति को अपना देश के अधिकाश भाग के धार्मिक विचारों पर कुठाराघात किया। उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता के अपहरण में धर्मान्ध औरंगजेब ने अपना सम्पूर्ण बल लगा दिया। मन्दिरो को तोड़ा गया, तीर्थ स्थानो को भ्रष्ट किया गया और बलात् धर्म परिवर्तन के अनेक प्रयास किये गये। फल स्वरूप हिन्दु समाज में अपनी रक्षा के निमित्त संगठन की भावना का उत्पन्न होना स्वभाविक ही था। मरहठा शक्ति का जागरण इसी रक्षा की भावना और यवन राज्य को समाप्त कर पुनः हिन्दु राज्य की स्थापना की भावना का ही परिणाम था। शीघ्र ही इस अनुदार और धर्मान्ध नीति के परिणामस्वरूप देश के अधिकांश भाग में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह तथा बन्दा वैरागी के नेतृत्व में सिखो ने मुग़लराज्य की नींव को खोखला कर दिया; जब कि आगरा के आस पास जाटों ने अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के लिए मुग़ल राज्य से बारम्बार टक्कर ली। राजपूत राजाओं ने भी महाराणा राजसिंह के नेतृत्व में मुगलशासन से सम्बन्ध विच्छेद कर विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इधर केन्द्रीय शासन में ढील के कारण और औरंगजेब के अयोग्य उत्तराधिकारियो के कारण केन्द्र से दूरवर्ती मुसलमान शासकों और सूबेदारों ने भी केन्द्रीय शासन की अधीनता को त्याग अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। बंगाल, दक्षिण, गुजरात, अवध आदि प्रदेशों के नवाब और निज़ाम ऐसे

-शासक थे जो कि मुग़ल बादशाहों के नाम मात्र के प्रभुत्व को तो अवश्य स्वीकार करते थे; परन्तु उनकी अधीनता में नहीं रहे थे। इधर नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल शासन की रही सही प्रभुता को भी समाप्त कर दिया।

मरहठा शक्ति की स्थापना औरंगजेब के जीवनकाल में ही हो चुकी थी। बाद के मुग़ल शासकों की दुर्बलता से उन्हें आत्म विस्तार का अवसर प्राप्त हुआ। वे दक्षिण के अधिकांश भाग पर अधिकार कर और अपने विकट प्रतिद्वन्दी हैदराबाद के निज़ाम को नीचा दिखा उत्तर की ओर बढ़े। दिल्ली के मुगल बादशाह को अपना शाही कैदी बना वे पंजाब पर अधिकार कर बैठे।

इस प्रकार जब मुगल शक्ति का निरन्तर ह्रास हो रहा था और मरहठा शक्ति भारत की सर्व प्रमुख शासक शक्ति हो चुकी थी, उसी समय भारत के राजनैतिक रंगमंच में एक विदेशी शक्ति ने पदार्पण किया जो कि कूटनीति और युद्ध कला में मरहठों से कहीं अधिक चतुर थी। जहाँगीर के समय में आए इन अंग्रेज व्यापारियों ने भारत में शासन स्थापन की कभी कल्पना भी नहीं की थी; परन्तु देश को विभिन्न राजनैतिक विभागों में विघटित देख और केन्द्रीय शासन को निर्बल तथा पंगु जान इन्हें देश की राजनैतिक सत्ता हथियाने का प्रलोभन हुआ। इन्होंने सर्वप्रथम अपने राजनैतिक दाँव पेच का प्रदर्शन कर्नाटक में किया, जहाँ इन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। इधर बंगाल में सिराजुद्दौला को शासन सम्बन्धी मामलों में अनभिज्ञ समझ, इन्होंने कूट-नैतिक उपायों से काम ले सं० १८१४ में पलासी के इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध में नवाब को हरा बंगाल की राजनैतिक सत्ता को हथिया लिया। सं० १८२१ में बक्सर के युद्ध में बंगाल के भगोड़े नवाब, अवध के नवाब वजीर और नाममात्र के मुगल सम्राट् शाह आलम को पराजित कर इन नवागन्तुकों ने अपनी शक्ति की सर्वोच्चताओं को सिद्ध करने का सर्व प्रथम सफल प्रयत्न किया।

मरहठा-मण्डल भारत में अंग्रेजी विजेताओं का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी था; परन्तु उनके स्वतन्त्र विकास पर अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण का भयंकर आघात हुआ। पानीपत के मैदान में लड़े गए तीसरी बार भारत के लिए भाग्यनिर्णायक युद्ध में मरहठों की बुरी तरह से हार हुई, और मैदान

अब्दाली के हाथ रहा। मरहठों का सम्पूर्ण भारत में हिन्दु राज्य स्थापन का स्वप्न भंग हो गया। अंग्रेज कूटनीतिज्ञों की चतुरता के परिणामस्वरूप और मरहठा-मण्डल के सदस्यों की परस्पर विद्वेष पूर्ण भावनाओं के फलस्वरूप मरहठा-मण्डल में फूट पड़ गई और उनका बाह्य और आन्तरिक दृष्टि से ह्रास प्रारम्भ हो गया। अनेक अनिर्णीत युद्धों के अनन्तर लार्ड वेलज़ली और मार्क्यूस हेस्टिंग्ज मरहठा शक्ति को समाप्त करने में सफल हुए। इस प्रकार सन् १८०३ के अंग्रेज-मरहठा युद्ध में मरहठों की पराजय के अनन्तर अंग्रेज़ भारत में सर्व प्रमुख शक्ति बन गए।

महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् अंग्रेज़ों ने भारत तथा काश्मीर पर कैसे अधिकार जमाया और किस प्रकार सिंध के अमीरों को लूट अफगानिस्तान की स्वतन्त्रता के अपहरण के घृणित प्रयत्न किए यह सर्वविदित है। रीतिकाल की समाप्ति से पूर्व ब्रह्मपुत्र से सिन्धु तक और कन्या कुमारी से गिल्गित तक सम्पूर्ण भारत अंग्रेज़ों के शासनाधिकार में आ चुका था।

इस प्रकार रीतिकाल का समय, प्रथम ५० वर्ष के अतिरिक्त, सम्पूर्ण रूप से अशान्ति और युद्धों का रहा है, जिसमें मुगल शासन का क्रमिक ह्रास, हिन्दु शक्ति का क्रमिक विकास और ह्रास तथा अंग्रेजों की शक्ति का विकास हुआ। राजनैतिक अशान्ति के कारण ही हम तत्कालीन साहित्य में साहित्यकार के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास नहीं पाते।

सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थिति:—राजनैतिक अशान्ति के कारण सामाजिक अवस्था भी शोचनीय हो चुकी थी। हिन्दु समाज में जाति पाँति और बिरादरी की व्यवस्था उत्तरोत्तर संकुचित होती गयी, और मध्यकालीन सन्तों के वर्णाश्रम के विरोध में भी शिथिलता आ गयी। हिन्दुओं तथा मुसलमानों में सामाजिक मेल-जोल बन्द रहा, और उनमें पारस्परिक असहयोग की भावना बराबर कार्य करती रही।

निरन्तर उपद्रवों के कारण, प्रजा की आर्थिक स्थिति कमजोर हो गयी, व्यापार नष्ट हो गया, कृषि चौपट हो गयी; और जनता कभी अंग्रेजों के और कभी मरहठों के उपद्रवों से तंग आ गयी। इधर बंगाल में द्वैध शासन प्रणाली (Duel Government) के प्रचलन के कारण बंगाल की

जनता की खुशहाली तबाह हो गयी। बेकारी बढ़ गई और सम्पूर्ण देश में ठगों, डाकुओं और चोरों का बोल बाला हो गया। उत्तरदायित्वहीन शासन के कारण अराजक प्रवृत्तियों का विस्तार हुआ, और जनता का जीवन और धन सम्पत्ति सर्वथा असुरक्षित हो गया।

जन साधारण राजनैतिक या सामाजिक दृष्टि से जागरूक नहीं था। भाग्य-वादिनी होने के कारण जनता ने अपने आपको बुरी तरह से भाग्य पर अवलम्बित कर रखा था। शासन सम्बन्धी मामलों में 'कोई नृप होइ हमें का हानी' वाली प्रवृत्ति को अपना रखा था। अंग्रेजी शासन के आरम्भ में भारत में शताब्दियों से चली आ रही ग्रामीण पचायत व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया, जिससे जनता में असन्तोष की भावनाओं का फैलना स्वाभाविक ही था। नवीन पद और नौकरियाँ अधिकतर विदेशी शासकों ने अपने अधीन ही रखी, और इस प्रकार हिन्दुस्तानियों को देश की शासन सम्बन्धी व्यवस्था से पृथक रखने का प्रयत्न किया गया। शिक्षा की अवस्था अत्यन्त दयनीय थी। मुगल शासन के पतन के साथ देश में प्रचलित शिक्षा का प्रबन्ध भी समाप्त हो गया, और सरकारी खर्च पर चले आए मकतब तथा पाठशालाएँ बन्द हो गयी साधारण जन अक्षर ज्ञान से भी वचित रह गए। धनाभाव तथा अराजक परिस्थितियों के कारण दूर नगरों या शिक्षा केन्द्रों में जाना भी कठिन हो गया। अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचलन हुआ, जिसने हमारे समाज और संस्कृति की मूल-भूत भावनाओं और आदर्शों को ही परिवर्तित कर दिया। मुगल शासन में फ़ारसी को राज्याश्रय प्राप्त था, अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन के साथ उर्दू को अदालती भाषा बना दिया गया और हिन्दी की उपेक्षा की गई।

रीति कालीन भारतीय संस्कृति, समाज में विश्रृंखलता के उत्पन्न हो जाने के कारण ह्रासोन्मुख हो चुकी थी। यही कारण है कि तत्कालीन साहित्य में श्रृंगारिक और भौतिकवादी भावनाओं का आधिक्य है। क्योंकि यह एक सर्व मान्य तथ्य है कि ह्रासोन्मुख संस्कृति में सदा भौतिक और श्रृंगारिक भावनाओं की प्रधानता होती है।

धार्मिक परिस्थिति:—इस काल में कोई विशेष चेतना सम्पन्न धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ नहीं हुआ। केवल पंजाब और महाराष्ट्र में दो चेतना सम्पन्न धार्मिक आन्दोलन हुए, जिससे इन प्रदेशों की धार्मिक और राज-नैतिक स्थिति में बहुत अन्तर आ गया; परन्तु इनका धार्मिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारत पर व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा।

पजाब में नानक पन्थ (सिख धर्म) का प्रारम्भ मूल रूप से हिन्दु मुसलिम एकता को लक्ष्य करके हुआ था; परन्तु मुसलमान शासकों की अदूरदर्शिता पूर्ण नीति के कारण सिख धर्मानुयायी भी मुसलमान शासन और धर्म के कट्टर विरोधी बन गए। गुरु गोविन्द सिंह ने सिख सम्प्रदाय में युद्ध तथा वीरतापूर्ण भावनाओं को पूर्ण कर वीर खालसा को भारत का अजेय सैनिक बना दिया।

महाराष्ट्र में समर्थक गुरु रामादस के धार्मिक आन्दोलनों ने वीर मर-हठाओं को नव जीवन प्रदान किया। शिवाजी और उनके सहयोगी समर्थ गुरु रामदास के अनुयायी थे, और उन्हीं की प्रेरणा से कार्य कर रहे थे।

शेष सम्पूर्ण भारत की धार्मिक स्थिति विश्रृंखल हो चुकी थी। भक्ति कालीन कृष्ण भक्ति शाखा के कवियों ने रीति कालीन कवियों के लिए शृगार-पथ को प्रशस्त कर दिया था, अतः रीति कालीन कवियों ने कृष्ण भक्ति शाखा के कृष्ण और राधा को ही अपने शृंगार वर्णन का आलम्बन बनाया। कृष्ण भक्त कवियों द्वारा वर्णित कृष्ण का रूप तत्कालीन विलास पूर्ण प्रवृत्तियों के अनुकूल पड़ा।

इधर भारत में ईसाइयों के प्रवेश के साथ ईसाई धर्म के प्रचारक भी इस देश में अपने धर्म का प्रचार करने लगे। दक्षिण तथा पूर्व के निम्न वर्ग में उन्हें धर्म प्रचार में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। भारत में विजेता के रूप में स्थिर हो जाने के कारण ईसाई मतानुयायी अंग्रेज शासकों का भी ईसाई धर्म प्रचार को काफी सहयोग प्राप्त हुआ।

रीतिकाल का संक्षिप्त परिचय—रीतिकालीन साहित्य के प्रारम्भिक ५० वर्ष सुख समृद्धि और शान्ति के थे। इसी काल में विभिन्न ललित कलाओं—स्थापत्य, सगीत और चित्र कला—का चरमोत्कर्ष हुआ। मुगल दरबार में

फारसी की लालित्य पूर्ण कविता की रचना का भी यही समय था, इधर हिन्दी के महाकवि सूर तथा तुलसी अपनी अमर रचनाओं से हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि कर रहे थे, और इसे हिन्दु राजदरबारों में पूर्ण सन्मान प्राप्त हो चुके था। इस राज सन्मान के परिणाम स्वरूप हिन्दी काव्य में अनेक परिवर्तन प्रारम्भ हुए। तत्कालीन विलास पूर्ण परिस्थितियों का प्रभाव भी हिन्दी काव्य पर बिना पडे न रहा; सन्त तथा भक्त कवियों ने काव्य सर्जना स्वान्तः सुखाय की थी और यही कारण है कि उनकी कविता उनके महान व्यक्तित्व का प्रतिपालन करती है, उनके महान् आदर्शों को चित्रित करती है, और जीवन की समस्याओं पर उनके विचारो को अभिव्यक्त करती है। परन्तु राज दरबारों का आश्रय पाने के अनन्तर कविता धनोपार्जन का साधन बन गई और कवि ने अपने आश्रयदाताओं की विलासमयी प्रवृत्तियों की शान्ति के निमित्त अपने आदर्शों को छोड़, भक्ति अथवा नीति की अवहेलना कर लौकिक प्रेम के विलासमय रूपों को विभिन्न प्रकार से चित्रित किया। इस चित्रण में शृङ्गार रस की प्रधानता थी। अतः रीतिकाल में हिन्दी कविता को राज्याश्रय और तत्कालीन विलासमयी प्रवृत्ति ने शृंगारिक और भौतिक बना दिया।

भक्तिकाल के अन्तिम चरण में कृष्ण भक्ति की प्रधानता रही, कृष्ण भक्ति में माधुर्य भाव की उपासना का प्रतिष्ठापन तो पहिले ही हो चुका था, अतः हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों ने अत्यन्त भक्ति भाव से श्रीकृष्ण और राधा के सौन्दर्य का वर्णन किया। कृष्ण भक्त कवियो ने सामाजिक आदर्शों और लोक मर्यादाओं की अवहेलना करते हुए भगवान् कृष्ण और गोपिकाओं के स्वछंद विलास और रास-लीलाओं के अत्यन्त शृंगार पूर्ण वर्णन किए।

यद्यपि कृष्ण-भक्त कवियों ने इस शृंगार की भावना को अलौकिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया, और भगवान कृष्ण को ब्रह्म और गोपिकाओं को आत्मा के रूप में चित्रित किया, तथापि साधारण जनता के लिए वह शृंगार या प्रेम वर्णन अलौकिक न रह लौकिक ही अधिक बन गया। तत्कालीन नरेशो और वैभवशाली नागरिकों के लिए कृष्ण और राधा का शृंगार-वर्णन, गोपिकाओ की विरह वेदना, और प्रेम वर्णन उनकी विलासमयी भाव-

नाओं के लिए अधिक उपयुक्त बन पड़ा। रीतिकालीन हिन्दी कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की विलासमयी प्रवृत्तियों की तृप्ति के लिए कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रशस्त किए मार्ग को अपना कृष्ण तथा राधा का आश्रय ले मर्यादा तथा आदर्श-हीन लौकिक प्रेम का चित्रण किया। अतः हिन्दी के कृष्ण भक्त कवियों का श्रृंगार वर्णन रीतिकालीन कवियों और समाज के लिए विशेष सहायक सिद्ध हुआ।

भक्तिकाल के कवियों के काव्य में नैसर्गिक सौन्दर्य था, उन्होंने काव्य शास्त्र सम्बन्धी नियमों और सिद्धान्तों का ध्यान न कर केवल भगवान् के गुणानुवाद में ही काव्य रचना की। कविता के लिए कविता करना उनका उद्देश्य न था। यही कारण है कि वे बार बार अपने आपको काव्य शास्त्र से अनभिज्ञ बतलाते हुए अत्यन्त विनीत भाव से कहते हैं "कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे" परन्तु दैवीय प्रेरणा के कारण उनकी कविता अलंकार निरपेक्ष होती हुई भी विश्व की श्रेष्ठतम् कविताओं में गिनने योग्य बन पड़ी है। परन्तु साहित्यिक जगत् में यह एक सदा से नियम चला आ रहा है कि इस प्रकार के अलकार निरपेक्ष ग्रन्थों की प्रचुर रचना के अनन्तर कविता के वाह्य रूप को स्थिर करने के अनेक प्रयास किए जाते हैं। कविता के कलात्मक पक्ष पर विशेष विचार होता है और लक्षण ग्रंथों की सृष्टि होती है। ठीक ऐसे ही हिन्दी साहित्य में भी तुलसीदास तथा सूरदास आदि महाकवियों द्वारा प्रचुर लक्ष्य ग्रन्थों की सृष्टि के अनन्तर लक्षण ग्रन्थों का निर्माण स्वाभाविक ही था। अत· रीतिकालीन कवियो ने सस्कृत लक्षण ग्रन्थों के अनुकरण पर अपने पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए और अपने आपको आचार्य सिद्ध करने के लिए लक्षण ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ की और काव्य की आत्मा की ओर से ध्यान हटा कर काव्य के वाह्य विधान—कलात्मक पक्ष—पर विशेष ध्यान दिया। यद्यपि कलात्मक दृष्टि से रीतिकालीन काव्य उत्कृष्टतम बन पड़ा, परतु उसमें काव्य का महान् उद्देश्य—जीवन के गम्भीर तत्वों का सुलझाव और मानव जीवन की समग्र अभिव्यक्ति—को भुला दिया गया। निश्चय ही भाषा की अभिव्यंजना शक्ति शब्द-कोष और अलकारों के प्रयोग के बढ़ जाने के कारण रीतिकालीन हिन्दी कविता की अभिवृद्धि हो गई परन्तु उसकी आत्मा

संकुचित होती चली गई ।

हिन्दी रीतिकाव्य का रूप मुक्तक काव्य का है, और उसके विषय हैं, रस, अलङ्कार, नायिका भेद, नायक–नायिका के अंगों और उनके विलास का वर्णन; इसमें श्रृंगार रस की प्रधानता है ।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों और आचार्यों ने संस्कृत के रीति-शास्त्र का पूर्ण अनुकरण किया है । संस्कृत साहित्य के विभिन्न आचार्यों के मतों को ग्रहण करते हुए उन्होंने आचर्यत्व के प्रदर्शन का प्रयत्न किया । परन्तु संस्कृत साहित्य के आचार्यों में और इन कवियो में एक विशेष अन्तर है । संस्कृत साहित्य के आचार्य साहित्य-शास्त्र के पण्डित और व्याख्याता थे, उन्होंने परम्परा-गत पूर्ण विकसित संस्कृत साहित्य को अपने विवेचन का विषय बनाया और अपने मत स्थापित किए । किन्तु हिन्दी में इससे भिन्न परिस्थिति उत्पन्न हो चुकी थी । यहाँ कवि ने ही आचार्य के कार्य को ग्रहण किया, स्वयं व्यवस्था की, और अपनी व्यवस्था के अनुकूल ही उदाहरण भी दे डाला । वास्तव में जैसा कि आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "इन रीति ग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे । उनका उद्देश्य कविता करना था न कि काव्याङ्गों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना । अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः श्रृगार रस) और अलङ्कारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए । ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत मे सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी ।" अतः संस्कृत साहित्य के आचार्यों की भाँति व्याख्याता न होने के कारण हिन्दी में साहित्य की वास्तविक समीक्षा न हो सकी, और साहित्य के विविध अंगों का कहीं भी विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण विवेचन न किया गया । अधिकांश में संस्कृत मे ही अनुवाद किए गए । इस प्रकार रीतिकालीन कवियों द्वारा न तो साहित्य मीमांसा का स्वतन्त्र विकास ही हुआ और न ही संस्कृत रीति-शास्त्र को ही आगे बढ़ाया गया । इस प्रकार रीतिकाल में लक्षण ग्रन्थों की रचना करने वाले सैकड़ों कवि आचार्य नहीं कहला सकते, और न उनके ग्रन्थ साहित्य-शास्त्र के अध्ययन के लिए ही उपयोगी हो सकते हैं । अनेक स्थलों पर तो लक्षण इत्यादि अस्पष्ट हैं और

अनेक स्थलों पर काव्य के अनेक अंगों पर विचार ही नहीं किया, जैसे दृश्य काव्य और उसके विभिन्न अग।

हिन्दी के रीतिकाव्य के कवियों ने अलंकार ग्रंथों के निर्माण में चन्द्रालोक और कुवलानन्द का अनुसरण किया, और काव्य के रूप के सम्बन्ध में रस को प्रधान मानने वाले ग्रंथों—साहित्य दर्पण और काव्यप्रकाश को आधार बनाया। अतः हिन्दी रीति काव्य के सम्यग् अध्ययन के लिए संस्कृत रीति-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

रीतिकालीन आचार्य कवियों को दो विशेष वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के कवियों ने सम्यग् रूप से लक्षण और उनके उदाहरण लिख कर रीतिग्रन्थ लिखे। केशव, मतिराम तथा देव आदि इसी वर्ग के अन्तर्गत है। दूसरे वर्ग के कवियों ने लक्षण न लिख केवल उदाहरण ही लिखे हैं, बिहारी, बोधा, घनानन्द इत्यादि इस वर्ग के अन्तर्गत समझे जाते हैं। इन कवियों पर साहित्य शास्त्र का प्रभाव तो था, परन्तु इनमें (विशेष रूप से बोधा और घनानन्द में) अनुभूति की प्रधानता थी, और मौलिकता की मात्रा भी-अधिक थी। तुलना की दृष्टि से द्वितीयवर्ग की रचनाएँ प्रथम वर्ग से अधिक महत्वपूर्ण हैं।

रीतिकालीन कवियो की भाषा शुद्ध और प्राजल ब्रज भाषा थी। यद्यपि अब इसका रूप बहुत विस्तृत हो चुका था, और इसमें अनेक अन्य भाषाओं के शब्दों का भी मिश्रण हो चुका था; परन्तु कोमलता और श्रुति मधुरता की दृष्टि से रीतिकालीन ब्रज भाषा बेजोड़ थी। छन्दों में कवित्त, सवैया और दोहा का प्रयोग किया गया, और इनमें रीतिकालीन कवियों को इतनी अधिक सफलता प्राप्त हुई कि पश्चात् के काव्य मे इन्हीं में ही अधिक रचना की गई।

यहा संक्षेप से रीति काल के आविर्भाव के कारण, और उसकी विशेषताओं तथा न्यूनताओं का दोहरा दिया जाता है।

१—रीतिकालीन संस्कृति में भौतिक और शृंगारिक भावनाओं की प्रधानता, सुख समृद्धि के कारण उत्पन्न विलासिता की भावना और कविता को राजदरबारों में सम्मान, रीतिकाल के प्रादुर्भाव का मुख्य कारण कहा जा सकता है।

२—लक्ष्य ग्रन्थों के निर्माण के अनन्तर लक्षण ग्रन्थों का निर्माण स्वाभाविक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भी हम इसी नियम की आवृत्ति पाते हैं।

३—कृष्ण भक्ति शाख के कवियों द्वारा कृष्ण के शृंगार-पूर्ण रूप का वर्णन रीति कालीन परिस्थितियों और कवियों के लिए सहायक सिद्ध हुआ।

४—पाडित्य प्रदर्शन और आचार्यत्व की प्राप्ति की आकांक्षा से संस्कृत रीति शास्त्र का अध्ययन और अनुकरण।

५—मुगलकालीन विलासिता पूर्ण संस्कृति और लालित्य पूर्ण फारसी कविता ने भी रीति काल के अविर्भाव में विशेष सहयोग दिया।

६—रीतिकालीन कवियो ने लौकिक मर्यादा या आदर्शों की ओर अधिक ध्यान न दे, लौकिक प्रेम का विविध रूपों में चित्रण किया। इस चित्रण में शृंगार रस की प्रधानता रही। अन्य रसों पर बहुत कम रचना की गयी। लौकिक शृंगार के वर्णन में कृष्ण और राधा को नायक तथा नायिका के रूप में ग्रहण किया गया।

७—इस काव्य का रूप मुक्तक का था। प्रबन्धात्मक काव्य के रूप को नहीं अपनाया गया। कवित, सवैया, दोहा तथा बरवा छन्द को ही मुख्य रूप से अपनाया गया। काव्य में चमत्कार तथा लालित्य उत्पन्न करने के लिए कवि ने कला की ओर अधिक दृष्टि की, और काव्य की आत्मा—मानवात्मा का समग्र रूप से चित्रण—की अपेक्षा की गयी। अतः उनकी कविता में लालित्य अवश्य पाया जाता है, परन्तु उसमें मानव मात्र के लिए महान सन्देश का अभाव है। कलापक्ष की प्रधानता रही और भाव पक्ष को गौण स्थान प्राप्त हुआ।

८—आचार्यत्व की प्रगति की आकांक्षा से प्रायः सभी प्रसिद्ध कवियों ने लक्षण ग्रन्थों को लिखा। ये लक्षण ग्रन्थ संस्कृत रीति शास्त्र के आधार पर ही लिखे गए थे, अतः इसमें मौलिकता का अभाव है। प्रायः संस्कृत से ही अनुवाद किए गए हैं।

९—लक्षण ग्रन्थो के लेखक थे कवि आचार्य न हो कवि ही अधिक थे। लक्षण ग्रन्थ लिखना तो बहाना मात्र था कवियों ने संस्कृत परिपाटी का अनुसरण किया, कोई स्वतंत्र उद्भावना नहीं की। काव्याङ्गों पर विस्तृत

विवेचन नहीं किया गया। श्रव्य काव्य और शब्द शक्ति पर तो विचार भी नहीं किया गया।

१०—लक्षणों के उदाहरण अवश्य ही काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट बन पड़े हैं, परन्तु लक्षण सर्वथा अस्पष्ट और भ्रामक है। इसका कारण कवियों का मुख्य क्षेत्र साहित्य मीमासा न हो कवित्व था।

११—कवियो का क्षेत्र अत्यन्त सकुचित हो गया, वे अधिकतर लकीर के फकीर हो गए और बंधी परम्परा का ही पालन करने लगे। स्वतन्त्र व्यक्तित्व का प्रति फल कहीं दृष्टि गोचर नहीं होता।

१२—कवि स्वान्तः सुखाय कविता न कर अपने आश्रयदाताओं के मनोविनोद के लिए ही कविता करते थे, इसी कारण उच्चादर्शों का पालन न हो सका; और नर-काव्य का ही अधिक सृष्टि हुई।

१३—रीतकालीन कवियो की भाषा मुख्य रूप से ब्रज प्रदेश की ही थी, परन्तु अवधी, तथा मुसलमानी दरबारों के प्रभाव से फारसी के अनेक शब्दों का भी मिश्रण हो गया था। लालित्य, माधुर्य और कोमलता रीति कालीन काव्य भाषा की विशेषताएँ थी।

रीति काव्य और कवि

रीति-काव्य की सर्जना का प्रारम्भ संवत् १७०० से माना जाता है, परन्तु इससे बहुत समय पूर्व ही लगभग १५९८ में कृपाराम ने सर्व प्रथम रीति-शास्त्र पर लिखा था, और रस-निरूपण भी थोड़ा बहुत किया था। उसी समय प० मोहनलाल मिश्र ने भी अपना इस विषयक ग्रन्थ शृंगार-सागर लिखा। तत्पश्चात् अकबर के दरबार से सम्बन्धित कवि करनेश ने रीति काव्य सम्बन्धी तीन ग्रन्थ 'करनाभरण' 'श्रुति भूषण' और 'भूप भूषण' लिखे। परन्तु प्रथम न तो इन कवियों ने सस्कृत साहित्य शास्त्र का विस्तृत अध्ययन ही किया हुआ था, जिससे किये अपने साहित्य विवेचन को शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल बना सकते और न ही इनमें इतनी स्वतन्त्र प्रतिभा थी कि वे पूर्ण स्वतंत्र विवेचन सफलता पूर्वक कर सकते। दूसरा इन कवियों के अनन्तर रीति काव्य की परपरा का प्रचलन भी न हो पाया। संस्कृत साहित्य के सम्पूर्ण काव्याङ्गों का विस्तृत परिचय कराने वाले और साहित्य का शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत

करने वाले सर्व प्रथम कवि केशवदास थे। यहाँ हम सर्व प्रथम उन्हीं का परिचय दें।

केशवदासः—को ही रीति शास्त्र को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय प्राप्त है। यद्यपि उनसे पूर्व ही रीति ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं, परन्तु साहित्य-शास्त्र की विधि-वत् विवेचना कर हिन्दी में रीति काव्य की परम्परा को स्थापित करने का श्रेय केशवदास को ही देना पड़ेगा।

यद्यपि समय की दृष्टि से केशवदास भक्ति काल के अन्तर्गत आते हैं, 'रामचन्द्रिका' आदि ग्रन्थों के लिखने के कारण वे भक्तिकाल में स्थान प्राप्त भी कर सकते हैं। परन्तु रीति शास्त्र की ओर अधिक रुचि होने के कारण और अपने काव्य में अलंकारों आदि द्वारा चमत्कार प्रदर्शन के कारण केशवदास रीतिकाल में भी रखे जा सकते हैं।

जीवन परिचयः—केशवदास ने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थान पर अपने वंश का परिचय दिया है, जिससे पता चलता है कि वे सनाढ्य कुलोद्भव पं० कृष्णदत्त के पौत्र और पं० काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १६१२ में और मृत्यु सं० १६७४ के लगभग हुई। ये ओरछा नगर के निवासी थे, और सूर्य वंशी मधुकरशाह के पुत्र राजा इन्द्रजीत के आश्रित थे। केशवदास के पूर्वज भी ओरछा दरबार के ही आश्रित चले आ रहे थे। केशवदास का ओरछा दरबार में बहुत सम्मान था, स्वयं राजा इन्द्रजीत इन्हें गुरु के सदृश मानते थे। इस प्रकार आर्थिक चिन्ताओं से सर्वथा मुक्त होने के कारण इन्हें अध्ययन का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। संस्कृत के ऊँचे पण्डित होने के कारण उन्होंने संस्कृत साहित्य का बहुत विस्तृत अध्ययन किया। वास्तव में इन्हें पैतृक-परम्परा से ही संस्कृत पांडित्य प्राप्त हुआ था, और इसी कारण इन्होंने बड़े खेद के साथ कहा था।

भाषा बोलि न जानहिं, जिनके कुलके दास।
बिन भाषा कविता करी, जड़मति केशवदास॥

केशवदास अपने आपको राम का भक्त कहते थे और उन्हें अपना इष्ट मानते थे—

मुनिपति यह उपदेस दै जबहीं भए अष्टट।
केशवदास तहीं करयो रामचन्द्र जू इष्ट॥

परन्तु 'रामचन्द्रिका' आदि रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि केशवदास भक्त न हो केवल मात्र रसिक ही थे।

केशवदास के ग्रन्थ:—(१) रसिकप्रिया (संवत १६४८) में रस निरूपण किया गया है, रसां में शृगार रस की ही प्रधानता है। अन्य रसों का शृंगार में ही समाद्धार करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई। आचर्यत्व की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अधिक महत्त्व नहीं माना गया।

(२) राम चन्द्रिका (सवत १६५८) केशवदास की सुप्रसिद्ध रचना है। केशवादस ने लिखा है कि 'राम चन्द्रिका' लिखने की प्रेरणा उन्हे वाल्मीकि मुनि से प्राप्त हुई—

वाल्मीकि मुनि स्वप्न मे दीन्हो दरसन चारु।
केशव तिनसों यों कह्यो, क्यों पाउँ सुख सारु॥

इसके उत्तर में वाल्मीकि ने कहा—

भलो बुरो न तू गनै। वृथा कथा कहै सुनै।
न राम देव गाइ है। न देव लोक पाइ है॥

राम चन्द्रिका प्रन्बध काव्य के रूप में लिखी गयी है परन्तु मुक्तक की-सी स्फुटता सर्वत्र विद्यमान है। इसी का परिणाम है कि कथा में तारतम्य नहीं। प्रबन्ध काव्य में कथा के तारतम्य के बिना प्रबन्ध सोष्ठव उत्पन्न नहीं हो सकता। अलकार और पाडित्य प्रदर्शन की ओर ध्यान होने के कारण केशव ने मार्मिक स्थलो का भी ध्यान नहीं रखा· और इसी कारण काव्य की प्राणस्वरूप भाव्य जना मे गम्भीरता का सर्वथा अभाव है। स्थान-स्थान पर छन्द परिवर्तन ने 'राम चन्द्रिका' के प्रवाह को सर्वथा कुण्ठित कर दिया है। छन्दों के वैविध्य ओर अलंकारो की भरमार के कारण 'राम चन्द्रिका' में कवि न तो चरित्र-चित्रण में ही सफल हो पाया है और न कथा कहने में ही, सम्पूर्ण ग्रन्थ एक प्रकार से उदाहरण ग्रन्थ सा बन गया है। फिर भी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है।

(३) कवि प्रिया (स० १६५८) एक प्रकार से कवि शिक्षा का ग्रन्थ है। इसमें कवि ने विविध अलङ्कारों का विवेचन किया है, और कुछ वर्ण्य विषय पर भी लिखा है, परन्तु लक्षणों और परिभाषाओं के अस्पष्ट होने के कारण ग्रन्थ अधिक उपयोगी नहीं बन पड़ा।

(४) विज्ञान गीता:—(स० १६६७) की रचना 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' के ढंग पर की गयी है। यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है और इसमें केशवदास ने अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त किया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त केशवदास ने 'जहाँगीर जश चन्द्रिका' और 'वीरसिंहदेव चरित्र' नामक ग्रन्थ भी लिखे हैं।

केशवदास की कविता:—केशवदास की कविता के आलोचनात्मक अध्ययन में निम्नलिखित दोहा हमारा पर्याप्त पथ प्रदर्शन करेगा—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥

केशवदास का काव्य सम्बन्धी मनोवृत्ति का इससे अच्छा परिचय मिलता है। वास्तव मे केशवदास की मूलरूप से चमत्कारी कवि थे, जो कि अलङ्कार को ही कविता की आत्मा मानते थे। केशव कवि के भावुक हृदय से सम्पन्न न थे। वे अभिजात कुलोत्पन्न अत्याधिक पाण्डित्याभिमानी थे, और अपने इसी पाण्डित्य के प्रदर्शन के निमित्त ही उन्होंने उक्ति-वैचित्र्य और चमत्कार प्रदर्शन में ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। क्लिष्ट पद योजना भी—जिसके कारण कि वे कठिन काव्य के प्रेत कहलाते हैं— इसी पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना से ही प्रेरित हैं। शृंगार-रस केशव का प्रिय विषय था परन्तु शृंगार वर्णन मे भी केशव अपने काव्य को शब्द—विधान और अलकारो के प्रचुर प्रयोग से बोझल बना देते हैं, उसमे काव्योचित कल्पना और लौकिक मर्यादाओं का सर्वथा अभाव होता है और न ही उसमें सहृदयता होती है उसमे होता है तो केवल दरबारी शृंगार-पूर्ण वातावरण जिसमें विलास की भावना की प्रमुखता होती है।

केशवदास रामचरित्र को अपने काव्य का विषय बनाते हैं परन्तु फिर भी वे अपने काव्य मे मार्मिक चित्रों के चित्रण में सर्वथा असफल रहते हैं।

रामचरित्र मार्मिक स्थलों के और मानव हृदय की कोमल भावनाओं का भण्डार है। राम का अयोध्या-त्याग, दशरथ मरण, और राम वन-गमन इत्यादि ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ कि कवि अपने वर्णन द्वारा अपने पाठकों के हृदय को द्रवित कर सकता है। राम वन गमन की सम्पूर्ण धार्मिक कथा एक छन्द में ही दी जाती है—

यह बात भरत्थ की मातु सुनी।
पठऊँ मन रामहि बुद्धि गुनी।
तेहि मंदिर भो नृप सों बिनयो।
वर देहु हुतो हम को जुदयो॥"
(कैकेयी) नृपता सुविसेस भरत्थ लहै।
वरपै वन चौदह राम रहैं॥

इसी प्रकार बन गमन के समय केशवदास रामचन्द्रजी द्वारा कौशल्या को पतिव्रता धर्म का उपदेश दिलाते हैं। क्या यह उचित है कि एक आज्ञाकारी पुत्र अपनी माता को वैधव्य का उपदेश दे? केशव की कविता में ऐसी विचित्र सूझों और अनर्गल कल्पनाओं की कमी नहीं है।

परन्तु अपनी वृद्धावस्था में भी 'बाबा' पुकारा जाने पर इन शब्दों में—

केसव केसन असि करी बैरिहु जस न कराहिं।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि कहि जाहिं॥

शोक प्रगट करने वाला कवि सर्वथा हृदय-हीन और अरसिक नहीं हो सकता। यही कारण है कि लक्ष्मण के शक्ति लगने पर और मेघनाद वध पर केशव अपनी सहृदयता का परिचय देते हुए पाठक की आँखों को तरल कर देते हैं—

लक्ष्मण राम जहीं अवलोक्यो, नैनन ते न रह्यो जल रोक्यो।
वारक लक्ष्मण मोहिं विलोकौ, मोकहँ प्राण चले तजि रोकौ।
हौं सुमिरौं गुन केतिक तेरे, सोदर पुत्र सहायक मेरे।
बोलि उठो प्रभु को पुनि पारो, नातरु होत है मो मुख कारो।

और इसी प्रकार रावण मेघनाद-वध पर कहता है—

आजु आदित्य जल पवन पावक प्रबल।
चंद आनन्दमय त्रास जग को हरो।
गान किन्नर करौ नृत्य गंधर्व-कुल
यक्ष विधि लक्ष उर यक्ष कर्दम धरो।

इसी प्रकार 'रसिक प्रिया' और 'कवि प्रिया' में जहाँ कवि ने अलकारों और वाग् वैचित्र्य का मोह त्याग शृंगार का वर्णन किया है वहाँ कल्पना उडान और अनुभूति की वास्तविकता के कारण कविता सरस और सुन्दर बन पडी है।

केशवदास को संवादों में सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है। केशव की वाकपटुता का प्रमाण हमें उनके सम्वादों से प्राप्त होता है। रामचन्द्रिका में वर्णित सम्वाद पात्रों तथा रसानुकूल भाषा के कारण अत्याधिक सजीव और सरस बन पाये हैं। पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुन्दर बन पड़ी है। रौद्र रस तथा वीर रस के वर्णन में भी केशवदास ने विशेष कुशलता प्रदर्शित की है। युद्धों के वर्णन अत्यन्त सजीव बन पड़े हैं। राजसी ठाट बाट के वर्णन में केशव का मन विशेष रूप से रमता था, जीवन की गम्भीर समस्याओं की उन्होंने या तो जान बूझकर उपेक्षा की या उन तक उनकी दृष्टि ही नहीं गयी।

'रामचन्द्रिका' को प्रबन्ध काव्य का रूप प्रदान करने मे केशवदास को असफलता ही हुई है। इसमें केवल वर्णन की प्रधानता है, और ये वर्णन भी केवल कवि कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से ही किये गए हैं। कथा का प्रवाह भी बीच बीच में भंग हो जाता है, छन्द-वैचित्र्य और अलकार बाहुल्य ने तो स्थिति को और अधिक हास्यस्पद बना दिया है।

प्रकृति वर्णन में तो केशवदास और भी अधिक असफल हुए हैं। दरबारी वातावरण में रहने के कारण केशवदास की प्रकृति निरीक्षण की तो शक्ति ही नष्ट हो गयी थी। रामचरित के वर्णन में प्राकृतिक सौन्दर्य स्थलो की कमी नहीं, परन्तु केशव ने उनका वर्णन केवल कवि कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से ही किया है और वह वर्णन भी व्यर्थ के वाग्जाल से दबकर ही रह गया है। प्रातःकालीन सूर्योदय के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए उसकी उपमा 'सोनित

कलित कपाल' से देने वाले कवि से स्वच्छ प्रकृतिचित्रण की क्या आशा हो जा सकती है। इसी प्रकार नदी तटो के सौन्दर्य पूर्ण चित्र को प्रस्तुत करते समय भी कवि अलंकार योजना के मोह में पड़ सम्पूर्ण दृश्य को सौन्दर्य-हीन बना देता है—

' विषमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति।
केसव जीवन हार के दुख अशेष हरि लेति॥
अति निपट कुटिल गति यदपि आप
तउ देत शुद्ध गति छुवत आप

केशवदास ने अपने ग्रन्थों में जयदेवकृत 'प्रसन्न राघवनाटक' 'हनुमान्नाटक' 'अनघ राघव' और 'कादम्बरी' की अनेक उक्तियो का ज्यो का त्यों अनुवाद कर रख लिया है। 'रामचन्द्रिका' कथा एक बहुत विस्तृत अश तथा उसमें व्यवहृत उक्तियाँ आदि 'प्रसन्न राघव' के अनुसार ही हैं। इस प्रकार केशवदास मौलिक उद्भावनाएँ अधिक न कर सके।

परन्तु केशवदास ने अपने समय में प्रचलित सम्पूर्ण काव्य शैलियों में रचना कर अपनी प्रतिभा के सर्वतोमुखी होने का परिचय दिया है। 'कवि-प्रिया' और 'रसिक प्रिया' लिखकर केशवदास ने रीतिकाव्य की परम्परा मे सहयोग दिया और 'रामचन्द्रिका' लिख उन्होने रामकाव्य की पुष्टि की। 'जहाँगीर जस-चन्द्रिका' और 'वीरसिंहदेव चरित्र' लिख कर केशवदास ने अपने समय के वीर-रस-काव्य में सहयोग प्रदान किया; परन्तु यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि केशवदास मूलरूप से चमत्कारवादी श्रृंगारिक कवि ही हैं, और उनकी यह प्रवृत्ति उनके सम्पूर्ण काव्य पर बराबर लक्षित होती रहती है।

केशवदास की भाषा बुन्देलखण्डी से प्रभावित व्रजभाषा है; संस्कृत शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है, परन्तु विदेशी शब्द बहुत कम आ पाये हैं। बुन्देलखण्डी मुहावरो का प्रयोग यत्र-तत्र मिल जाता है, इसके अतिरिक्त केशवदास ने बुन्देलखण्ड के अनेक अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है। संक्षेप से केशवदास की भाषा प्रसाद गुण युक्त है परन्तु उनकी भाषा मे रीति कालीन कवियों की सी प्रौढ़ता नहीं आ पायी।

आचार्यत्वः—केशवदास अलङ्कार-सम्प्रदाय के आचार्यों के मतावलम्बी

थे, और उन्होने अलङ्कारों के वर्णन में दण्डी· सय्यक आदि अलङ्कारवादी आचार्यों का अनुकरण किया है, रस को उन्होने अलङ्कार की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं माना, और अलङ्कार को ही काव्य की आत्मा माना है।

केशवदास पर आचार्यत्व की दृष्टि से विचार करते समय उनके रीति ग्रंथों का ही अध्ययन करना चाहिए। 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' उनके सुप्रसिद्ध रीति ग्रन्थ हैं। 'कवि-प्रिया' में केशवदास ने कवि कर्म पर लिखा है, और कवि के वर्ण्य विषय पर विचार किया है। कवि शिक्षा के लिए जो बाते आवश्यक हैं उन सब का वर्णन 'कवि-प्रिया' में किया गया है। परन्तु आचार्यों ने इस ग्रथ के विषय और विषय निरूपण को देख इसे शास्त्रीय दृष्टि से दूषित माना है, क्योंकि केशवदास ने अलङ्कारों के न तो लक्षण ही स्पष्ट किए हैं, और न उनके उदाहरण ही उनके अनुकूल बना सके है। अलङ्कारों के उपभेद भी स्पष्ट नहीं और उनके लक्षण भी नहीं दिए गए। इस विषय में केशवदास ने जो भूलें की हैं और जो अस्पष्ट रूप से विषय का विवेचन किया है उससे तो यही स्पष्ट हो जाता है कि केशवदास को वर्ण्य विषय—अलङ्कार-शास्त्र—का पूर्ण ज्ञान नहीं था।

'रसिक प्रिया' केशव को इस विषय की दूसरी पुस्तक है, इसमे केशव ने सम्पूर्ण रसों को शृंगार रस में ही लाने का प्रयत्न किया है। परन्तु इसमे इन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसमे शृंगार रस की प्रधानता है, इसके दोनों पक्ष सयोग तथा वियोग और नायिका दर्शन तथा नायिका भेद आदि का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। किन्तु रस के विभाव अनुभाव आदि का विवेचन नहीं हो पाया। इस प्रकार साहित्य शास्त्र के शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से केशवदास न तो मौलिक ही थे, और न विशेषज्ञ ही थे।

तथापि केशवदास हिन्दी में रीति शास्त्र के शास्त्रीय विवेचन के प्रवर्त्तक होने के कारण हिन्दी साहित्य के इस विषय के साहित्यिकों में ऊँचा स्थान रखते हें, और इसी कारण लोकमत ने सूर तथा तुलसी के अनन्तर इन्हीं को उडुगण के रूप में स्थान दिया है।

केशवदास की कविता से उदाहरण नीचे दिए जाते है—

कुंतल ललित नील भ्रकुटी धनुष नैन,
कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अङ्गदादि भूषनन,
मध्यदेश केशरी सुजग गीति भाई है।
विग्रहानुकूल सब लच्छ लच्छ ऋच्छ बल,
ऋच्छ-राजमुखी मुख केशौदास गाई है।
रामचन्द्र की चमू, राजश्री विभीषण की,
रावन की मीचु दरकूच चली आई है॥

विधि के समान है विमनीकृत राजहंस,
विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है।
दीपति दीपति अति सातौ दीप देखियत,
दूसरो दलीप सो सुदच्छिणा को बल है।
सागर उजागर सो बहु वाहिनी को पति,
छन दान प्रिय कैधों सूरज अमल है।
सब विधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भगीरथ पथ गामी गङ्गा कैसो जल है॥

पढ़ौ विरञ्चि मौन वेद, जीव सोर छंडिरे
कुवेर बेर कैकही, न जच्छ भीर मंडिरे।
दिनेस जाइ दूरि बैठि नारदादि संगही,
न बोलु चंद मंद-बुद्धि, इन्द्रकीसमान ही॥

कैटभ सो, नरकासुर सो, पल में मधु सो मुर सो जिन मारयो।
लोक चतुर्दश रच्छक केशव, पूरन वेद पुरान विचारयो॥
श्रीकमला-कुच-कुंकुम-मंडन-पंडित देव अदेव निहारयो।
सो कर मागन को बलि पै करतार हु ने करतार निहारयो॥

चिन्तामणिः—को ही आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाल का प्रवर्तक माना है. क्योंकि उनके पश्चात् ही रीतिकाव्य की अविरल धारा प्रवाहित होती रही। ये तिकवाँपुर (जि० कानपुर) के निवासी प० रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे; और मतिराम, भूषण और जटाशंकर इनके भाई कहे जाते हैं और

ये इतिहास में त्रिपाठी बन्धु के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह त्रिपाठी बन्धु, जटाशङ्कर के अतिरिक्त, हिन्दी के उच्चकोटि के कवि माने जाते हैं। चिन्तामणि त्रिपाठी बन्धुओं में सबसे बड़े थे। इनका जन्म सं० १६६६ के आसपास माना जाता है। ये नागपुर के सूर्यवशी भोंसला मकरदशाह के आश्रित थे, और अपनी छंद-विचार नामक पुस्तक उन्हें ही समर्पित की है। इनके रचे ग्रंथ ये हैं—'काव्य-विवेक' 'कवि-कुल-कल्पतरु' 'काव्य-प्रकाश' और 'छंद-विचार'। चिन्तामणि की कविता भाषा तथा भाव दोनों ही दृष्टियों से सुन्दर बन पड़ी है। इन्हीं की कविता से मुग्ध हो तत्कालीन मुग़ल सम्राट शाहजहाँ ने इन्हें पुरस्कृत किया था।

केशवदास और चिन्तामणि में लगभग ५० वर्ष का अन्तर है, परन्तु चिन्तामणि और केशव के काव्य सम्बन्धी आदर्शों में भी अन्तर है। ये रसवादी थे और रस के अन्तर्गत ही अलंकारो को उचित स्थान दिया, परन्तु केशव अलकार-सम्प्रदाय के अनुयायी थे; केशवदास की भाँति इन्होंने भी सम्पूर्ण काव्याङ्गो पर विवेचना की है, परन्तु केशवदास की रचना के विपरीत इनकी रचना अधिक मनोहर और सरस बन पड़ी है! इनकी काव्य भाषा शुद्ध ब्रज भाषा थी। इनकी रचना के कुछ उदाहरण देखिए :—

> आँखिन मूँदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
> कैहूँ कहूँ मुसकाय चितै अंगराय अनूपम अंग दिखावै।
> नाह छुई छलसों छतियाँ हँसि भौह चढ़ाय अनन्द बढ़ावै।
> जोबन के मद मत्त तिया हितसो पति को नित चित्त चुरावै॥
> इक आजु मैं कुन्दन-बेलि लखी मनि मन्दिर की रुचि वृन्द भरै।
> कुरविंद के पल्लव इंदु तहाँ अरविन्दन तें मकरन्द झरै।
> उत बुन्दन के मुकुता गन ह्वै फल सुन्दर भ्वै पर आनि परै।
> लखि यों दुति कंद अनन्द कला नँद नन्द सिला द्रव रूप धरै॥

मतिराम :—रीतिकाल के प्रधान कवियों में से हैं। ये त्रिपाठी बन्धुओं मे अपनी सरस तथा सुमधुर कविता के लिए हिन्दी जगत मे विख्यात हैं। इनका जन्म स० १६७५ के लगभग तिकवाँपुर (कानपुर) गाँव मे हुआ था, और बून्दी के राजा भावसिंह के आश्रित थे। मिश्र बन्धुओं ने इन्हें

'हिन्दी नव रत्न' में स्थान दिया है, जो कि सर्वथा उपयुक्त है। मतिराम की कविता की सर्व प्रमुख विशेषता उनकी स्वाभाविक सरसता है, जिसे कि उन्होंने अपने सरल भावों के अनुरूप अकृत्रिम, कोमल, प्रसाद गुण युक्त ब्रजभाषा में अभिव्यक्त किया है। इनकी-सी कोमल, सरल, सरस तथा प्रसाद गुण युक्त ब्रज भाषा रीतिकाल के अन्य किसी कवि ने नहीं लिखी।

इनकी 'सर्वश्रेष्ठ रचना 'ललित ललाम' और 'रसराज' हैं। अपनी सरसता और सरलता के कारण यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त 'मतिराम की सतसई' भी काव्योचित उत्कृष्टता मे कम नहीं, परन्तु कुछ विशेष कारणों से उसकी प्रसिद्धी बिहारी-सतसई के समान नहीं हो सकी। परन्तु भावों की उत्कृष्टता की दृष्टि से वह प्रत्येक प्रकार से बिहारी-सतसई के समकक्ष है बल्कि भाषा तथा भावों के प्रवाह में तो यह बिहारी-सतसई से भी श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त मतिराम के 'छंदसार', 'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृंगार' नामक अन्य ग्रन्थ भी हैं।

मतिराम की कविता चित्त की स्वाभाविक व सरल भावों की अभिव्यजना के कारण अत्यन्त उत्कृष्ट मानी गयी है। बिहारी की भाँति न तो मतिराम में वक्रता ही है, और न विषय का पेचीलापन। नायिकाओं के विरह वर्णन में बिहारी की सी अस्वाभाविकता नहीं आने पायी।

लक्षण ग्रन्थों की दृष्टि से 'रस राज' और 'ललितललाम' बहुत श्रेष्ठ बन पडे हैं, और काव्य शिक्षा मे इनका प्रयोग बराबर होता आ रहा है। यद्यपि कहीं कहीं लक्षण दूषित हैं तथापि वे सरल और सुबोध हैं। लक्षणों के उदाहरण तो अत्यन्त सुन्दर और सरस बन पड़े हैं। शब्दाडम्बर तथा अलकारों के वृथाडम्बर में न पड़ने के कारण इनकी कविता की स्वाभाविकता सर्वत्र बिखरी हुई।

मतिराम की कविता के उदाहरण देखिए—

बेलिन को लपटाय रही है, तमालन की अवली अलिकारी।
कोकिल केकी, कपोतन के कुल, केलि करे अति आनद भारी।
सोच करें जनि होउ सुखी, 'मतिराम' प्रवीन सबै नर नारी।
मंजुल बंजुल कुञ्जन में घन, पुंज सखी! ससुरारि तिहारी॥

निस दिन श्रौननि पियूष सो पियत रहै,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुर ग्राम को।
तरनि-तनूजा-तीर नव कुंज बीथिन में,
जहाँ-जहाँ देखियत रूप छवि धाम को।
कवि मतिराम होत हाँतो न हिय तैं नेक,
सुद्ध प्रेम गात को परस अभिराम को।
ऊधो तुम कहत वियोग तजि योग करौ,
योग तब करैं जो वियोग होय स्याम को॥

भूषण—त्रिपाठी बन्धुओं में तीसरे स्थान पर हैं। तत्कालीन समाज और साहित्य की परिस्थितियों और बन्धनों का उल्लंघन कर भूषण ने वीर काव्य की रचना कर जहाँ अपनी स्वतन्त्र-प्रकृति का परिचय दिया वहाँ हिन्दुराष्ट्र के स्थापन के लिए प्रयत्न करने वालों का यशोगान कर उन्हें प्रेरित किया। भूषण का बन्धी लकीर पर न चलना और अपने स्वतन्त्र पथ को अपनाना ही उनकी महानता का द्योतक है। जब औरंगजेब के अत्याचारों से पीड़ित हिन्दु त्राहि-त्राहि कर रहे थे, और जब सब प्रकार से हिन्दुओं की सामाजिक और सांस्कृतिक सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा था, उस समय भी यदि विलासमयी प्रवृत्ति में पड़ कवि नायिक नायिकाओं का शृंगार वर्णन करता तो निश्चय ही वह पथ-भ्रष्ट और कर्त्तव्य भ्रष्ट होता है। भूषण ने समाज की तत्कालीन स्थिति को अनुभव करते हुए और अपने कर्त्तव्य का ध्यान रख पीड़ित हिन्दु जाति में वीरता की भावनाओं को भर उसे यवन राज्य को समाप्त करने के लिए प्रेरित किया।

भूषण का जन्म संवत् १६७० के लगभग माना जाता है। भूषण का मतिराम और चिंतामणि का भाई होना सन्देहास्पद समझा जाता है, परन्तु अभी तक पर्याप्त खोज के न हो सकने के कारण इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। भूषण इनका वास्तविक नाम नहीं था यह तो उन्हें चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र के यहाँ उपाधि मिली थी, जैसा कि नीचे के दोहे से स्पष्ट है—

कुल सुलंकि चित्रकूटपति, साहस सील-समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रुद्र॥

भूषण के जीवन के विषय की खोज अभी तक अधूरी ही है।

भूषण अनेक राजाओं महाराजाओं के आश्रय में रहे थे, परन्तु इनका मन तो अपनी भावनाओं के अनुकूल आश्रयदाताओं के यहाँ ही रमा, ये आश्रयदाता थे बुन्देलाधिपति महाराज छत्रसाल और छत्रपति हिन्दु-कुल-भूषण शिवाजी। इन आश्रयदाताओं की वीरता का वर्णन भूषण ने अत्यन्त ओजस्विनी भाषा में किया है। तत्कालीन मुग़ल सम्राट से अपनी स्वतन्त्र सत्ता के लिए लोहा लेते हुए यह वीर वास्तव में हिन्दुराष्ट्र के रत्न हैं, और भूषण ने इनके यशोगान द्वारा जहाँ वीर रस के काव्य की रचना की है वहाँ अपनी कविताओं द्वारा राष्ट्र की भी सेवा की। यह ठीक है कि भूषण का राष्ट्रीय दृष्टिकोण आज का सा व्यापक नहीं था, परन्तु भूषण की कविता में राष्ट्रीय कविता के लिए उपयुक्त भावनाओं की कमी नहीं है।

नर-काव्य रचना के कारण कुछ आलोचक भूषण को भी चाटुकार कवि कहते हैं, और उनके काव्य की समता प्राचीन चारण कवियों से करते हैं; परन्तु राष्ट्रीय हितों के लिए युद्ध करने वाले वीरों की प्रशसा करना भी यदि चाटुकारिता कहलाए तो राष्ट्रीय कविता किसे कहेंगे? भूषण अनेक दरबारों में रहे परन्तु उन्होंने राष्ट्र के नायक शिवाजी तथा महाराज छत्रसाल का ही यशोगान किया। यदि छत्रसाल और शिवाजी राष्ट्रीय नायक न होते तो आज उनका स्मरण हिन्दु जाति द्वारा इतने प्रेम और आदर से न किया जाता। भूषण की कविता साधारण चाटुकारिता की कविता नहीं, वह तो वीरता और उल्लास की भावनाओं से पूर्ण है, और राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने वाली है।

भूषण की तीन पुस्तकें विख्यात हैं—'शिवराज भूषण', 'शिवा बावनी' तथा 'छत्रसाल-दर्शक'। 'शिवराज-भूषण' अलंकार-ग्रन्थ है। रीतिकाल में उत्पन्न होने के कारण वे अपने काल के प्रभाव से न बच सके, उन्हें भी अपने समय के अनुसार चलने के लिए बाधित होना पड़ा।

'शिवराज भूषण' लिख उन्होंने अलकारों के लक्षण तथा उदाहरण दे

अपने समय की प्रचलित परम्परा का पालन किया। परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इन्हें रीति-काव्य की रचना में सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि इनके न तो अलकारों के लक्षण ही और न उनके उदाहरण ही ठीक बन पाये हैं। लक्षण अस्पष्ट हैं, और उदाहरण अयुक्तियुक्त। वास्तव में भूषण का क्षेत्र यह नहीं था, वे तो हृदय की वार तथा उल्लासपूर्ण भावनाओं के कवि थे। अलकारों के उदाहरण स्वरूप लिखी गयी कविता अवश्य उत्कृष्ट और सरस बन पड़ी है।

भूषण की भाषा तो ब्रज भाषा ही है, परन्तु शब्दो के रूप तोड-मरोड कर मनमाने ढग से बनाए गये हैं, जिससे भाषा कही कहीं असस्कृत हो गई है। इन्होने शुद्ध सस्कृत और फारसी शब्दों को अपनाने में भी संकोच नहीं किया। स्थानीय लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण रूप से भाषा ओजपूर्ण और रसानुकूल होने के कारण स्फूर्ति-दायक बन पडी है।

वीर रस पूर्ण कविता के कारण भूषण को राज-दरबारों मे तथा प्रजा मे समान रूप से सम्मान प्राप्त हुआ। कहा जाता है कि भूषण को अपने समय में अपनी कविता के कारण जितना मान, धन और प्रसिद्धि प्राप्त हुई इतनी अन्य किसी कवि को नहीं। इनकी कविता से कुछ पद्य नीचे उदा-हरण स्वरूप उद्धृत किए जाते हैं—

इन्द्र जिमि जृंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर, रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर, संभु रति नाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर, राम द्विजराज है।
दावा द्रुम-दण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
भूषण वितुण्ड पर, जैसे मृगराज है।
तेज-तम अंश पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यो मलेच्छ-वंश पर, सेर सिवराज है॥

चकित चकत्ता चौकि चौकि उठे बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाहि करषति है।

बिलखि बदन बिलखत बैज पुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर-थर काँपत कुतब साहि गोलकुंडा,
हहरि हबस-भूप-भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाति धरकति है॥

साजि चतुरग वीर रंग मे तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद विहद नगारन के,
नदी नद मद गैवरन के रलत है।
ऐल फैल खैल भैल खलक में गैल गैल,
गजन की ठैल पैल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है॥

बिहारी:—रीतिकाल के कवियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनके काव्य की जितनी चर्चा बिगत २५० वर्ष में हुई है उतनी तुलसीदास के रामचरित मानस को छोड, अन्य किसी भी रचना की नहीं हो पायी। बिहारी अपनी वाग्विभूति के कारण हिन्दी संसार मे प्रसिद्ध हैं। छोटे छोटे दोहों में अधिक से अधिक मार्मिक भावों को भर देने की जितनी क्षमता बिहारी में हैं, इतनी अन्य किसी कवि में नहीं। इन्हीं के दोहों की प्रशंसा, मे कहा गया निम्नलिखित दोहा सर्वथा उपयुक्त है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगे, बेधैं सकल सरीर॥

जीवन वृत्तान्त:—बिहारी का जन्म संवत् १६५२ में ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था, और ये जाति से माथुर ब्राह्मण चतुर्वेदी थे। कहा जाता है बिहारी का बचपन बुन्देलखण्ड में बीता जहाँ इनके पिता ग्वालियर छोड़ चले गए थे। वहीं इन्होंने प्रसिद्ध कवि केशवदास जी से काव्य ग्रन्थों का अध्ययन किया। तरुणावस्था में यह

बुन्देलखण्ड छोड़ मथुरा चले गए, और वहीं अपनी ससुराल में रहने लगे। जब शाहजहाँ वृन्दावन गया उस समय बिहारी को भी अपनी प्रतिभा प्रदर्शन का अवसर प्राप्त हुआ। कहते हैं इनकी काव्य-चातुर्य से प्रसन्न हो शाहजहाँ ने इन्हें आगरे में आ कर रहने का निमन्त्रण दिया। आगरा के निवासकाल में ही इनकी भेंट अब्दुर्रहीम खानखाना से हुई, जिनसे इन्हें पर्याप्त धनराशि पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हुई। आगरे में रहते समय ही इनकी प्रसिद्धि दूर दूर तक हो चुकी थी, और इनकी वृत्ति भी अनेक राजाओं द्वारा बाँध दी गई थी। सं० १६६१ में ये जब अपनी वृत्ति की प्राप्ति के लिए जयपुर गए तो उस समय महाराज अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में इतने मुग्ध थे कि उन्होंने राजकाज का देख भाल के लिये महलों से निकलना भी छोड़ रखा था। मन्त्री गण अत्यन्त चिन्तित थे, और कोई भी ऐसा उपाय नहीं सूझता था जिससे राजा को सचेत किया जासके। अन्ततः बिहारी को एक युक्ति सूझी और उन्होंने निम्नलिखित दोहा किसी प्रकार महाराज के पास भिजवाया—

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
> अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

यह दोहा अत्यन्त प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ। महाराज सचेत हो गए, और बिहारीलाल से प्रसन्न हो उन्हें बहुत पुरस्कार दिया तथा उन्हें ऐसे ही सरस दोहों की रचना का आदेश दिया। बिहारी उस समय से जयपुर राज-दरबार के आश्रित हो रहने लगे, और वहाँ अपनी रचनाओं को सुना जहाँ महाराज को प्रसन्न करते वहाँ प्रचुर पुरस्कार प्राप्त कर सुख पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे। बिहारी की कोई सन्तान नहीं थी। स्वभाव से ये बहुत रसिक, मृदुल और सन्तोषी थे। साधारण नागरिक जीवन के अनुभवों का वर्णन भी कवि ने अपने जीवन से प्राप्त कर कविता में व्यक्त किया है। इनकी मृत्यु सं० १७२० के आस पास हुई।

बिहारी की कविता:—महाराज की आज्ञा से लिखे ७०० दोहों का संग्रह ही 'बिहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध है और यही बिहारी की एक-मात्र रचना है, इसी पर बिहारी की प्रसिद्धि अवलम्बित है। इसका एक-एक दोहा हिन्दी-साहित्य

का अमूल्य रत्न समझा जाता है। सचमुच बिहारी के सम्पूर्ण दोहे हीरे की भाँति कटे-छँटे हैं, कवि ने एक ही दोहे में अनेक खण्ड-दृश्यों, भाव भंगिमाओं, मुद्राओं तथा हाव भावों को अत्यन्त कुशलतापूर्वक उपस्थित किया है। ध्वनि काव्य का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण 'बिहारी-सतसई' कही जा सकती है। यद्यपि बिहारी ने केशव या अन्य रीतिकालीन ग्रंथकार कवियों की भांति कोई लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि उन्होंने शृंगार रस के सम्पूर्ण विभाव अनुभाव संचारी-भाव तथा मुद्राओं और चेष्टाओं का बहुत सूक्ष्म वर्णन किया है। इन भावों और विभावों तथा चेष्टाओं के निरीक्षण को जो सूक्ष्म दृष्टि चाहिए, वह बिहारी में विद्यमान है। इसी कारण बिहारी ने रसानुकूल चेष्टाओं तथा हाव-भाव के वर्णन में अपनी कुशलता का परिचय दिया है। नीचे दिए दोहे में बिहारी ने किस प्रकार सफलता पूर्वक एक एक शब्द में हाव-भाव और तत्सम्बन्धी चेष्टाओं का सूक्ष्म वर्णन किया है—

बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनु हँसे, देन कहै नटि जाए।

एक सखी नायिका की चेष्टाओं का दूसरी सखी से वर्णन करती हुई कहती है—

त्रिबली, नाभि दिखाइ कर, सिर ढकि, सकुचि, समाहि।
गली अली की ओट कै, चली भली विधि चाहि॥

नीचे लिखे दोहे में कवि एक साथ ही अभिलाष, हर्ष, अमर्ष, तथा स्मिति आदि अनेक भावों को एक साथ ही प्रगट करता है—

कहत, नटत, रीझत, खिजत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन मे करत हैं नैनन ही सब बात॥

बिहारीलाल ने केवल शास्त्रीय अनुभावों का वर्णन करके ही बस नहीं की अपितु इस विषय मे अपनी अनेक नवीन उद्भावना की हैं।

रूप चित्रण करते हुए कवि ने संक्षिप्त से शब्दों में अद्भुत ढग से शब्द चित्र उपस्थित किए हैं। एतद् विषयक बिहारी का एक प्रसिद्ध दोहा देखिए—

सीस मुकुट कटि-काछनी कर-मुरली उर-माल।
इहि बानक मो मन सदा बसो बिहारी लाल॥

बिहारी ने संयोग शृंगार का बहुत ही विलासमय परन्तु स्वाभाविक चित्रण किया है। शृंगार रस के कवियों ने जिन शृंगार क्रीड़ाओं—आँखमिचौनी, जल-क्रीडा, झूला झूलना, फाग खेलना इत्यादि का वर्णन किया है उन सबका बिहारीलाल ने भी सुन्दर वर्णन किया है, परन्तु बिहारी के इस वर्णन में उनकी सबसे बडी विशेषता है प्रेम की सच्ची तथा स्वाभाविक अभिव्यक्ति। उन्होंने खेलवाड बहुत कम किया है। आँख मूँदने के खेल का वर्णन करते हुए कवि ने कितना स्वाभाविक चित्र खैंचा है—

प्रीतम-दृग-मीचत प्रिया पानि-परस-सुखु पाइ।
जानि पिछानि अजान लौं नेकु न होति जनाइ॥

कर स्पर्श के सुख को अनुभव करती हुई नायिका अपने नायक को पहिचानती हुई भी नहीं पहिचान रही।

इसी प्रकार शयन भवन में सो जाने के झूठे बहाने का वर्णन देखिए—

मुखु उघारि पिउ लखि रहत, रह्यौ न गौ मिस-सैन।
फरके ओठ, उठे पुलक, गए उघरि जुरि नैन॥

नायिका सोने का बहाना कर लेट रही है, प्रिय मुख खोल उसका बहाना देख रहा है। अन्त मे दोनों से रहा नहीं गया और नेत्र जुट गए।

वियोग शृंगार के वर्णन में कहीं अस्वाभाविकता आ गई है, जैसे नीचे दोहे से देखिए:—

सुनत पथिक-मुँह माह-निसि चलति लुवै वहिं गाम।
बिन बूझै बिनहीं कहै, जियत बिचारी बाम॥

नायिका के विरह की अग्नि से तृप्त हो वायु भी लूह में रूप के परिवर्तित हो जाती है, और दूर विदेश में बैठा नायक भी इसी लूह से उसके जीवित होने का अनुमान लगा लेता है। इसी प्रकार का वर्णन 'औंधाई सीसी' आदि दोहों से भी मिल जाता है। परन्तु कुछेक आलोचकों का विचार है कि विरह वर्णन में यह अस्वाभाविकता और अतिश्योक्ति विदेशी प्रभाव का ही परिणाम है।

परन्तु विरह का स्वाभाविक और मार्मिक वर्णन भी पर्याप्त है। वियोग की अवस्था मे प्रिय की उत्सुकता से प्रतीक्षा होती है, कभी पत्र द्वारा सन्देश

भेजने की योजना होती है तो कभी देवताओं को मनाया जाता है तो कभी प्रियतम् की पत्रिका मिलने पर—

कर लै चूमि चढ़ाइ सिर उर लगाइ भुज भेंटि।
लहि पाति पिय की लखति, बाँचति धरति समेटि॥

जब कभी प्रतीक्षा की जाती है तो मामूली पत्ते के खड़कने से भी प्रिय के आगमन की निश्चित सम्भावना हो जाती है, और यदि आँख ने फड़क कर प्रिय आगमन की सूचना दी तो नायिका का उत्साह बढ़ जाता है। बिहारी ने इस स्थिति का अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण किया है—

मृग नैनी दृग की फरक, उर उछाह तन-फूल।
बिन ही पिय-आगम उमँगि पलटन लगी दुकूल॥

और फिर बहुत दिनों के अनन्तर मिलने पर जब नायक और नायिका एक दूसरे के सम्मुख होते हैं तो वहाँ शब्द शक्ति शान्त हो जाती है, और आँखों से ही बातें होती हैं। इस स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

बिछुरैं जिये संकोच इहिं, बोलत बनत न बैन।
दोऊ दौरि लगे हियैं, किये लजौहैं नैन॥

अलङ्कारों की योजना भी कवि ने बहुत निपुणता से की है, एक ही दोहे में अनेक अलङ्कारों को प्रस्तुत करना भी बिहारी का ही काम था—

दृग उरझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित्त प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हिय, दई नई यह रीति॥

इसी प्रकार नीचे लिखे दोहे में अनुप्रास, यमक तथा वीप्सा आदि अनेक शब्दालंकार उलझे पड़े हैं—

रनित भृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु।
मंद-मंद आवतु चल्यौ, कुंजरु-कुँज समीरु॥

'अज्यो तरौना ही रह्यो' आदि दोहा में अवश्य ही अलङ्कार सम्बन्धी वाग्जाल है; परन्तु ऐसे दोहों की संख्या बहुत कम है।

लक्षणा तथा व्यञ्जना वृत्ति के भी अनेक उदाहरण बिहारी की कविता में प्राप्त होते हैं। परन्तु कहीं कहीं व्यंजना का अनुचित प्रयोग होने के कारण व्यंग्यार्थ के समझने के लिए अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना का आश्रय लेना पड़ता है।

बिहारी ने कुछ भक्ति सम्बन्धी दोहे और नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ भी लिखी हैं। बिहारी की भक्ति भावना का सूक्ष्म विभाग नहीं किया जा सकता श्रीकृष्ण विषयक कविता लिखने के कारण वे कृष्ण भक्त कवि नहीं कहे जा सकते और कुछ उक्तियों मे भगवान् राम का गुणगान करने के कारण वे राम भक्त नहीं कहे जा सकते। वास्तविकता तो यह है कि वह एक सामान्य भक्ति भावना को लेकर चल रहे थे जिस में राम या कृष्ण अथवा सगुण या निर्गुण में से कोई भी भेद सम्मिलित नहीं था। भक्ति तथा नीति सम्बन्धी बिहारी के कुछ दोहे देखिए—

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा विपति-विडारन हार॥
यह बरिया नहिं और की, तूँ करियावह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं कीने पार पयोधि॥
यद्यपि सुंदर सुघर पुनि सगुनौ दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो भरिए जितो सनेह॥
कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात नर, यह पाय बौराय॥

मुक्तक काव्य के स्वरूप को दोहा छन्द में अभिव्यक्त करने में बिहारी को अद्‌भुत सफलता प्राप्त हुई है। इस छोटे छन्द में इतने भावो को भर देना बिहारी की प्रतिभा की अलौकिकता का ही परिणाम है। बिहारी की कविता में मुक्तक काव्य के सम्पूर्ण गुण प्राप्य हैं। इनकी कविता में कलापक्ष की प्रधानता है, चाहे इन्होंने लक्षण ग्रन्थ नहीं लिखे परन्तु-शृंगार रस का पूर्ण रूप से वर्णन करने तथा नख शिख, षड् ऋतु तथा नायिका भेद आदि के वर्णन के कारण वह रीति-कालीन आचार्यों में उच्च स्थान प्राप्त कर सकते हैं। बिहारी का काव्य निश्चय हो काव्याङ्ग की बारीक पिच्चीकारी को पसन्द करने वाले और कला की सूक्ष्म परख करने वाले आलोचकों और पाठकों को प्रमुदित करता है, परन्तु हृदय की आन्तरिक अनुभूतियों और मानवात्मा के पूर्ण विकास तथा सम्पूर्ण सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्धों को स्थापित करने वाले तत्त्वों का इसमें अभाव है। बिहारी की कविता एक क्षणभगुर

अनुभूति को उत्पन्न करने के अनन्तर शान्त हो जाती है, उसका प्रभाव स्थायी नहीं, उसमें वह शक्ति नहीं जो कि हृदय में संगीतमय मधुर भाव को उत्पन्न कर उसी के प्रभाव से कुछ काल तक प्रभावित रखे।

बिहारी की कविता शृंगारिक है, उसमें प्रेम का वर्णन है परन्तु वह प्रेम लौकिक और ऐन्द्रिय है, उसमें निःस्वार्थ तथा निःस्पृह बनाने की क्षमता नहीं। इसी कारण प्रेम की उच्च भूमि पर उसकी पहुँच नहीं।

बिहारी की भाषा साहित्यिक व्रज भाषा है। व्रजभाषा के अन्य कवियों की भाति इन्होंने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा नहीं, इनके शब्दों के व्यवहार की एक निश्चित प्रणाली है, और वाक्यो के रूप व्यवस्थित हैं।

बिहारी की अन्य विशेषताएँ—बिहारी की काव्य सम्बन्धी विशेषताओं को हम ऊपर दर्शा चुके हैं, यहाँ हम उनकी कविता में उपलब्ध कुछ अन्य विशेषताओं पर विचार करेंगे। सर्व प्रथम विहारी ने शृगारी कवि होते हुए भी अपने वर्णन को सकुचित नहीं किया। उन्होंने अपनी कविता में केवल नख शिख, हाव, भाव इत्यादि का ही चित्रण न कर सौन्दर्य के व्यापक रूप का भी चित्रण किया है।

विहारी ने अपनी कविता में प्रायः अनेक विषयों पर अपनी विस्तृत जानकारी का परिचय दिया है। निम्नलिखित दोहे में ज्योतिष और राजनीति के ज्ञान का शृगार मे क्या ही सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है—

> दुसह दुराज प्रजानुकैं, क्यों न बढ़े दुख द्वन्द।
> अधिक अन्धेरी जग करत, मिलि मावस रवि चन्द॥

शृंगारपक्ष में कवि ने वय-सन्धि में यौवन तथा शैशव के होने वाले सम्मिश्रण से उत्पन्न आकर्षण और दर्शक के लिए उत्पन्न पीडा का वर्णन किया है। राजनीति पक्ष में दो अधिकारियों के हाथ की बात सदा दुःखदायिनी होने और ज्योतिषपक्ष में अमावस के दिन सूर्य तथा चाँद के एक ही राशि में आ जाने के कारण अन्धकार का और भी अधिक प्रगाढ़ हो जाने का वर्णन है।

बिहारी ने अपने कुछ दोहों में सांख्यशास्त्र तथा ज्योतिष शास्त्र की

जानकारी का भी अच्छा परिचय दिया है। लौकिक अनुभवों के प्राप्त ज्ञान का अच्छा वर्णन है।

बिहारी का प्रकृति वर्णन विशद नहीं बन पड़ा, परन्तु कहीं २ अत्यन्त मधुर ब्रजभाषा में प्रकृति के शब्द चित्र उपस्थित करने में उन्हे काफी सफलता प्राप्त हुई है—

घने कुञ्ज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥

उपसहारः—उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारी जहाँ काव्य-शास्त्र में पारंगत थे, वहाँ लौकिक जानकारी भी अच्छी रखते थे। बिहारी अपनी अलौकिक प्रतिभा के कारण हिन्दी के रीतिकालीन कवियों में निश्चय ही उच्चस्थान के अधिकारी हैं।

महाराज जसवन्तसिंहः—अपने समय के प्रतापी हिन्दु नरेश थे, और मुगल सम्राटों के प्रमुख सेनापतियों में से थे। ये मारवाड़ नरेश महाराज गजसिंह के द्वितीय पुत्र थे और इनका जन्म सं० १६६८ में हुआ था, और बहुत छोटी अवस्था में ही संम्वत् १६९५ में सिंहासनारूढ़ हुए। अपने जीवन काल में इन्होंने अनेक युद्धों में भाग लिया था, और मुग़ल शासकों के अत्यन्त विश्वासपात्र होने के कारण राज्य के अनेक उच्च पदो पर कार्य कर चुके थे; औरंगजेब सदा ही इनसे भयभीत रहा। सम्वत् १७३५ में जब ये काबुल विजय के लिए अफगानिस्तान गए तो वहाँ युद्ध में इनकी मृत्यु हुई।

महारज जसवन्तसिंह साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ और श्रेष्ठ विचारक थे। हिन्दी-साहित्य के रीतिकालीन आचार्यों में ये प्रमुख हैं, और इनका रचा हुआ 'भाषा भूषण' ग्रन्थ अलंकारों का श्रेष्ठ पाठ्य-ग्रन्थ है। लक्षण ग्रन्थों की रचना करने वाले अन्य आचार्यों की भाँति ये कवि नहीं थे। इसी कारण इन्हें इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। 'भाषा-भूषण' की रचना संस्कृत अलंकार ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' के ढंग पर की गई है, एक ही दोहे में लक्षण तथा उदाहरण दे देने के कारण अलंकार शास्त्र के विद्यार्थियो को अलंकारों को सूत्र रूप से कण्ठ करने का बहुत सुभीता हो गया है।

'भाषा-भूषण' के अतिरिक्त महाराज जसवन्तसिंह के अन्य ग्रन्थ तत्वज्ञान से सम्बन्धित हैं, जैसे—'अपरोक्ष सिद्धान्त', 'सिद्धान्त बोध', 'सिद्धान्त सार' और 'प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक'।

इनकी कविता के उदाहरण 'भाषा-भूषण' से नीचे लिखे जाते हैं—

सार-अलंकार—

एक एक ते सरस जब अलङ्कार यह सार।
मधु सों मधुरी है सुधा कविता मधुर अपार॥

परिसंख्या-अलकार—

परिसंख्या इकथल बरजि दूजे थल ठहराइ।
नेह हानि हिय में नहीं भई दीप में जाइ॥

कुलपति मिश्र :—आगरा निवासी थे और महाकवि बिहारीलाल के भागनेय थे। इनके पिता का नाम परशुराम था और ये जाति के चौबे थे। कुलपति जयपुरके महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के आश्रित थे। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस रहस्य' मम्मट के 'काव्य प्रकाश' के आधार पर लिखा गया है। संस्कृत के ऊँचे विद्वान् होने के कारण इन्हें साहित्य शास्त्र का अच्छा ज्ञान था, और इसी कारण इनके रीति ग्रन्थ शास्त्रानुकूल और विशद बन पड़े हैं। 'रस रहस्य' में शब्द शक्ति का निरूपण भी किया गया है।

ब्रजवासी होने के कारण इनकी भाषा चलती हुई सुमधुर ब्रजभाषा है।

कुलपति मिश्र के 'रस रहस्य' के अतिरिक्त निम्न ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं—(१) द्रोण पर्व, (२) मुक्ति तरङ्गिनी, (३) नखशिख, (४) संग्रह-सार, (५) गुण रहस्य। इनका कविताकाल संवत् १६२४ और १७४३ के बीच ठहरता है। कुलपति मिश्र की कविता का एक उदाहरण देखिए—

ऐसिय कुञ्जबनी छबि पुञ्ज रहै अलि गुञ्जत यों सुख लीजै।
नैन बिसाल हिये बन माल बिलोकत रूप-सुधा भरि दीजै।
जामिनि-जामकी कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यौं छिन छीजै।
आनंद यो उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै॥

देव कवि :—का यथार्थ नाम देवदत्त है, और ये हिन्दी के गण्यमान्य आचार्यों में गिने जाते हैं। ये इटावा निवासी थे, और जाति से कान्यकुब्ज

ब्राह्मण थे। आचार्य शुक्ल इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण मानते हैं। इनके जीवन वृत्तान्त की अब तक पूरी खोज नहीं हो सकी। इनकी पुस्तकों से पता चलता है कि इन्हें कोई ऐसा अच्छा आश्रयदाता प्राप्त नहीं हुआ, जहाँ कि इनकी चित्त वृत्ति रमी और इन्होंने सुखपूर्वक जीवनयापन किया हो। यह सम्पूर्ण आयु भर इधर उधर आश्रयदाताओं की खोज में फिरते रहे, परन्तु सफल न हो सके। इसका परिणाम उनके सम्पूर्ण साहित्य पर लक्षित होता है।

रीतिकालीन कवियों में सबसे प्रचुर परिमाण में साहित्य का निर्माण करने वालों में देव ही थे। बालपन से ही देव ने अपने काव्य का चमत्कार दिखलाना प्रारम्भ कर दिया था, १६ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने 'भाव-विलास' जैसे ग्रन्थ की रचना कर डाली थी। औरंगज़ेब का पुत्र आज़म शाह, जो कि हिन्दी कविता का बहुत प्रेमी था, इनकी कविता सुन बहुत प्रसन्न हुआ था। इन्होंने 'भाव विलास' और 'अष्टयाम' आजमशाह को सुनाए थे। देव ने अपना 'सुख सागर तरंग' नामक ग्रन्थ पिटानी के अकबर अलिखाँ को समर्पित किया था। इस प्रकार इनका स० १८२४ तक जीवित रहना सिद्ध होता है। ये लगभग ६४ वर्ष की आयु भोग स्वर्ग सिधारे।

देव के ग्रन्थ:—देव के ग्रन्थों की सख्या कुछ विद्वान् ५२ बतलाते हैं तो कुछ ७५ कहते हैं। इनके अब तक लगभग २५ ग्रन्थ प्राप्त हो चुके वे यह हैं—

(१) भाव-विलास, (२) अष्टयाम (३) भवानी-विलास, (४) कुशल विलास, (५) प्रेम चन्द्रिका, (६) जाति-विलास (७) रस विलास (८) शब्द-रसायन, (९) सुखसागर तरग (१०) नीति शतक, (११) सुजान-विनोद (१२) राग-रत्नाकर (१३) देव-चरित्र, (१४) सुन्दरी-सिन्दूर· (१५) शिवाष्टक, (१६) प्रेम तरग, (१७) देवकाया-प्रपञ्च, (१८) देवशतक, (१९) वृक्ष-विलास, (२०) पावस-विलास, (२१) रामानन्द लहरी, (२२) प्रेम-दीपिका· (२३) सुफाल विनोद, (२४) राधिका-विलास, (२५) नखशिख-प्रेम-दर्शन।

इन ग्रन्थों में 'रस विलास' और 'प्रेम चान्द्रका' पुस्तकें उच्च कोटि के साहित्य के अन्तर्गत मानी जाती हैं· काव्य रसायन' में रस, अलङ्कार तथा छन्द आदि का मार्मिक विवेचन किया गया है। ·शब्द रसायन' देव का

आचार्यत्व की दृष्टि से उच्च कोटि का ग्रन्थ है; 'भाव विलास', 'भवानी विलास' तथा 'कुशल विलास' रीति प्रवाह की दृष्टि से अच्छे गिने जाते हैं। देव-काया-प्रपञ्च नाटक में, 'प्रबंध चन्द्रोदय' के ढंग पर धर्म-विवेचन किया गया है। 'देव चरित्र' में भगवान् श्री कृष्ण के जीवन चरित्र का वर्णन है। देव ने 'सुख सागर तरङ्ग' में नायिका भेद पर विवेचना की है। अन्य ग्रन्थों में नाना विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

देव देशीय वातावरण से सदा प्रभावित रहे, उन्होंने देश की नायिकाओं का सुन्दर वर्णन किया है। 'भवानी-विलास' में कवि ने एक अत्यन्त सुन्दर चित्र इन शब्दों में दिया है—

आवन सुन्यो है मन भावन को भामिनि,
सु आँखिन अनंद आंसू ढरिक ढरिक उठै।
देव दृग दोऊ दौरि जात द्वार देहरी लौं,
केहरी कांसे खरी खरकि खरकि उठै।
कल न परति कहूँ ललन चलन कह्यो,
विरह दवा सो देह दहकै दहक दहक।
जेठी बड़ीनि में बैठी बहू उत,
पीठि दिये पिय दीठि संकोचन।
आरसी की मुदरि दृढ़ दै पिय को,
प्रतिविम्ब लखै दुख मोचन॥

देव ने विरह के अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन किए हैं, देव विरहणी की मानसिक अवस्था का जो कि कभी प्रेमावेश के कारण गुलाब की भाँति विस्तृत हो चुकी थी सुन्दर वर्णन करते हुए लिखते हैं—

फूल सी फैली परे सब अङ्ग, दुकूलन मे दुति दौरि दुरी है।
आंसुन के जल पूर मे पैरति, सांसन सों सनि लाज बुरी है।
देव जु! देखिए दौरि दसा, ब्रज पौरि बिथा की कथा बिथुरी है।
हेम की बेलि भई हिम रासि, घरीक में घाम सों जात घुरी है॥

देव की कविता उनके मानसिक विकास-क्रम के अनुसार विकसित होती है, उनकी प्रारम्भिक रचनाएं यौवन की मस्ती, उन्माद तथा शृंगारिकता से

परिपूर्ण हैं। इस अवस्था में देव ने अहीरिन के, माखन सों तनु और दूध सो जोवन' पर मुग्ध हो रचनाएँ रचीं, और उन्हें अभिसार का निमंत्रण दिया। इसी अवस्था में उन्होंने सयोग श्रृंगार के विलासपूर्ण वर्णन किए हैं, परन्तु युवावस्था के तिरोहण के साथ ही साथ देव की कविताओं में गाम्भीर्य और संयम आ जाता है, वृद्धावस्था तक पहुंचते २ कवि अपनी दार्शनिक और धार्मिक अनुभूतियों का वर्णन करने लग जाता है। इस प्रकार का विकासक्रम एक सच्चे कवि की कविता में स्वाभाविक है, और उसी की रचनाओं में जीवन के अनेक अमूल्य तत्वों की प्राप्ति भी सम्भव है।

देव ने श्रृंगार के दोनों पक्ष—सयोग और वियोग—पर रचना की है, परन्तु उनका संयोग वर्णन ही अधिक उत्कृष्ट बन पड़ा है। वियोग में देव ने मान वर्णन बहुत सुन्दर किया है। विरह में ही तो—

बड़े बड़े नैनन ते आंसु भरि भरि ढरि।
गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो विलानो जात॥

विरह के सन्ताप की अग्नि में गोरा मुखड़ा आंसुओं के रूप में ओले के सदृश पिघल २ बह रहा है। अत्युक्ति तो अवश्य है, परन्तु वर्णन कितना मार्मिक बन पड़ा है।

देव सौन्दर्योपासक थे, तभी तो सौन्दर्य-सागर में डूबने वाली आँखों के लिए इतनी मौलिक और स्वभाविक उद्भावना कर सके—

धार में जाय धँसी निराधार ह्वै, जाय फँसी, उकसीन अबेरी।
री! अगंराय गिरी गहरी, गहि फेरि फिरीन घिरी नहिं घेरी॥
'देव' कछु अपनो बसु ना, रस लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगि ही बूढ़ि गई पँखियाँ अखियां मधुकी मखियाँ भई मेरी॥

देव ने अपनी कविता का मुख्य विषय प्रेम को ही बनाया है, यह प्रेम लौकिक है इसमें एन्द्रियता है, परन्तु देव ने अपनी तन्मयता से इसमें अपनी अन्तरात्मा की पुकार को भर उत्कृष्ट और आकर्षक बना दिया है। रीति काल के अन्य कवियों की भाँति देव की कविता का क्षेत्र सकुचित नहीं, उन्होंने अपने जीवन में प्राप्त अनुभवों को अपनी प्रतिभा के स्वाभाविक विकास के साथ काव्य के विभिन्न रूपों में उपस्थित किया है। सम्पूर्ण आयु

भर बन्धन मुक्त रहने के कारण उनकी प्रतिमा का विकास स्वाभाविक और स्वतत्र रूप से हो सका है। लम्बे पर्यटन के कारण उन्हें जीवनसम्बन्धी अनुभवों की प्राप्ति भी काफी हुई थी। इसी कारण उनके काव्य में गाम्भीर्य की कमी नहीं। भावों की व्यापकता के कारण देव की भाषा का कोष भी अत्यन्त व्यापक और समृद्ध है, परन्तु तत्कालीन प्रवृत्ति के फलस्वरूप देव ने भी अनेक शब्दो के रूपा को विकृत किया है और अनेक नवीन शब्दों की गढ़ना की है। उनकी भाषा ब्रज भाषा थी जोकि अत्यन्त सुन्दर मनोरम प्रसाद गुण युक्त और प्रवाहमयो थी। शब्दों के रूप विकृत करना तो उस काल की प्रवृत्ति ही थी।

मिश्र बन्धुओं ने देव को सूर और तुलसी के पश्चात् स्थान दिया है। फलस्वरूप देव तथा विहारी सम्बन्धी वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। जिसमें किसी ने देव का उत्कृष्टता को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया तो किसी ने विहारी को। परन्तु यहाँ इस वाद-विवाद में न पड़ते हुए हम इतना अवश्य कहेंगे चाहे देव बिहारी जैसे कलाकार हों और चाहे उनमे केशव जैसी विद्वता न हो तथापि अपनी सूक्ष्मदर्शिता, तन्मयता, पाण्डित्य, सरसता और मौलिक काव्य प्रतिमा के कारण वे रीतिकालीन कवियों में प्रमुखता के अधिकारी हैं।

देव की कविता से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं—

ऐसौ जुहौं जानतौ कि जैहै तू विषै संग,
ऐरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोर तो।
आज लौं हौ कत नर नाहन की नाही सुन,
प्रेम सो निहारि हेरि बदन निहोरतो।
चलन न देतो चित्त चंचल अचल करि,
चाबुक चितवनीनि मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे सौ बाँधि,
राधावर बिरद के वारिधि मे बोरतो॥

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि॥

धाई खोरि-खोरि ते बधाई प्रिय आवनि की,
सुनि-सुनि कोरि-कोरि भाविनि भरति हैं।
मोरि-मोरि बदन निहारति विहारि-भूमि,
घोरि-घोरि आनन्द घरी-सीं उघरति है।
'देव' कर जोरि-जोरि बन्दत सुरन,गुरु-
लोगनि के लोरि-लोरि पाँयन परति हैं।
तोरि-तोरि माल पूरे मोतिन की चोक,
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है॥

झहरि झहरि झीनी बूँद है परति है मानो,
घहरि घहरि घटा घेरीहै गगन में।
आनि कह्यो स्याम मोसौ चलौ झूलिबे को आज,
फूली न समानी भई ऐसी हों मगन मैं।
चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में।
आँखि खोलि देखौ तो न घन है, न घनस्याम,
वेई छाई बूँदे मेरे आँसु है दृगन में॥

भिखारीदास :—का स्थान रीतिकालीन आचार्यों में बहुत महत्त्वपूर्ण है। काव्याङ्ग के निरूपण में इनको सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है; और इनका 'काव्य निर्णय' नामक ग्रन्थ इस समय भी साहित्य शास्त्र के विद्यार्थियों में बहुत प्रिय है।

भिखारीदास जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे, और इनका निवास स्थान प्रतापगढ़ के पास ट्योंगा नामक स्थान था। इनका कविताकाल संवत् १७८५ से १८०७ तक माना जाता है। दास जी प्रतापगढ़ के अधिपति पृथ्वीराजसिंह के

भाई हिन्दुपतिसिंह के आश्रय में रहते थे। 'काव्य निर्णय' के अतिरिक्त दासजी के निम्नलिखित ग्रन्थ बतलाए जाते हैं—

रस सारांश, छन्दार्णव-पिंगल, शृंगार-निर्णय, नाम प्रकाश, विष्णु-पुराण-भाषा, छन्द प्रकाश, शतरंज शतिका और अमर प्रकाश।

दास जी की ख्याति का मुख्य कारण उनका मुख्य ग्रन्थ 'काव्य निर्णय' ही है; इस ग्रन्थ में इन्होंने छन्द, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष तथा शब्द शक्ति आदि सम्पूर्ण काव्याङ्गों पर विस्तार पूर्वक विवेचना की है। इन काव्याङ्गों की विवेचना करते हुए दास जी ने अपनी आलोचना शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। इन काव्याङ्ग सम्बन्धी इनकी कुछ नवीन उद्भावनाओं के कारण इनकी बहुत प्रशंसा की जाती है, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि रीतिकालीन अन्य आचार्यों की भाँति यह भी साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में अपूर्ण ही रहे हैं। इन द्वारा किए गये अनेक लक्षण और उनके उदाहरण अस्पष्ट और भ्रामक हैं, कहीं तो लक्षण ठीक नहीं तो कहीं उदाहरण लक्षण से मेल नहीं खाता। परन्तु रीतिकालीन अन्य आचार्यों की अपेक्षा दास जी ने साहित्य समीक्षा के क्षेत्र में अधिक कार्य किया है।

दास जी की कविता भी बहुत उत्कृष्ट नहीं समझी जाती क्योंकि इनमें मौलिकता बहुत कम है, और इन्हें अपने पूर्ववर्ती कवियों की भावनाओं को लेकर ही स्वतन्त्र रचना करने का प्रयत्न किया है। भिखारीदास की भाषा साहित्यिक तथा परिमार्जित ब्रजभाषा है, इन्होंने अधिक वाग्जाल का आश्रय नहीं लिया और न्रहीं इनकी भाषा में अधिक चमत्कार ही आने पाया है। इनके कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

नैनन को तरसैये कहाँ लौं, कहाँ लौं हियौ विरहागि में तैए ?
एक घरी न कहूँ कल पैए कहाँ लगि प्रानन को कलपैए ?
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहु के घर जैए।
प्रान घटे तें कहा घटि है जु पै प्रान पियारे को देखन पैए॥

अब तौ बिहरी के वे बानक गए री, तेरी
तन-द्युति केसर को नैन कसमीर भो।

औन तुव बानी-स्वाति-बूंदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो।
हियके हरख मरु धरनि को नीर भो, री!
जियरो मनोभाव—सरन को तुनीर भो।
एरी! बेगि करि कैं मिलापु थिर थापु, न तौ
आपु अब चहत अतनु को सरीर भो।

तोषनिधि:—शृंगवेरपुर के निवासी चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे, और अपने समय के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। इनका रचा हुआ 'सुधा-निधि' नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है, इसमें विभिन्न रसों और भावों का विवेचन किया गया है। इनके लक्षण सरल और उदाहरण बहुत ही सरस तथा हृदयग्राही हैं। कविता में भावाभिव्यक्ति बहुत सुन्दर और सरस बन पड़ी है। इनके रचे हुए 'विनय-शतक' और 'नखशिख' नामक दो अन्य ग्रंथों का भी पता चलता है।

रसलीन:—का पूरा नाम सैयद गुलाम नबी था। यह मुसलमान थे, परन्तु हिन्दी काव्य के बहुत प्रेमी थे। रसलीन ने लगभग सं० १७६४ में 'अंग दर्पण' नामक एक रीति ग्रन्थ लिखा था, इसके अतिरिक्त इन्होंने दोहों में रस निरुपण के निमित्त एक 'रस प्रबोध' नाम का अन्य ग्रन्थ भी लिखा था। रसलीन अपनी उक्तियों के चमत्कार और उक्ति वैचित्र्य के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका आँखों के विषय में कहा गया यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

अमिय, हलाहल, मदभरे, स्वेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इकबार॥

पद्माकर:—सर्व प्रियता में रीतिकालीन कवियों में विहारी से दूसरे स्थान पर हैं। रीतिकालीन कविता में पद्माकर की कविता अपनी रमणीयता के लिए प्रसिद्ध है; और यही इनकी लोकप्रियता का भी कारण है।

पद्माकर जाति के तैलंग ब्राह्मण थे, और पं० मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म सम्वत् १८१० में हुआ था और ८० वर्ष की आयु भोगने के अनन्तर इनका स्वर्गवास सं० १८९०, में हुआ। पद्माकर का अनेक दरबारों में सम्मान था तथा ये अपनी कविता की उत्कृष्टता के लिए देश में दूर दूर तक प्रसिद्ध थे। इनके मुख्य आश्रय-दाता जयपुर के महाराजे

जगतसिंह थे, इन्हीं को ही कविने अपना जगद्विनोद नामक ग्रन्थ समर्पित किया है। वैसे सितारे के महाराज रघुनाथराव ने भी इन्हें एक लाख रुपया और दस गाँव देकर सम्मानित किया था, तथा अवध के सेनापति हिम्मत बहादुर ने भी जिसके नाम पर पद्माकर ने 'हिम्मत बहादुर-विरुदावली' नामक पुस्तक लिखी है, इन्हें पुरस्कृत किया था, परन्तु इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग जयपुर में ही बिताया। जीवन के संध्याकाल में ये कानपुर के पास गंगा तट पर आ रहने लगे।

पद्माकर के रचे हुए ग्रन्थ हैं (१) जगद्विनोद (२) गंगालहरी (३) हिम्मत बहादुर-विरुदावली (४) पद्माभरण (५) आलीजाह शाह प्रकाश (६) भाषा हितोपदेश (७) प्रबोध पचासा।

पद्माकर की कविता का मुख्य विषय शृंगार ही है, वैसे इन्होंने वीर रस पर भी रचना की है, परन्तु अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। इनकी कविता में विविध भावों, अनुभावों और काल्पनिक चित्रों का सुन्दर चित्रण है। भावानुकूल भाषा का प्रयोग करने की जैसी क्षमता पद्माकर में है, वैसी बहुत थोड़े ही कवियों में प्राप्त होती है। इनकी कविता में अनुप्रासों की छटाके दर्शन स्थान स्थान स्थान पर हो जाते हैं, परन्तु कुछेक स्थानों पर अनुप्रास बाहुल्य के कारण भावाभिव्यक्ति में बाधा उपस्थित हो गयी है। भाषा को यत्र-तत्र तोड़ा मरोड़ा भी गया है, परन्तु भाषा के विविध रूपों के प्रयोग में ये तुलसीदास से टक्कर लेते हैं। हृदय की अव्यक्त भावनाओं के प्रगटिकरण के लिये लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग कर इन्होंने अपने काव्य में एक विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। वर्तमान समय के कुछ आलोचकों की दृष्टि में ये रीतिकाल के सर्व श्रेष्ठ कलाकार ठहरते हैं।

इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

कूलन में केलि में कछारन में कुञ्जन में,
क्यारिन में कलित कलान किलकन्त है।
कहै पद्माकर परागन में पौन हूँ में,
पातन में पीक में पलासन पगंत है।

द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में,
देखो दीप दीपन में दीपति दिगंत है।
बीथिन मे ब्रज मे नवेलिन में वेलिन में,
बनन में बागन मे बगरयो वसंत है॥

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मनकी पद्माकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी।
छीनि पीतम्बर कम्मर तें सुविदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी"॥

प्रतापसाही:—रीतिकाल के अन्तिम महत्व पूर्ण और आचार्य और कवि थे। उच्च कोटि के पण्डित होने के कारण प्रतापसाही साहित्यिक विवेचना और कविता दोनों में ही सफल हो सके हैं।

प्रतापसाही रतनसेन बन्दीजन के पुत्र थे और चरखारी के महाराज विक्रमादित्य के यहाँ आश्रित थे। 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' और 'काव्य विलास' ये दो पुस्तके इनकी बहुत प्रसिद्ध हैं, इसके अतिरिक्त प्रतापसाही की निम्न लिखित पुस्तकें भी प्राप्य हैं—

(१) जय-सिंह प्रकाश (सं० १८८२) (२) शृंगार-मंजरी (सं० १८८९) (३) शृंगार-शिरोमणि (सं० १८९४) (४) अलंकार-चिन्तामणि (सं० १८८९) (५) काव्य विनोद (सं० १८९६) (५) रसराज की टीका (सं० १८९६) (६) रत्न चन्द्रिका (सत सई की टीका सं० १८९६) (७) जुगल नख शिख (सीताराम का नख शिख वर्णन, (८) बलभद्र नख शिख की टीका।

इन्होंने रीति कालीन परम्परा को पूर्ण रूप से विकसित किया है 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' की रचनाकर प्रतापसाही ने व्यंजना शक्ति की विवेचना की और परम्परागत चली आ रही एतद्विषयक कमी को पूर्ण किया। परम्परागत रूढ़ि में चलते हुए भी कवि ने अपने काव्य-कौशल का सुन्दर परिचय दिया है, और अनेक स्थलों पर नवीन उद्भावनाएँ कर अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। आचार्यत्व और काव्य का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है। कवि पद्माकर की सी अनुप्रास योजना में नहीं पड़ा, इसी कारण अभिव्यक्ति

में स्वाभाविकता है। भाषा शुद्ध ब्रज भाषा है, जोकि आडम्बर-हीन और प्रवाहमयी तथा अन्य काव्योपयोगी गुणों से सम्पन्न है। इन्हीं कारणों से विद्वानों ने प्रतापसाही को पद्माकर के समान उच्च कवियों में गिना है। इनकी कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

घोर घटा घहरैं नभ मण्डल तैसिय दामिन की दुति जागत।
धावत धूरि भरे धुरवा मुरवा गिरि शृंगन पै अनुरागत।
फैली नई हरियाई निहारि संजोगिनि के हियरे अनुरागत।
रीति नई रितु पावस में ब्रजराज लखै रितुराज सों लागत॥

तड़पै तड़िता चहुँ ओरन तें छिति छाइ समीरन की लहरैं।
मदमाते महागिरि शृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरैं।
इनकी करनी बरनी न परै सुगरूर गुमानन सो गहरैं।
घन ये नभमण्डल में छहरैं घहरैं कहुँ जाय कहुँ ठहरैं॥

प्रतापसाही के अनन्तर रीतिकाल के ग्रथकार कवियों और आचार्यों की परम्परा समाप्त हो जाती है, यद्यपि रीति-काव्य की परम्परा का पालन १९ वीं शताब्दी के अन्त तक बराबर होता रहा, परन्तु किसी भी कवि ने विशेष प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं किया।

रीतिकाल की विविध साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

रीतिकाल की अन्य विविध प्रवृत्तियों को हम स्थूल रूप से निम्न श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) रीति-परम्परा से स्वतन्त्र शृंगार रस की रचना करने वाले कवि। घनानन्द, ठाकुर तथा बोधा आदि कवियों को इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा जाता है।

(२) प्रबन्ध काव्य के रचियता कवि।

(३) सूक्तिकार कवि।

(४) भक्ति-काव्य-लेखक।

नीचे हम इन विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों के कवियों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

(१) रीति-परम्परा से स्वतन्त्र शृंगार रस के कवि—रीतिकाल मे शृंगार रस की कविता की प्रधानता रही है, परन्तु आचार्य कवियों ने अपनी कविता को निश्चित परिपाटी के अन्तर्गत बाँध दिया और शेष कवियों ने इसी का अनुसरण किया। परन्तु शृंगार रस के इन स्वतन्त्र कवियों ने न तो लक्षण ही लिखे हैं, और न अपनी रचनाएँ इन लक्षणों के उदाहरण स्वरूप ही लिखी हैं। इन्होंने तो शृंगार रस पर स्वतन्त्र रूप से फुटकल पद्यों में कविता की है। परम्परागत परिपाटी के त्याग के कारण इनकी कविता मे स्वाभाविक सौन्दर्य और प्रवाह है। प्रेम की तल्लीनता की अवस्था में लिखी गयी कविता बहुत मार्मिक और भावपूर्ण बन पड़ी है। रीति-परम्परा पर चलने वाले कवि अपनी स्वतन्त्र अनुभूतियों के अभिव्यक्तिकरण में असमर्थ थे, उनकी कविता एक बँधे ढाँचे में चलती थी, जिसमे स्वतन्त्र प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं हो सकता था। परन्तु शृंगार रस के इन स्वतन्त्र कवियों में एक स्वतन्त्र प्रवृत्ति का विकास हुआ। इनकी कविता मे एकान्तिक—व्यक्तिगत—प्रेम का वर्णन है, अतः इसमें हार्दिक वेदना का होना स्वाभाविक ही है। परन्तु एकान्तिक प्रेम सम्बन्धिनी होने के कारण इनकी कविता लोकोपयोगी नहीं बन पड़ी।

आलम:—रीतिकालीन परम्परा का परित्याग कर शृंगार रस पर स्वतत्र रचना करने वाले कवि हैं।

आलम जाति के ब्राह्मण थे, परन्तु शेख नामक एक रंगरेजिन के प्रेम-पाश में फँस इन्होंने मुसलमान धर्म स्वीकार कर शेख से विवाह कर लिया। शेख बहुत चतुर और वाक्-पटु स्त्री थी। ऐसा कहा जाता है कि वह भी सुन्दर कविता करती थी, और उसके बहुत से पद्य आलम की रचनाओं में प्राप्य हैं। आलम को शेख से जहान नाम का एक पुत्र भी प्राप्त हुआ।

आलम का कविताकाल सं० १७४० से सं० १७६० तक माना जाता है। ये औरंगज़ेब के द्वितीय पुत्र मुअज़्ज़म के आश्रय में रहते थे। इन की कविताओं का संग्रह 'आलम केलि' नाम से प्राप्य है। इन्होंने 'माधवानल काम-कन्दला' नाम की एक प्रेम कथा भी लिखी थी। आलम की कुछ रचनाएँ उर्दू भाषा में भी उपलब्ध होती हैं। इनकी कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता है प्रेम

की सच्ची अनुभूति और तत्सम्बन्धी वेदना या पीड़ा का मार्मिक वर्णन। प्रेम-पीडा की इस मार्मिक अभिव्यजना के कारण ही आलम घनानन्द तथा रसखान के समकक्ष उत्कृष्ट कवि समझे जाते हैं।

इनकी भाषा शुद्ध तथा साहित्यिक व्रजभाषा है, जिसमें माधुर्य की प्रधानता है। आलम की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

प्रेम रंग पगे जगमगे जगे जामिनि के,
जोबन की जोति जगि जोर उमगत है।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत है झुकि झुकि झँपि उघरत हैं।
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की,
पांखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
चाहत हैं उड़िबो को, देखत मयंक-मुख,
जानत हैं रैनि ताते ताहि मे रहत है॥

रातके उनींदे, अरसाते, मदमाते राते
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीव,
केते भए घायल औ केते तलफात है।
ज्यो ज्यों लै सलिल चख 'सेख', धोवै बार बार,
त्यो बल बुन्दन के बार झुकि जाति हैं।
कैवर के भाले कैधौं नाहर नहन वाले,
लोहू के प्यासे कहूँ पानी तें अघात हैं॥

घनानन्द:—की कविताओं मे अभिव्यक्त हृदय की सच्ची अनुभूति इतनी मार्मिक और सरस है कि वे इसी कारण मुक्तक काव्य के कवि के रूप में व्रजभाषा काव्य के प्रधान कवियों में गिने जाते हैं।

इनका जन्म सं० १७४६ के लगभग हुआ, और ये सं० १७९६ के लगभग वृन्दावन में नादिरशाह के सैनिकों। द्वारा मारे गये थे। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के मीरमुन्शी थे, और वहीं की एक सुजान नामक

वेश्या पर अनुरक्त थे। एक बार बादशाह से किसी ने कह दिया कि ये गाते बहुत अच्छा हैं। जब बादशाह ने इनसे गाने को कहा तो इन्होंने नहीं गाया। लोगो ने कहा कि यदि इनकी प्रेमिका कहे तो ये गायेंगे। सुजान के कहने पर इन्होंने बादशाह की ओर पीठ कर और उसकी ओर मुख कर बहुत ही सुन्दर गाया। बादशाह इनके गाने को सुन बहुत प्रसन्न हुए पर इनकी अशिष्ठता पर अप्रसन्न भी। फल स्वरूप इन्हें शहर से निकाल दिया गया। नगर छोड़ते समय इन्होंने सुजान को भी अपने साथ चलने को कहा परन्तु उसने अस्वीकार कर दिया। परिणाम स्वरूप ये विरक्त हो गए, और वृन्दावन जा निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो भगवान् के उपासक के रूप में रहने लगे। परन्तु ये सुजान को न भूल सके, यही कारण है कि इस घटना के पश्चात् की कविताओं में भी सुजान का नाम बार २ आता है। परन्तु अब वह सुजान शब्द वेश्या के लिए प्रयुक्त न हो भगवान् कृष्ण के लिए ही प्रयुक्त होने लगा।

घनानन्द ने बहुत ही सुन्दर कवित्त सवैया की रचना की है, इन फुटकल कवित्त सवैयों के अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रन्थ प्राप्य हैं—

(१) सुजान सार (२) विरह लीला (३) कोक-सार (४) रस-केलि-वल्ली और (५) कृपाकाण्ड।

घनानन्द की कविता का मुख्य विषय प्रेम है, इस प्रेम का अधिकांश वर्णन अलौकिक न हो लौकिक है, और उसमें लौकिक शृंगार की प्रधानता है। प्रेम-पीर की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति इनकी कविताओं में मिलती है। इन्होंने प्रेम के संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं का बहुत सुन्दर वर्णन किया है, परन्तु इनका वियोग वर्णन ही प्रसिद्ध है। विरह में अनुभूति की प्रधानता है, इसी कारण उसमें गम्भीरता और तड़प है। बिहारी आदि अन्य रीति-कालीन कवियों ने विरह वर्णन में अतिशयोक्ति से काम ले अपने वर्णन को अस्वाभाविक बना दिया है, परन्तु घनानन्द के विरह वर्णन में अनुभूति की तीव्रता है, और इसी कारण वह अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है।

रीति-कालीन कवियों की बाह्य तड़क-भड़क के विरुद्ध घनानन्द की

भाषा स्वाभाविक और सरल है। भाषा की प्रौढ़ता और साहित्यिकता की दृष्टि से रीति-कालीन कवियों में घनानन्द सर्व श्रेष्ठ माने जाते हैं। भाषा में नाद सौन्दर्य की बहुलता है। कविता में लक्षणा शक्ति का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया गया है। स्थानीय मुहावरों का भी बड़ा सुन्दर प्रयोग किया गया है।

हृदय की सच्ची अनुभूति और प्रेम-पीर के वर्णन के कारण घनानन्द की कविता बहुत उत्कृष्ट और सुन्दर बन पड़ी है। इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नैंकु न हारति।
साँझ तें भोर लो तारनि ताकिबो तारन सों इकतार न टारति।
जो कहूँ आवतो दीठि परै घन आनँद आँसुनि औसर गारति।
मोहन सोंहन जोहन की लगि यै रहै आँखिन के मन आरति॥

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नैंकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ चालचलैं तजि आपनपौ झुझुकै कपटी जे निसाँक नहीं।
घन आनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एकते दूसरे आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़ हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

कारी कूर कोकिल कहाँ को वैर काढ़ति री
कूकि कूकि अबहीं करे जो किन कोरि लै।
पैंड़ परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्योंही,
चातक रे घातक ह्वै तूहि कान फोरि लै।
आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो-दल जोरि लै।
जो लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे
तो लौं रे डारौ बजमारे घन घोरि लै॥

बोधा :—का वास्तविक नाम बुद्धिसेन था, और ये राजापुरा (जिला बाँदा) के निवासी थे। इनका जन्म संवत् १८०४ में हुआ था, और ये जाति से सरयूपारी ब्राह्मण थे। बोधा पन्ना नरेश के आश्रित, और उन्हीं के दरबार

की एक वेश्या सुभान पर आसक्त थे। इसी आसक्ति के कारण महाराज ने इन्हें छः मास के लिए राज्य से निर्वासित कर दिया। निर्वासन के इन दिनों में इन्होंने अपनी प्रेमिका के विरह में 'विरह-बागीश' नामक काव्य-ग्रन्थ लिखा। निर्वासन का समय समाप्त होने पर इन्होंने जब यह ग्रन्थ महाराज को सुनाया तो वह बहुत प्रसन्न हुए और बोधा ने पुरस्कार स्वरूप अपनी प्रेमिका सुभान को प्राप्त किया।

बोधा बहुत प्रेमी और रसिक जीव थे। इनकी कविताओं में 'प्रेम की पीर' की अभिव्यंजना बहुत सुन्दर हो पायी है। रीतिकालीन परम्परा में न बँधा हुआ होने के कारण इनकी कविता में स्वाभाविक प्रवाह है।

इनकी भाषा व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों से युक्त होती हुई भी साहित्यिक और प्रवाहमयी है। बोधा के 'विरह-बागीश' और 'इश्क नामा' नामक दो ग्रंथ उपलब्ध हैं।

इनकी कविता का उदाहरण उपस्थित किया जाता है—

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रुप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटिए लखि के मुसकाहट ताको।
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि बोधा जहाँ उजरा न तहाँ को।
जान मिलै तो जहान मिलै, नहिं जान मिलै तौ जहान कहाँ को॥

ठाकुर (बुन्देलखण्डी):—रीतिकालीन कवियों में सच्ची उमंग के कवियों में प्रसिद्ध थे। इनकी कविता में हृदय को स्वाभाविक सच्ची अनुभूतियों को अत्यन्त सरल बोलचाल की शब्दाडम्बर-रहित भाषा में अभिव्यक्त किया गया है। ठाकुर बहुत ही स्वाभिमानी, चतुर, साहसी और स्वच्छन्द प्रकृति के कवि थे।

ठाकुर का पूरा नाम लाला ठाकुरदास था, ये जाति के कायस्थ थे और इनका जन्म सं० १८२३ में ओरछा में हुआ। इनके पिता का नाम गुलाबराय था। ठाकुर का बहुत से राजदरबारों में सम्मान था, परन्तु ये जैतपुर नरेश राजा परीछत के आश्रय में रहते थे। इनका बादे में भी आना-जाना था, वहाँ कभी कभी हिम्मत बहादुर के दरबार में इनकी नोक-झोक पद्माकर से भी हो जाती थी।"

एक बार हिम्मत बहादुर गोसाईं ने राजा परीछत को किसी छल करने के लिए बुला भेजा, ठाकुर कवि ने एक सवैये द्वारा उन्हें सचेत कर दिया। हिम्मत बहादुर को भी पता चला, उन्होंने ठाकुर को बुला भेजा, ठाकुर निधड़क दरबार में पहुँच गए। हिम्मत बहादुर के कुछ झिड़कने पर ये तलवार निकाल बड़े दर्प से कहने लगे—

सेवक सिपाही हम उन राजपूतन के,
दान, जुद्ध जुरिवे में नेक जे न मुरके।
नीति देन वाले हैं मही महिपालन के,
हिये के विशुद्ध हैं सनेही साँचे उरके।
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानिया ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के॥

हिम्मत बहादुर इनके यह शब्द सुन बहुत प्रसन्न हुए। ठाकुर का परलोक गमन स० १८८० के लगभग हुआ।

ठाकुर प्रधान रूप से प्रेम के ही कवि हैं, और उसी का मनोरम चित्र उन्होंने अपनी कविताओ में खैचा है पर लोक जीवन के अन्य विषयो पर भी उन्होंने रचना की है, सामाजिक बुराइयों की भी इन्होंने अपनी कविता में आलोचना की है। अपनी कविता में लोकोक्तियों और कहावतो का जैसा मधुर और स्वाभाविक मिश्रण इस कवि ने किया है, वैसा अन्य किसी ने नहीं। ठाकुर की कविताएँ भावुकता और सहृदयता से परिपूर्ण हैं, और इसी कारण लोकप्रिय हैं।

इनकी कविताओं का एक संग्रह ला० भगवानदीन के सम्पादकत्व मे 'ठाकुर ठसक' नाम से प्रकाशित हुआ है।

इनकी कविता का नमूना देखिए:—

यह चारहु ओर उदौ मुख चंद की चाँदनी चारु निहारि लैरी।
बलि जौ पै अधीन भयो पिय, प्यारी! तौ ऐतो बिचार बिचारि लैरी।

कवि ठाकुर चूकि गयो जौ गोपाल तौ तैं बिगरी कौ सँभारि लैरी।
अब रैहै न रैहै यही समयो, बहती नदी पाँय पखारि लैरी॥

पाथम तें परदेस ते आय मिले पिय औ मन भाई भई है।
दादुर मोर पपीहरा बोलत, तापर आनि घटा उनई है।
ठाकुर वा सुखकारी सुहावनि दामिनी कौंधि कितै को गई है?
री अब तो घन घोर घटा गरजौ बरसौ तुम्हें धूर दई है॥

रीतिकालीन प्रबन्ध-काव्य और कवि :—रीतिकाल प्रधान रूप से मुक्तक काव्य का ही युग रहा, उसमें प्रबन्ध काव्य की विशेष उन्नति नहीं हुई, जो प्रबन्ध काव्य लिखे भी गए वे भी कवित्व की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। इस काल के प्रबन्ध काव्य स्थूल रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं—(१) प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत वे प्रबन्ध काव्य आते हैं जो कि संस्कृत के किसी नाटक, काव्य ग्रन्थ अथवा पौराणिक कथा का अनुवाद हो। ऐसे प्रबन्ध काव्यों को आचार्य शुक्ल ने कथात्मक प्रबन्ध काव्य का नाम दिया है। (२) द्वितीय श्रेणी के प्रबन्ध काव्य वीर-गाथा-काल की शैली पर लिखे गये हैं। (३) तीसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे प्रबन्ध काव्य आते हैं जो कि स्वतंत्र शैली पर लिखे गए। नीचे हम इन तीनों श्रेणियों के प्रबन्धकारों का परिचय संक्षेप से देने का प्रयत्न करेंगे।

सबलसिंह चौहान :—कथात्मक प्रबन्ध काव्य लिखने वाले कवियों में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने सम्पूर्ण महाभारत की कथा को दोहे चौपाई में अत्यन्त सीधी सादी सरल भाषा में लिखा है। यह ग्रन्थ अनुवाद मात्र है, और इसमें काव्य गुण भी नहीं हैं। सबलसिंह के अन्य ग्रन्थ हैं 'ऋतुसंहार' और 'रूप विलास'; परन्तु इनकी ख्याति का मुख्य कारण इनका लिखा हुआ महाभारत ही है।

सबलसिंह का जीवन वृत्तान्त अभी तक अज्ञात ही है। वैसे इनके कविताकाल का अनुमान स० १७१८ से १७८१ तक माना जाता है।

गोकुलदास, गोपीनाथ और मणिदेव :—इन तीनों महानुभावों ने मिलकर महाभारत तथा हरिवंश का हिन्दी में अनुवाद करने का भगीरथ

प्रयत्न किया है। महाभारत का यह बृहदाकार ग्रंथ लगभग दो हजार पृष्ठो में समाप्त होता है, परन्तु प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से सुन्दर और सफल प्रयास बन पड़ा है। विविध छन्दों में कथा को कहा गया है, परन्तु न तो छन्दों की की रेल पेल है और न ही कथा में कहीं शिथिलता आने पायी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रभाव एकसा है, भाषा भी बहुत ही व्यवस्थित और सुलझी हुई है। इस ग्रन्थ का निर्माण काशी के महाराज उदित नारायनसिंह की आज्ञा से हुआ था और इसे पूर्ण करने में लगभग ५० वर्ष लग गये थे। इतना बड़ा कथा काव्य हिन्दी में अभी तक नहीं बना।

महाभारत के तीनों अनुवादक ऊँचे पण्डित और कवि थे। तीनों ने विविध प्रकार से साहित्य सेवा की है और अनेक ग्रन्थ रचे है। नीचे हम महाभारत के कुछ पद्य उदाहरण स्वरूप रखते हैं—

दुर्ग अति ही महत रक्षित भटन सों चहुँ ओर।
ताहि घेरयो शाल्व भूपति सेन लै अति घोर॥
एक मानुष निकसिवे रही कतहुँ न राह।
परी सेना शाल्व नृप की भरी जुद्ध उछाह॥

बचन यह सुनि कहत भो चक्रांग हंस उदार।
उड़ौगे मम संग किम तुम कहहु सो उपचार।
खाय जूठो पुष्ट, गर्वित काग सुनिये बैन।
कह्यो जानत उड़न की शत रीति हम बल ऐन॥

छत्रसिंह कायस्थ :—ने 'विजय मुक्तावली' नामक एक पुस्तक लिखी है, जिसमें महाभारत की सम्पूर्ण कथा को स्वतंत्र प्रबन्ध काव्य के रूप में कथन करने का प्रयत्न किया गया है। इसमें अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है, और अलङ्कार तथा रसादि अनेक अन्य काव्य गुण भी इसमें प्राप्त हैं। 'विजय मुक्तावली' का रचनाकाल सं० १७५७ है। ये पुस्तक काफी सरस और सुन्दर बन पड़ी है।

गुमान मिश्र :—ने हर्ष विरचित 'नैषध काव्य' का अनुवाद अनेक छन्दों में किया है। अनुवाद बहुत सुन्दर नहीं बन पड़ा, छन्दों के शीघ्र परिवर्तन के कारण कथा का प्रभाव भी स्खलित हो जाता है।

गुमान मिश्र मोहवे के रहने वाले गोपालमणि के पुत्र थे, और पिहानी के राजा अकबर अलीखॉं के आश्रय में रहते थे। गुमान मिश्र ने नायिका भेद, रस अलंकार आदि अन्य विषयों पर भी रचना की है, और इनके दो अन्य ग्रन्थ—'कृष्ण चन्द्रिका' तथा 'छन्दाटवी' भी हाल में ही उपलब्ध हुए हैं। गुमान मिश्र अच्छे साहित्यिक पण्डित और कला विशेषज्ञ थे, परन्तु तत्कालीन व्रज भाषा काव्य भाषा होती हुई भी गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति में असमर्थ थी। यही कारण है कि गुमान मिश्र के अनुवाद में अस्पष्टता है।

गुरु गोविन्दसिंह :—का 'चण्डि चरित' नामक प्रबन्ध कार्य्य बहुत सुन्दर तथा ओजस्वी बन पड़ा है।

गुरु गोविन्दसिंह सिखों के अन्तिम गुरु थे, और अपनी वीरता तथा संगठन शक्ति के लिए विख्यात थे। अन्य गुरुओं की अपेक्षा ये अधिक शिक्षित और शास्त्र ज्ञान सम्पन्न थे। इनके ग्रन्थों की भाषा बहुत प्रांजल और परिमार्जित व्रज भाषा है, इनकी कविता भी काव्य गुण सम्पन्न और ओजस्वनी है। इनके लिखे हुए ग्रन्थों के नाम ये हैं—चण्डी चरित्र, सुनीति प्रकाश, प्रेम सुमार्ग, सर्वलोह प्रकाश, बुद्धिसार।

गुरु गोविन्दसिंह गुरु तेगबहादुर के पुत्र थे, और इनका जन्म सं० १७२३ में हुआ और मृत्यु १७६५ में हुई।

इनकी कविता का नमूना नीचे दिया जाता है—

निर्जन निरूप हौ, कि सुन्दर स्वरूप हो,
कि भूपन के भूप हौ, कि दानी महादान है?
प्रान के बचैया, दूध पूत के देवैया,
रोक सोक के मिटैया, किधौं मानी महामान है?
विद्या के बिचार हौ, कि अद्वैत अवतार हो,
कि सुद्धता की मूर्ति हौ, कि सिद्धता की सान हौ?
जोबन के जाल हौ, कि कालहू के काल हौ,
कि शत्रुन के साल हौ, कि मित्रन के प्रान हौ?

गोरेलाल :—सुप्रसिद्ध वीर-काव्य के रचयिता हैं, और लाल नाम से साहित्यिक जगत् में प्रसिद्ध हैं। गोरेलाल का जन्म सं० १७१५ के लगभग

माना जाता है। ये बुन्देलखण्ड के निवासी थे, और महाराज छत्रसाल के आश्रय में रहते थे। महाराज छत्रसाल की आज्ञा से ही इन्होंने महाराज का जीवन 'छत्र प्रकाश' काव्य ग्रंथ के नाम से लिखना प्रारम्भ किया। परन्तु अब 'छत्र प्रकाश' अधूरा ही उपलब्ध हुआ है। इसमें वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक कालक्रम से ठीक हैं, उनके वर्णन में अतिश्योक्ति नहीं की गयी, कहीं झूठी प्रशंसा भी नहीं। छत्रसाल के रणक्षेत्र से भागने तक का भी उल्लेख कवि ने किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का बहुत महत्त्व है।

काव्य गुणों की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत सुन्दर बन पड़ा है। कथा का प्रवाह पूर्ण है, और कहीं भी स्खलित नहीं हो पाता। मार्मिक स्थलों के चुनाव में भी कवि ने विशेष चतुरता प्रदर्शित की है। सारांश यह है कि 'छत्रसाल प्रकाश' प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से पूर्ण सफल ग्रंथ है, और लाल कवि पूर्ण सफल प्रबन्धकार कवि हैं।

'छत्रसाल प्रकाश' की भाषा ब्रज मिश्रित बुन्देलखण्डी है, सम्पूर्ण ग्रन्थ दोहा चौपाई पद्धति पर रचा गया है, कथा में वीर रस की प्रधानता है, और कथा वर्णन में प्रयुक्त भाषा ओजस्वनी है। इनकी कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

उतहि पठान चढ़ति गिर आवै। इत छत्रसाल बान बरसावै॥
इक इक बान दुहूँ भट फूटै। झुक झुक तऊ अपर रन जूटै॥
बाग वेग जगते सहंकायौ। त्यौ करवान झरप झुक झारयौ॥
घाउ ओड़ भुज ऊपर लीने। उमड़ि पाव रम सन मुख दीने॥
गिरै पटान डील त्यों भारे। गोलनि सेल्ह सरनि के मारे॥
जंघ घाउ छतारै ओढ्यो। भुज डण्डन रन-सिन्धु बिलोड़्यो॥
पिले तुरक जे बखतर वारे। ते रन गिरे छतर के मारे॥
बढ़े गिरिन सोनितके नाले। धर धमकन धरनी तल ताले।

कट्टर जूझ द्वै पहर भौ, झरयो सार सों सारू।
तेज असुन को त्यौं घट्यो, लोथन पट्यौ पहारू॥

सूदनः—मथुरा निवासी चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम बसत था; और ये भरतपुर के राजा सूरजमल या सुजानसिंह के आश्रित थे।

इन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुजान-चरित्र' में इन्हीं सुजानसिंह के चरित्र का वर्णन किया है। सुजानसिंह बहुत कुशल योद्धा और राजनीतिज्ञ थे, भरतपुर में जाट-राज्यसत्ता की स्थापना करने वालों में यह सर्व प्रसिद्ध हैं। मुगल शासन के पतन के दिनों में आगरा के आस पास ही नहीं अपितु सम्पूर्ण उत्तर भारत में जाटों का आतंक था। सूदन ने अपने प्रधान काव्य में इसी जाति के वीर नायक का गुणगान किया है।

'सुजान-चरित्र' एक बृहदाकार ग्रन्थ है, इसमें वीर रस की प्रधानता है, और सुजानसिंह के अनेक युद्धों का वर्णन किया गया है। इस काव्य की भाषा अनेक भाषाओं के मिश्रण से बनी है, पंजाबी, खड़ी बोली, ब्रज इत्यादि सबके रूप समान रूप से प्राप्त हो जाते हैं। अनेक नये शब्द भी गढ़े गए हैं। वस्तु वर्णन के अत्याधिक विस्तार के कारण कथा भी अरोचक तथा नीरस हो गयी है। इसी कारण साहित्यिक दृष्टि से इसका महत्व बहुत घट जाता है।

ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम पूर्वक विवेचन के कारण इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व बहुत है।

सूदन का कविता काल स० १८१० के आस पास माना जाता है।

जोधराज:—ने सम्राट पृथ्वीराज के वंशज इतिहास प्रसिद्ध हम्मीर देव के चरित्र का वर्णन प्रबन्ध काव्य के रूप में 'हम्मीर रासो' में किया है। यह प्रबन्ध काव्य वीरगाथा-कालीन छप्पय पद्धति पर लिखा गया है। कविता बहुत ओजस्वनी है, घटनाओं का वर्णन ठीक है, कहीं २ कथा में नवीन कल्पनाएँ भी की गयीं हैं। इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से इसका अधिक महत्व नहीं, परन्तु काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत सरस और सुन्दर बन पड़ा है, श्रृंगार और वीर रस का बहुत सुन्दर परिपाक हुआ है। इनकी कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

> जीवन मरन सँजोग जग कौन मिटावै ताहि।
> जो जनमै संसार में अमर रहै नहिं आहि।
> कहाँ जैत कहँ सूर, कहाँ सोमेश्वर राणा।
> कहाँ प्रथिराज साह दल जीति न आणा॥

होतव मिटै न जगत में कीजे चिन्ता कोहि।
आसा कहै हमीर सों अब चूकौ मत सोहि॥

इनके अतिरिक्त 'हम्मीर हठ' के लेखक चन्द्रशेखर, 'ब्रजविलास' के लेखक ब्रजवासीदास 'रामाश्वमेध' नामक प्रबन्ध काव्य के लेखक मधुसूदन आदि प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्य के कवि भी इसी काल में हुए हैं। सरयूराम पण्डित ने तथा हरनारायण ने भी क्रमशः जैमिनि पुराण तथा माधवानल कामकन्दला और वैताल पच्चीसी भी इन्हीं दिनों लिखी हैं।

रीतिकालके सूक्तिकार कवि—रीतिकाल में बहुत से कवियों ने केवल सूक्तियाँ और सुभाषित ही लिखे हैं, नीचे इन्हीं कवियों का संक्षिप्त परिचय देंगे। इन सूक्तियों में अधिकतर मानव जीवन में प्राप्त अनुभवों का वर्णन है, और कुछ सूक्तियाँ उपदेश-प्रद भी हैं। कुछ लेखकों ने इसी काल में उपदेश-पूर्ण कुण्डलियों की रचना भी की है। ये कुण्डलियाँ बहुत लोक-प्रिय हैं परन्तु इनका साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं।

वृन्द:—सूक्तिकारों में बहुत प्रसिद्ध हैं। ये औरंगज़ेब के दरबार से सम्बन्धित बतलाये जाते हैं, और उसी की फौज में बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा तक गए। ये मेड़ता (जोधपुर) के निवासी थे। इनके सात सौ दोहों का संग्रह वृन्द सतसई के नाम से प्रसिद्ध है इसमें से कुछ दोहे उदाहरण स्वरूप दिए जाते हैं—

जो जाको गुन जानही, सो तिहिं आदर देत।
कोकिल अंबहि लेत है, काग निबौरी लेत॥
नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस शृंगार न सुहात॥
हित हू की कहिए न तेहि जो नर होय अबोध।
ज्यों नकटे को आरसी होत दिखाए क्रोध॥

गिरधर कविराज:—के जीवन वृत्तान्त के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं। 'शिवसिंह सरोज' में इनका जन्म सं० १७७० बतलाया गया है। इनकी कुण्डलियाँ बहुत सीधी सादी भाषा में लिखी गयी हैं, और इसी

कारण ये अत्याधिक लोकप्रिय भी हैं। साहित्यिक दृष्टि से इनकी रचनाओं का विशेष मूल्य नहीं। इनकी कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

साईं अवसर के पड़े, को न सहै दुःख द्वन्द।
जाय बिकाये डोम घर, वै राजा हरिचन्द॥
वै राजाहरिचन्द, करै मरघट रखवारी।
धरे तपस्वी वेष, फिरै अर्जुन बलधारी॥
कह गिरधर कविराय, तपै वह भीम रसोई।
को न करे घटि काम, परे अवसर को साईं॥

बाबा दीनदयालगिरिः—की सरस, सुन्दर और भावपूर्ण अन्योक्तियाँ हिन्दी संसार में बहुत प्रसिद्ध हैं। ये बहुत ही रसिक, भावुक और सहृदय कवि थे। इनका जन्म सं० १८५६ में हुआ था, और ५ वर्ष की अवस्था में ही ये साधु-संतों की संगति में आ गये। मठों में रहने के कारण इन्हें शास्त्रीय अध्ययन का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ, और इन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में विशेष कुशलता प्राप्त की। जीवन तथा ग्रन्थों का विषद अध्ययन इनकी अन्योक्तियो से स्पष्ट झलकता है। प्रायः संस्कृत ग्रन्थों के भावो को ही ग्रहण किया गया है, परन्तु बाबाजी की स्वतंत्र उद्‌भावनाओं की भी कम नहीं है। इनकी कविता में कलापक्ष का भी पर्याप्त ध्यान रखा गया है, इसी कारण ये भावुक कलाकार कहलाते हैं। शब्दों द्वारा चमत्कार प्रदर्शन में भी इन्होंने अपनी कुशलता प्रदर्शित की है। बाबाजी का स्वर्गवास सं० १९१५ में हुआ।

इनके रचित ग्रन्थों के नाम ये हैं—(१) अन्योक्ति-कल्पद्रुम (२) अनुराग बाग (३) वैराग्य-दिनेश (४) विश्वनाथ-नवरत्न, और (५) दृष्टान्त तरंगिणी। इनकी भाषा बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है, कहीं कहीं पूरबीपन झलकता है। इनकी कविता का उदाहरण नीचे दिए जाता है—

कोमल मनोहर मधुर सुरताल सने,
नूपुर निनादनि सों कौन दिन बोलि हैं।
नीके मम ही के बुँद-वृन्दन सुमोतिन को,
गहि कै कृपा की अब चोंचन सों तोलि हैं।

नेम धरि छेम सो प्रमुद होय दीनयाल,
प्रेम-कोकनद बीच कब धौं कलोलि हैं।
चरन निहारे जदु वंश-राजहंस! कब,
मेरे मन-मानस में मंद मंद डोलि हैं॥

चरन-कमल राजें, मंजु मंजीर बाजै।
गमन लखि लजावें हँसऊ नाहिं पावें॥
सुखद कदम-छाहीं क्रीड़ते कुंज माहीं।
लखि लखि हरि सोभा चित्त काको न लोभा?

इनके अतिरिक्त बेताल, घाघ तथा भड्डरी आदि अनेक सूक्तिकार कवि इस काल में हुए, परन्तु स्थानाभाव से यहाँ न तो उनका परिचय ही दिया जा सकता है और न उनकी कविता के उदाहरण ही, किन्तु बैताल आदि सूक्तिकारों की रचनाएँ इनसे श्रेष्ठ नहीं।

रीतिकालीन भक्ति साहित्य

रीतिकाल में भक्ति साहित्य की सृष्टि बराबर होती रही, परन्तु न तो भक्तिकाल के साहित्य की सी प्रतिभा ही दृष्टिगोचर होती है, और न मौलिकता और अनुभूति ही। संस्कृत काव्य शास्त्र का आश्रय ले मौलिकता की इस कमी को पूर्ण करने का प्रयत्न किया गया। राम तथा कृष्ण सम्बन्धी साहित्य आध्यात्म रामायण तथा महाभारत आदि के अनुवाद पर ही लेखकों की अधिक रुचि रही। इस काल के लेखकों ने अधिकतर पद्म पुराण, भगवद्गीता, श्री मद्भागवत तथा आध्यात्म रामायण का प्रश्रय ले अपनी रचनाएँ रचीं। साम्प्रदायिकता के कारण प्रायः सभी लेखकों के दृष्टिकोण संकुचित और साम्प्रादायिक हैं, और इसी कारण मौलिकता का अभाव रहा।

राम तथा कृष्ण विषयक लिखे गए प्रबन्ध काव्यों का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। यहाँ हम राम तथा कृष्ण काव्य के कुछ अन्य कवियों का परिचय देंगे।

नागरीदास:—का जन्म संवत् १७५६ में हुआ था, इनका वास्तविक नाम सावतसिंह था, और ये कृष्णगढ़ के राजा थे। ये बहुत वीर और साहसी

थे। परन्तु राज्यसिंहासन के लिए उत्पन्न गृहकलह से विरक्त हो इन्होंने संसार त्याग दिया और वृन्दावन आ भगवान् की आराधना में ही जीवन बिताने लगे। अपनी भक्ति भावना के कारण ये वृन्दावन में बहुत पूज्य भाव से देखे जाते थे। नागरीदास ने कृष्ण साहित्य की बहुत अभिवृद्धि की है। कृष्ण साहित्य सम्बन्धी इनकी लिखी पुस्तकों की सख्या ७३ के लगभग बतलायी जाती है, परन्तु इनमें से अधिकांश पुस्तकें तो केवल ५ या ७ पद्यों का संग्रह मात्र ही हैं, नागरीदास का वर्ण्यविषय पुराना ही है, इसमें इन्होंने कोई नवीन उद्‌भावना नही की। किन्तु कहीं कहीं वर्णन शैली तथा भावों की नवीनता दृष्टिगोचर हो जाती है, अन्यथा पिष्टपेषण मात्र ही है। इनकी कविता पर फारसी के इश्किया काव्य का भी प्रभाव लक्षित हो जाता है। नागरीदास का कविताकाल संवत् १७८० से १८१६ तक माना जाता है। इनकी रचना का नमूना देखिए :—

भादौं की कारी अँधियारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावै।
स्याम जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रस-रीति मलारहि गावै॥
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूँघट टारै, दया करि दामिनि दीप दिखावै॥

चरन छिदत काँटेनि तें स्रवत रुधिर सुधि नाहिं।
पूछति हौ फिरि हौ भटू खग मृग तरु बन माहिं॥
कबै झुकत मो ओर को ऐ है मदगज-चाल।
गरबाहीं दीने दोऊ प्रिया नवल नँद लाल॥

बख्शी हंसराज :—का जन्म संवत् १७६६ में पन्ना में हुआ था। इनके पिता पन्ना राज्य के मंत्री थे, और हंसराज पन्ना नरेश के प्रमुख दरबारियों में से थे। बख्शीजी प्रेमसखी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण सखीभाव के उपासक थे। यही कारण है कि इनकी कविताओं में माधुर्य भाव की प्रधानता है। इन्होंने कृष्ण साहित्य की अभिवृद्धि में प्रचुर सहयोग प्रदान किया है। इनकी कविता अत्यन्त माधुर्यपूर्ण भाव से पूर्ण है, कहीं कहीं कल्पना की उड़ान बहुत ही स्वाभाविक और सुन्दर बन पड़ी है। इनकी

भाषा अत्यन्त परिमार्जित और व्यवस्थित है, इसमें माधुर्य तथा प्रसाद गुण की प्रधानता है। इनके बनाए हुए चार ग्रंथों के नाम यह हैं (१) सनेह-सागर (२) विरह विलास (३) राय चन्द्रिका (४) बारहमासा। इनका मुख्य ग्रंथ 'सनेह-सागर' है जो कि सचमुच ही स्नेह सागर है। भाषा तथा भाव दोनों की दृष्टि से ही यह ग्रंथ उत्कृष्ट बन पड़ा है। नीचे इनकी कविता का उदाहरण दिया जाता है—

दमकति दिपति देह दामिनि सी चमकत चंचल नैना।
घूँघट बिच खेलत खंजन से उड़ि उड़ि दीठि लगै ना॥
लटकति ललित पीठ पर चोटी बिच बिच सुमन सँवारी।
देखे ताहि मैर सो आवत, मनहुँ भुजंगिनि कारी॥

कोऊ कहूँ आय बन-बीथिन या लीला लखि जैहै।
कहि कहि कुटिल कठिन कुटिलन सों सिगरे ब्रज बगरैहै॥
जो तुम्हरी इनकी ये बातें सुनिहै कीरति रानी।
तो कैसे पटिहै पाटेते, घटिहै कुल को पानी॥

महाराज विश्वनाथसिंह :—ने राम-साहित्य की सर्जना में विशेष सहयोग दिया। ये बहुत ही रसिक और सहृदय नरेश थे। अपने समय में अपने राज्य रीवा में इन्होंने विद्या-प्रचार में विशेष सहयोग दिया, और अनेक विद्वान् तथा विद्या-व्यसनी पुरुषों को अपने आश्रय में ले उनकी आर्थिक बाधाओं को दूर किया। महाराज विश्वनाथसिंह जहाँ ऊँचे भक्त थे, वहाँ बड़े अच्छे काव्य-मर्मज्ञ भी थे। इन्होंने अनेक ग्रंथ रचे हैं, परन्तु इनमें आनन्द रघुनन्दन नाटक, गीता रघुनन्दन शतिका, रामायण, गीता रघुनन्दन प्रामाणिक, विनय पत्रिका की टीका, रामचन्द्रजी की सवारी, आनन्द रामायण तथा संगीत रघुनन्दन प्रमुख हैं। आनन्द रघुनन्दन नामक नाटक लिखने के कारण ये हिन्दी के सर्व प्रथम नाटककार कहलाते हैं। इनकी भाषा शुद्ध और सुसंस्कृत थी। इनकी कविता का नमूना देखिए—

उठौ कुँवर दोऊ प्रान पियारे।
हिमरितु प्रात पाय सब मिटिगे नभसर पसरे पुहकर तारे॥

जग वन महँ निकस्यो हरषित हिय विचरन हेत दिवस मनियारो।
विश्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहु दिसिन उजियारो॥

इनके अतिरिक्त अलबेलि अलि, चाचाहित, वृन्दावनदास, भगवतरसिक ब्रजवासीदास आदि ने भी कृष्ण काव्य पर-रचना की है। हम-पीछे लिख चुके हैं गोकुलदास, गोपीनाथ और मणि देव ने समग्र महाभारत की कथा को पद्यों में भी इसी काल में ही लिखा है।

जनक राजकिशोरी शरण, भगवन्तराय खीची, मधुसूदनदास तथा गोकुल नाथ इत्यादि कवियों ने राम-काव्य की अभिवृद्धि में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है।

रीतिकालीन सन्त साहित्य

रीतिकाल में भी सन्त साहित्य की अभिवृद्धि बराबर होती रही, परन्तु अब तक सन्त-साहित्य की धारा काफी शिथिल हो चुकी थी, उसमें पहले का सा न तो बल ही रहा और न उत्साह ही। अधिकाश सन्त मतों में मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद की भावनाएँ प्रविष्ट हो गई, और वे उन्हीं बातों को अपनाने लगे जिनका कि वे विरोध करते थे। अनेक कवि सन्त मत से सम्बन्धित होते हुए भी राम या कृष्ण के भक्त भी बन गए। दूसरा कबीर के बाद के सन्त साहित्य या सूफी मत के सिद्धान्तों का प्रभाव व्यापक हो गया: और उसमें सूफीमत के अनेक सिद्धान्त उपलब्ध हैं। तीसरा सन्त साहित्य की भाषा अब व्यवस्थित और परिमार्जित हो चुकी थी। पुराने समय की सधुक्कड़ी भाषा का स्थान अब साहित्यिक ब्रजभाषा ने ले लिया था। सन्त-साहित्य की मूल भूत प्रेरणाएँ धीरे धीरे विलुप्त हो रही थी।

नीचे हम रीतिकालीन सन्तों का और उनके साहित्य का संक्षिप्त परिचय देंगे।

अक्षर अनन्य:—का जन्म संवत् निश्चित रूप से ज्ञात नहीं। ये दतिया रियासत के निवासी थे, और कुछ लोगों के मतानुसार ये कुछ काल दतिया में दीवान पद पर भी कार्य करते रहे हैं। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ बतलाए जाते है—(१) राजयोग, (२) विज्ञानयोग, (३) ध्यानयोग

(४) सिद्धान्त बोध, (५) विवेक दीपिका, (६) ब्रह्मज्ञान और (७) अनन्य प्रकाश।

अक्षर अनन्य ने अपनी रचनाओं में भक्ति तथा ज्ञानयोग की अपेक्षा राजयोग को अधिक महत्व दिया है।

रज्जब:—इन्होंने दादूपंथ के सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए कुछ छप्पय छन्द लिखे हैं, जो कि एक ग्रंथ के रूप उपलब्ध होते हैं।

धरनीदास:—की कविताओं में आध्यात्मिक विरह का वर्णन विशेष रूप से उपलब्ध होता है। इनके लिखे हुए ग्रन्थ 'प्रेम प्रकाश' तथा 'सत्य प्रकाश' प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता अधिकतर पद तथा कवित्त सवैयों में कही गई है। धरनीदास की रचनाएँ फारसी में भी उपलब्ध है और इन्होंने दोहों में बारहमासा भी लिखा था।

चरनदास:—ने अधिकतर योग, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य पर ही लिखा है। कहीं कहीं खण्डन-मण्डन के पद्य भी उपलब्ध हो जाते हैं। इनके चार ग्रन्थ बतलाए जाते हैं, उनके नाम ये हैं—अमरलोक, अखंडधाम, भक्तिपदारथ, ज्ञानसरोदय। बहुत से फुटकल पद भी उपलब्ध हैं।

दयाबाई-सहजोबाई—दोनों स्वामी चरनदास की शिष्या थीं, और ब्रजभाषा में बहुत सुन्दर रचना करती थीं। इनके काव्य में प्रेम तथा भक्ति सम्बन्धी अनुभूतियाँ बड़ी मार्मिक बन पड़ी। दोनों ने गुरुके प्रति अपनी भक्ति को भी अत्यन्त सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है। दयाबाई का ग्रन्थ 'दयाबोध' है।

बुल्लासाहब:—सूफी परम्परा से सम्बन्धित थे, परन्तु इनकी विचार-धारा निर्गुण सन्तों से अधिक प्रभावित है। इन्होंने हठयोग की प्रशंसा की है और इसे ध्यानोपयोगी बताया है। अपने सम्प्रदाय से सम्बन्धित सम्पूर्ण विषयों पर इन्होंने लिखा है। इनकी भाषा पर पूर्वीपन का प्रभाव अधिक है।

गरीबदास:—कबीर पथ के अनुयायी थे, इसी कारण इनकी सम्पूर्ण कविता पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इनके लगभग चार हज़ार पद उपलब्ध होते हैं।

पलटूदासः—निर्गुण सन्तमत के अन्तर्गत गृहीत किए गए हैं परन्तु इन्होंने सूफी मत की बहुत सी बातों का वर्णन किया है, इस कारण कुछ लोग इन्हें सूफी मत के अन्तर्गत भी ग्रहण करते हैं। इनके केवल फुटकल पद प्राप्त हैं।

गुलालः—भी सूफी परम्परा से सम्बन्धित बतलाए जाते हैं, परन्तु इन पर कबीर का प्रभाव काफी था। इन्होंने अपनी कविता में आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक शृंगार का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। इनकी भाषा पर पूर्वीपन का प्रभाव अधिक है और इन्होंने बारहमासा, हिंडोला, रेखता मंगल आदि विषयों पर लिखा है।

इनके अतिरिक्त बालकृष्ण नायक, जगजीवनदास, दूलनदास, तुलसीदास तथा रामचरण आदि ने भी सन्त–साहित्य की सर्जना की है। रीतिकालीन विभिन्न प्रवृत्तियों के परिचय के अनन्तर इस प्रकरण को यहीं समाप्त किया जाता है।

आधुनिक काल

संवत् १९००—

सम्वत् १९०० से वर्तमान काल का प्रारम्भ माना जाता है। अभी इस युग का प्रारम्भिक काल ही चल रहा है। इस काल में हिन्दी साहित्य इतना अधिक उन्नत तथा विकसित हुआ है कि उसके विकास के इतिहास को एक संक्षिप्त अध्याय में बाँध देना अत्यन्त कठिन है। वास्तविकता तो यह है कि वर्तमान युग के हिन्दी साहित्य के प्रत्येक अंग पर पृथक पृथक विवेचना होनी चाहिए और प्रत्येक अग के क्रमकि विकास को प्रस्तुत करना चाहिए।

विगत शताब्दी में हिन्दी साहित्य में विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास हुआ और विभिन्न आदर्शों तथा विचारधाराओं को अपनाया गया। इस काल में हिन्दी प्रदेश में विभिन्न धार्मिक आन्दोलन हुए, राजनैतिक परिस्थितियां में परिवर्तन हुए, और सामाजिक और धार्मिक भाव धाराएँ भी बदलीं। इन सबका हिन्दी साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा। नीचे हम आधुनिक युग की राजनैतिक,

सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों की विवेचना करेंगे।

राजनैतिक स्थिति

रीतिकालीन राजनैतिक स्थिति का विवेचन करते हुए हम बतला चुके हैं कि किस प्रकार सम्पूर्ण देश की राजनैतिक सत्ता देशी नरेशों के हाथ से निकल अँग्रेजों के हाथों में आ गयी। रीतिकाल के समाप्त होने से पूर्व ही सम्पूर्ण देश पर अँग्रेजों का एक छत्र आधिपत्य हो चुका था, परन्तु देश ने अभी पूर्ण रूप से विदेशी शासन को स्वीकार नहीं किया था, जनता में असन्तोष तथा क्षोभकी अग्नि भड़क रही थी, वे बृटिश दासत्व को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं थी। फलस्वरूप संवत् १६१४ (सन् १८५७) में भयंकर राज्य क्रान्ति हुई। जनता ने विदेशी शासन को समाप्त करने का सर्व प्रथम प्रयत्न किया। इस राज्य क्रान्ति का हिन्दी प्रदेश से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध था। मेरठ, दिल्ली, आगरा, लखनऊ तथा कानपुर आदि स्थान इस क्रान्ति के मुख्य केन्द्र थे। इसका नेतृत्व पदच्युत राजाओं, नवाबों और सामन्तों के हाथ में था, परन्तु संगठन के अभाव के कारण और शक्ति के विकेन्द्रीकरण के कारण ये क्रान्ति सफल न हो सकी। बृटिश शासकों ने गुरखों तथा सिखों के सहायता से इस क्रान्ति को क्रूरता पूर्वक कुचल डाला, परन्तु इसके फलस्वरूप भारत के शासन में एक विशेष परिवर्तन हो गया, भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकल सम्राट के अन्तर्गत बृटिश मंत्रि मण्डल के हाथ में चला गया। सम्पूर्ण देश को एक ही प्रकार की शासन व्यवस्था के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया गया। दक्षिण तथा उत्तर भारत का भेद मिट गया। देशी रियासतें भी प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप से बृटिश शासन की अधीनता में आ चुकी थीं।

संवत् १६१४ (सन् १८५७) के पश्चात् भारत के राजनैतिक क्षेत्र में सुधारवादी भावनाओं का प्राबल्य हो जाता है। राजनैतिक अधिकार प्राप्ति की भावना कुछ काल के लिए दब जाती है। इधर साम्राज्ञी विक्टोरिया ने नौकरियों में जाति भेद उठा देने और धार्मिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करने की घोषणा कर एक नवीन नीति का सूत्रपात किया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन के साथ देश में अंग्रेजी विचार पद्धति का प्रसार हुआ। जॉन

स्टुअर्ट मिल आदि लेखकों के साहित्य के प्रचार के साथ देश में राजनैतिक अधिकार प्राप्ति की भावनाएँ पुनः जाग्रत हो गयीं। सन् १८७८ में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) की स्थापना हुई। भारतियों को अपनी माँगों को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करने का एक साधन उपलब्ध हो गया। काँग्रेस के प्रारम्भिक जीवन में नरम दल की प्रधानता रही, अतः देशका राजनैतिक आन्दोलन उग्र रूप धारण न कर सका। इधर लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो टुकड़ों में विभाजित करने की योजना प्रस्तुत की; परिणाम स्वरूप बंग भंग आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, जिसने देश मे नवीन राजनैतिक चेतना उत्पन्न करदी। तिलक जैसे देश-भक्तों के राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण के साथ देश में स्वाधीनता आन्दोलन को विशेष बल मिला। इधर इसी समय एशिया के इतिहास में एक रोमांच-कारी घटना घटित हुई, जिसने कि सम्पूर्ण एशिया में जागरण की लहर को उत्पन्न कर दिया। सन् १९०५ में रूस जैसे विशाल राष्ट्र को जापान जैसे छोटे से राष्ट्र ने पराजित कर यूरोपीय शक्तियों की अजेयता की पोल खोल दी। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् भारत के राजनैतिक रंगमंच पर महात्मा गांधी का अवतार हुआ, और उन्होंने अपनी अलौकिक आत्मिक शक्ति से सम्पूर्ण देश में स्वाधीनता प्राप्ति के लिए एक विशेष उत्साह तथा तड़प को उत्पन्न कर दिया। भारत की पीड़ित तथा शोषित जनता में एक बार फिर अजेय आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हो गयी; और उसने महात्मा गान्धी के असहयोग आन्दोलनों में सहयोग दे, अनेक बार बृटिश सरकार से टक्कर ली।

इसी दौरान में बृटिश सरकार ने देश की वास्तविक सत्ता को अपने हाथ में रखते हुए, अनेक वैधानिक तथा शासन सम्बन्धी सुधार कर देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए चल रहे इन उग्र आन्दोलनों को शान्त करने के प्रयत्न किए।

द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व भारत में राजनैतिक जाग्रति बहुत बढ़ चुकी थी। बृटिश सरकार ने भी इस स्वाधीनता आन्दोलन को विभिन्न प्रकार से कुचलने का प्रयत्न किया, किन्तु देश की जनता बृटिश

दासत्व को समाप्त करने का फैसला एकमत से स्वीकार कर चुकी थी। फलस्वरूप सन् १९४२ में महात्मा गान्धी के नेतृत्व में एक विशाल जन-क्रान्ति का आयोजन किया गया। इधर सुभाष बोस ने विदेश में सैन्य-संगठन कर भारत की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किया। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ती के अनन्तर अंग्रेजों को आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितियों से विवश हो किस प्रकार भारत छोड़ना पड़ा और किस प्रकार भारत के विभाजन के फल स्वरूप भीषण रक्तपात हुआ, यह सर्व विदित है; इसको यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार सं १९०० में भारत पराधीन था, परन्तु सम्वत् २००७ के पुण्य प्रभात में भारत पूर्ण स्वाधीन गण तंत्र बन चुका है।

सामाजिक स्थिति

वर्तमान युग के प्रारम्भ में हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था अत्यन्त जटिल और अव्यवस्थित हो चुकी थी। बिरादरी की व्यवस्था बहुत पेचीदा रूप धारण कर चुकी थी। समाज में अनेक अन्ध-विश्वास, कुरीतियाँ तथा कुप्रथाएँ प्रचलित थीं। ब्राह्मणों के हाथ में सामाजिक नेतृत्व था, जो कि प्रायः कूपमंडूक और प्राचीन परिपाटियों से बुरी तरह चिपटे रहनेवाले थे। बालविवाह, विधवाविवाह-निषेध, कन्या-वध आदि अनेक निन्दनीय तथा घृणित कुप्रथाएँ प्रचलित थीं। समुद्र यात्रा का निषेध किया गया था, और जो समुद्रयात्रा करता उसका सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता।

हिन्दुओं का कौटुम्बिक जीवन भी इन अपरिवर्तनवादी ब्राह्मणों के हाथ में था। वे अपने स्वार्थों के निमित्त सामाजिक व्यवस्था को अपरिवर्तन-शील बना देना चाहते थे।

परन्तु परिवर्तन का क्रम इन घुन लगी सामाजिक व्यवस्थाओं को समाप्त करही दम लेना चाहता है। इस युग के प्रारम्भ में बंगाल में राजा राममोहन राय ने इन सामाजिक रूढ़ियों का तीव्र विरोध किया, और उदार भावनाओं को प्रश्रय देते हुए अंग्रेजी शिक्षा को अपनाने पर बल दिया। बंगाल में सामाजिक सुधार के क्षेत्र में राजा राममोहनराय का कार्य निश्चय ही

प्रशंसनीय है। इधर उत्तर भारत में स्वामी दयानंद ने इन घृणित सामाजिक व्यवस्थाओं और अन्ध-विश्वासों पर कुठाराघात किया तथा समाज में एक नवीन जागृति और राष्ट्रभक्ति की भावना को उत्पन्न किया। पंडितों, महन्तो और गुरुओं द्वारा फैलाए अन्धकार को दूर कर जनता को वेद तथा उपनिषद् का अमर सन्देश दिया। समाज के शिक्षित वर्ग में फैली अपनी संस्कृति सम्बन्धी हीनता की भावना (Inferiority complex) को उन्होंने दूर किया और प्राचीन भारत की संस्कृति की भावना को अपने दृष्टिकोण के अनुसार सिद्ध किया। स्वामी दयानन्द ने संस्कृत साहित्य के अनुशीलन पर विशेष बल दिया। विधवाविवाह, स्त्री शिक्षा तथा अछूतोद्धार आदि अनेक सामाजिक सुधारों का उन्होंने श्रीगणेश किया। अपने उच्चव्यक्तित्व के कारण उन्हें समाज को प्रभावित करने में काफी सफलता प्राप्त हुई। भारत में राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण में तथा शिक्षा के प्रचार में स्वामीदयानंद और उन द्वारा स्थापित आर्य समाज का पर्याप्त भाग है।

वर्तमान समय में सामाजिक व्यवस्था पर अंग्रेजी शिक्षा और विचार पद्धति का बहुत प्रभाव पड़ रहा है। इस समय सर्वत्र परिवर्तन की भावना ओत-प्रोत है। समाज सुधार के क्षेत्र में इस समय दो वर्ग बन चुके हैं, एक वर्ग तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन चाहता है, परन्तु दूसरा वर्ग समाज में सुधार का पक्षपाती है। सामाजिक स्थिति का निकट भविष्य में व्यवस्थित रूप क्या होगा यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ के साथ ही साथ देश की अवस्था दिन प्रतिदिन बिगड़ने लगी। हिन्दी प्रदेश, जो कि बृटिश राज्य से पूर्व समृद्ध और धन धान्य पूर्ण था, अब आर्थिक दृष्टि से बर्बाद हो गया। सम्पूर्ण उद्योग धन्धे कल कारखानों द्वारा तैयार अंग्रेजी मालकी बहुतायत के कारण नष्ट हो गए। अंग्रेजी साम्राज्यवादी आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप भारत का औद्योगिक दृष्टि से विकास न हो सका। अंग्रेजों ने भारत को अपने माल के खपाने के लिए मण्डी के रूप में प्रयुक्त किया। फलस्वरूप भारतवर्ष की जन संख्या का अधिकांश भाग कृषि पर ही अवलम्बित हो गया।

इस प्रकार इतिहास में पहली बार भारत आर्थिक दृष्टि से परमुखापेक्षी हुआ।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन के साथ प्राचीन शिक्षा संस्थाएँ बेकार हो गयीं, विज्ञान इत्यादि विषयों का अध्ययन तो अवश्य बढ़ा, किन्तु भारत की प्राचीन संस्कृति सर्वथा उपेक्षित रही। संस्कृत के अध्ययन को कोई प्रोत्साहन प्राप्त न हुआ। राज्य की भाषा अंग्रेजी बन गयी, और उर्दू को अदालत में स्थान मिला, परन्तु हिन्दी की सर्वथा उपेक्षा की गयी। देश में अनेक विश्वविद्यालय स्थापित किए गये और उनमें शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही स्वीकृत की गयी। कहीं कहीं देश भाषाओं की शिक्षा को भी प्रोत्साहित किया गया। देश के साहित्य और विचार-पद्धति पर अंग्रेजी शिक्षा और उसके द्वारा पाश्चात्य चिंतन विधि का विशेष प्रभाव पड़ा।

सांस्कृतिक स्थिति

अंग्रेजी राज्य के स्थापन के फलस्वरूप भारत में गतिशीलता, नवोल्लास और नवजीवन से पूर्ण पाश्चात्य संस्कृति का प्रवेश हुआ। उसमें नवशक्ति और नवीन उत्साह था। भारतीय संस्कृति शताब्दियों की पराधीनता के फलस्वरूप शिथिल हो चुकी थी। इस गतिशील पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप और प्राचीन भारत की संस्कृति में की गयी खोज के कारण भारतीय साहित्य, संस्कृति और सभ्यता में नवयुग उपस्थित हो गया, और अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रारम्भ हुए। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि भारतीय संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति सर्वथा दो विभिन्न और स्वतन्त्र संस्कृतियाँ हैं, और इसी कारण इनका पारस्परिक समन्वयात्मक सम्बन्ध बहुत शीघ्र स्थापित न हो सका। वैसे यूरोपीय संस्कृति का भारतीय संस्कृत पर प्रभाव झकझोर देने वाला सिद्ध हुआ। इसका परिणाम सांस्कृतिक दृष्टि से शुभ न रहा। पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना शासक तथा शासित मनोवृत्ति के कारण फल फूल न सकी।

नवयुग में भारतीय संस्कृति विकास पर अग्रसर है।

धार्मिक स्थिति

आधुनिक युग में भारत की धार्मिक स्थिति बहुत विचित्र है। धार्मिक

क्षेत्र में कोई भी नवीन प्रभावोत्पादक आन्दोलन नहीं हुआ। जनता में मिथ्याचार, वाह्याडम्बर, और धार्मिक कर्मकाण्ड पर अधिक विश्वास है, रूढ़ि-प्रिय ब्राह्मण वर्ग धर्म का नेतृत्व कर रहा है। वर्तमान समय का हिन्दु धर्म बौद्ध तथा जैन धर्म और भक्ति कालीन पौराणिक मत तथा इसलाम से प्रभावित है। साधारणतयः शैव, वैष्णव तथा अनेक प्रकार के अन्य सम्प्रदाय प्रचलित हैं, पुनर्जन्म तथा गीता में प्रतिपादित कर्मवाद के सिद्धान्तों पर विश्वास किया जाता है। अवतारवाद, मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, बहुदेव वेद, भाग्यवाद, आदि पर जनता विश्वास करती है, और किसी न किसी रूप मे उन्हें स्वीकार करती है। साधारण हिन्दु जनता अपने धार्मिक जीवन का मूल वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, ग्रन्थ आदि में मानती है, परन्तु उनसे वह सर्वथा अनभिज्ञ है। इधर धार्मिक शिथिलता और अव्यवस्था की भावना का विस्तार होता जा रहा है। जनता में आस्तिक विचारो में धीरे धीरे कमी हो रही है।

हिन्दी प्रदेश का धार्मिक जीवन किसी भी आदर्श से प्रेरित नहीं हो रहा। हाँ, आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन का प्रभाव समाज के उच्च वर्ग पर अवश्य पड़ा है, परन्तु साधरणजन उसके प्रभाव से सर्वथा अछूते ही रहे हैं। भक्ति कालीन आन्दोलन की सी व्यापकता उसमें नहीं आ सकी, फिर भी समाज के उच्चवर्ग में शिक्षा के प्रचार द्वारा आर्यसमाज ने जनता में प्राचीन वैदिक धर्म और उपनिषदों के सिद्धान्तों के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी। आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य वैदिक युग की पुनर्स्थापना है। सामाजिक क्षेत्र में इस आन्दोलन के व्यापक प्रभाव को हम प्रदर्शित कर चुके हैं।

हिन्दी प्रदेश में आर्यसमाज के अतिरिक्त राधास्वामी सम्प्रदाय का भी विशेष प्रचार है, इस सम्प्रदाय में प्राचीन सन्त मत की सम्पूर्ण मान्यताएँ गृहीत है, और इस लौकिक अभ्युदय पर विशेष बल दिया जाता है।

इनके अतिरिक्त भारत में कुछ अन्य सुधारवादी आन्दोलन भी हुए, जिनमें बंगाल का ब्रह्मसमाज और मद्रास का थियोसोफिकल सोसाइटी विशेष प्रभावोत्पादक हुए।

वर्तमान समय में कुछ विशिष्ट राजनैतिक कारणों से हिन्दु धर्म को एक सुसंगठित साम्प्रदायवाद के रूप मे सगठित करने का प्रयत्न किया जा रहा है,

परन्तु इस आन्दोलन में आक्रमक प्रवृत्ति और अप्रगतिशील भावनाओं की प्रधानता है।

हिन्दी काव्य

अब हम पुनः अपने प्रतिपाद्य विषय की ओर लौटते हैं। ऊपर हमने दिखा दिया है कि वर्तमान युग के प्रारम्भ से अबतक देश किन राजनैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों मे से गुजरा, अब हम इन परिस्थितियो ने हिन्दी साहित्य को कैसे और कितनी मात्रा में प्रभावित किया, इसका विचार करेंगे।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के नवयुग में सबसे महत्त्वपूर्ण घटना गद्य का अविर्भाव है। इससे पूर्व हिन्दी साहित्य प्रधानरूप से पद्यमय था, गद्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। परन्तु नवयुग में गद्य का विकास प्रारम्भ हुआ, और इसके साथ ही हिन्दी की सर्वतोमुखी उन्नति प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व कि हम हिन्दी गद्य साहित्य के विकास की परम्परा को उपस्थित करें, यहाँ यह उचित होगा कि हम हिन्दी-पद्य की परम्परा को समाप्त कर ले।

अब तक ब्रजभाषा का ही हिन्दी काव्य-क्षेत्र पर एक छत्र अधिकार चला आ रहा था, परन्तु इधर जब से खड़ी बोली एक मत से हिन्दी गद्य की भाषा के रूप में स्वीकार कर ली गयी तो वह काव्य-क्षेत्र में भी ब्रजभाषा की प्रतिद्वन्द्विता करने लगी। कुछ काल तक दोनों भाषाएँ ही समान रूप से हिन्दी काव्य क्षेत्र में चलती रही, और अनेक लब्ध प्रतिष्ठ कवियों ने दोनों में ही समान सफलता के साथ रचना की। परन्तु शीघ्र ही खड़ी बोली ने ब्रज-भाषा को पदच्युत कर उसका स्थान ग्रहण किया। किन्तु ब्रजभाषा में काव्य सर्जना सर्वथा बन्द नहीं हुई, वह अब भी जारी है, और उसके काव्यक्षेत्र से सर्वथा बहिष्कृत हो जाने के कोई लक्षण भी दिखाई नहीं देते, क्योंकि ब्रजभाषा के काव्य सौन्दर्य, अद्वितीय माधुर्य, और साहित्य सम्पन्नता को तो उसके विरोधी भी स्वीकार करते हैं। हाँ, निश्चय ही ब्रजभाषा का काव्यक्षेत्र में अब वह स्थान नहीं रहा, अब तो खड़ी बोली ही निर्विवाद रूप से आधुनिक हिन्दी गद्य तथा पद्य की भाषा स्वीकार की जा चुकी है। विगत वर्षों में खड़ी

बोली मे उच्चकोटि की काव्य सर्जना भी हो चुकी है। यहाँ हम सर्व प्रथम व्रजभाषा काव्य पर ही विचार करेंगे।

व्रजभाषा काव्य

नूतन युग के आविर्भाव के साथ ही व्रजभाषा काव्य मे भी परिवर्तन प्रारम्भ हुए। अब तक जो पिछली काव्य परम्परा चली आ रही थी, उसमें नायिकाभेद, नखशिख वर्णन तथा भक्तिभाव आदि जीवन के बहिरङ्ग विषयों पर ही रचना होती थी। राधाकृष्ण के चरित्र को रोमांटिक ढंग से प्रस्तुत करने में ही कवि अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बैठे थे। भाषा को भी अलकारों से इतना लाद दिया गया कि उसमें स्वाभाविक सौन्दर्य का सर्वथा विलोप हो गया, और वह जनसाधारण से दूर हट केवल मात्र दरबार के विलासमय वातावरण के अनुकूल बन गयी। कवियों की दृष्टि भी अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्तियों के फलस्वरूप, नायिकाओं के कुचों तथा केशों में ही उलझी रह गयी। जीवन के व्यापक क्षेत्र तक उनकी दृष्टि न पहुँच सकी। कविता का सम्बन्ध राजदरबारों से होने के कारण उसका सम्पर्क जनसाधारण से छूट गया। परन्तु नवयुग के प्रारम्भ के साथ ही जनसाधारण का जीवन बदल गया था, और देश में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुके थे, कवियों के आश्रयदाता अब स्वयं आश्रय की खोज में भटकते फिरते थे। राजदरबारो की 'गुलगुली गिलमें और गलीचे' और उनका विलासमय वातावरण विलुप्त हो चुका था। देश समुद्र पार के विदेशी शासकों के अधीन हो चुका था, उसकी खुशहाली नष्ट हो चुकी थी, शोषण के कारण जनता निर्धन हो चुकी थी। अकाल और महामारियों के फलस्वरूप देश की असंख्य जनता मृत्यु का ग्रास बन रही थी, भूख और मृत्यु का ऐसा ताण्डव नृत्य शायद ही इस भूमि पर कभी हुआ हो। जनसाधारण में इसी कारण वर्तमान के प्रति असंतोष की तीव्र भावना व्याप्त हो चुकी थी। बृटिश शासन के प्रति घृणा थी, परन्तु इस घृणा को व्यक्त नहीं किया जा सकता था। ऐसे वातावरण में कवि देश तथा समाज की समस्याओं से पराङ्मुख कैसे हो सकता था? अब उसके सम्मुख जीवन की विकट समस्या मौजूद थी और उसके साथ अनेक अन्य उलझनें थीं। इन सबका उसे सुलझाव प्रस्तुत करना था।

फलतः कवि समाज की ओर झुका, उसने जीवन की वास्तविक समस्याओं से सम्बन्ध स्थापित किया।

दूसरा अंग्रेजी राज्य की स्थापना के फलस्वरूप उर्दू एक प्रान्तीय भाषा के रूप में स्वीकार करली गयी, और उसके अध्ययन की व्यवस्था भी स्कूलों में कर दी गयी। उर्दू साहित्य का प्रभाव हिन्दी साहित्य के नवयुग पर एक विशेष ढंग से पड़ा। उर्दू में शृंगार रस के विरह वर्णन में जैसी गम्भीरता और विकलता है, वैसी हिन्दी साहित्य में नहीं थी। क्योंकि हिन्दुओं के कौटुम्बिक जीवन में बहुत दृढ़ता है, जिसके फलस्वरूप वियोग शृंगार के वर्णन का क्षेत्र विशेष विस्तृत नहीं हो सकता था, परकीया की उद्भावना काव्य में दोष स्वरूप स्वीकृत की गयी। राधाकृष्ण के प्रेम वर्णन में अलौकिक भावनाओं के प्रश्रय के फलस्वरूप लौकिकता न आ पायी और उसमें विरह की तीव्र विकलता की उचित व्यजना न हो सकी। नवयुग के प्रारम्भ के साथ ही उर्दू साहित्य के प्रभाव के परिणामस्वरूप शृगार रस में उर्दू के ढंग पर वेदनात्मक शैली पर रचना होने लगी। प्रेम की तड़प, और प्राणों की कसक का वर्णन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ ही हिन्दी काव्य में प्रारम्भ हुआ, और हिन्दी में वेदना के गम्भीर चित्र प्रस्तुत किए जाने लगे।

अङ्गरेजी शिक्षा द्वारा पाश्चात्य विचार-प्रणाली और साहित्य का संपर्क भारतीय साहित्य के साथ हुआ, और उसका भारतीय साहित्य पर क्रान्तिकारी प्रभाव हुआ। हिन्दी कविता पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव विविध रूप से पड़ा। अंग्रेजी साहित्य का सृजन स्वतन्त्रता के वातावरण में हुआ था, उसमें स्वतन्त्रता के प्रति अत्यन्त प्रेमपूर्ण भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई थी। प्रकृति के साथ मानव-मात्र के रागात्मक सम्बन्ध को स्थापित करने के अनेक प्रयत्न भी अंग्रेजी साहित्य में निहित थे। अंग्रेजी काव्य के प्रकृति-चित्रण ने हमारे कवियों को विशेष रूप से प्रभावित किया। संस्कृत साहित्य में अंग्रेजी ढग के स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण की प्रथा थी और संस्कृत के कवियों ने विश्व साहित्य में उत्कृष्ट प्रकृति चित्र उपस्थित किए। परन्तु हिन्दी के कवियों की दृष्टि मानव समाज के साधारण क्रिया कलापों में इतनी अधिक फँसी रही कि वे न तो प्रकृति का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन ही कर सके और न उसका चित्रण ही।

रूढ़ि के बन्धनों के अन्तर्गत फँस उद्दीपन के रूप में किए गए प्रकृति चित्रण में न तो सजीवता ही आ पायी और न नवीनता ही। कवि परम्परा से चले आ रहे प्राकृतिक उपादानों का एक ही ढंग से वर्णन करने में सन्तोष कर लेते अलङ्कारों के प्रयोग में भी प्रकृति के रमणीय उपादानों का स्वतन्त्र प्रयोग न किया गया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कविताओं में हम सर्वप्रथम स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण की रुचि को पाते हैं। उन्हीं के प्रभाव से हिन्दी-साहित्य में यह प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ती गई, और उनके पश्चात् ठाकुर जगमोहनसिंह तथा श्रीधर पाठक इत्यादि ने स्वतन्त्र प्राकृतिक सौन्दर्य पर रचना करने में विशेष सफलता प्राप्त की। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप हिन्दी काव्य में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता होने लगी। कवि जीवन की विभिन्न समस्याओं को बौद्धिक दृष्टि-कोण से देखने लगा, और उनके सुलझाव में भी वह अपनी बुद्धि का ही अधिक प्रयोग करने लगा। कविता शीघ्र ही मानव जीवन के दैनिक कार्यों और उनकी प्रतिदिन की समस्याओं से अधिक सम्बन्धित हो, मानव जीवन के सन्निकट आने लगी। अतः हमारे नवयुग के काव्य में अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप हृदय-तत्त्व के बजाय बुद्धि तत्त्व की प्रधानता हुई, और उसमें मानव-जीवन के लौकिक रूप की अधिक अभिव्यक्ति प्रारम्भ हुई।

अंग्रेजी काव्य में देश-प्रेम का बहुत महत्त्व है। इसके अध्ययन के फल-स्वरूप तथा इधर देश में चल रहे सामाजिक सुधार के आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप व्रज-भाषा-काव्य में सामाजिक और देश प्रेम विषयक कविताओं की रचना प्रारम्भ हुई। इधर ज्यों-ज्यों राजनैतिक चेतना बढ़ने लगी, और भारतीय राजनीति के रंगमंच पर कुछ हलचल प्रारम्भ हुई त्यों-त्यों देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की कविताओं का प्रारम्भ भी हुआ। परन्तु व्रज-भाषा-काव्य की एतद्विषयक प्रारम्भिक कविताएँ देश-भक्ति की भावनाओं के बजाय राज-भक्ति की भावनाओं से अधिक प्रभाविता हैं। राज्य गुण-गान में अनेक कवि-ताओं की रचना की गई और अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा में कहा गया—

अङ्गरेज राज सुख-साज सजे सब भारी।

परन्तु राज्य का गुण-गान करता हुआ कवि अपने देश की निर्धनता का भी अनुभव करता है और कविता की अगली ही पंक्ति में कहता है—

पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी ॥

वास्तव में देश की तत्कालीन परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी थीं जिसमें राष्ट्रीयता की उच्चकोटि की कविताओं की आशा नहीं की जा सकती थी। भारतेन्दु बाबू आदि ने तत्कालीन राज्य व्यवस्था का गुण गान करते हुए भी अपने देश की दुर्दशा को नहीं भुलाया, और निम्नलिखित वेदनापूर्ण पंक्तियो में अपनी हृदय की भावनाओं को अभिव्यक्त किया—

रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥

वास्तव में तत्कालीन कवि देश-भक्ति और राज-भक्ति में विशेष अन्तर नही समझते थे, यही कारण है कि उनकी कविताओ में परस्पर विरोधी भावनाओं वाली कविताएं प्राप्त होती हैं। परन्तु देश-भक्ति की भावनाओ की अभिव्यक्ति कविताओं में प्रारम्भ अवश्य हो चुकी थी, जो कि समय पाकर परिष्कृत देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की भावनाओ मे परिवर्तित हो गई।

जन साधारण के सम्पर्क में आने पर और अंग्रेजी काव्य के प्रभाव के फलस्वरूप ब्रज भाषा काव्य के स्वरूप और शैली को सरल करने का प्रयत्न किया गया। भावाभिव्यक्ति के ढग और प्रतीक परिवर्तित किए गए और भाषा को जन साधारण की भाषा बनाने का प्रयत्न किया गया।

इस प्रकार नवयुग का ब्रजभाषा काव्य भाषा भाव और शैली सभी दृष्टियों से परिवर्तित हो रहा था, और प्राचीन काव्य परम्परा से धीरे धीरे अपना सबंध विच्छेद कर नवयुग की ओर अग्रसर हो चुका था। परन्तु प्राचीन ढंग की काव्य परम्परा सर्वथा विलुप्त नहीं हो गई थी, उसका अभी प्रचलन था। आधुनिक हिन्दी काव्य के जनक, भारतेन्दु बाबू भी प्राचीन शैली पर रचना करते थे, यद्यपि उन्होंने प्राचीन रुढ़ियों और बन्धनो को शिथिल किया, और नवीन काव्य शैली के मार्ग को भी प्रशस्त किया।

नवयुग के ब्रज-भाषा काव्य में, सब क्रान्तिकारी परिवर्तनों के बावजूद भी सच्ची कविता के दर्शन नहीं हो पाते। क्योंकि इस समय का अधिकाश काव्य प्रचार-मूलक है, और कवि सुधारवादी प्रवृत्तियों से प्रभावित हो अधिकतर पद्यात्मक निबन्ध ही लिखने में व्यस्त रहे।

आधुनिक युग में भी ब्रज भाषा काव्य दो धाराओं में अभिव्यक्त हुआ, एक धारा तो सर्वथा प्राचीन काव्य धारा के अनुकरण पर चल रही थी। इस धारा में वही शैली, वही विषय और लगभग वही भावनाएँ थी, जो कि प्राचीन काव्य-परम्परा में चली आ रही थी। दूसरी धारा नवयुग से प्रभावित थी, और उसमें नवयुग की सम्पूर्ण विशेषताएँ उपलब्ध थी। यहाँ हम सर्वप्रथम प्राचीन काव्य धारा पर विचार करेंगे, और उसके कवियों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

नवयुग के अन्तर्गत ब्रज भाषा काव्य की प्राचीन धारा

इस धारा के कवियो ने प्राचीन परम्परा का ही अक्षरशः पालन किया, और अधिकतर शृंगार रस को ही अपने काव्य का विषय बनाया। कुछ कवियों ने भक्ति-काव्य की सर्जना भी की। नीचे इस धारा के प्रमुख कवियो का परिचय दिया जाता है।

सेवक :—का जन्म सम्वत् १८७२ में हुआ था। ये असनी वाले ठाकुर कवि के पौत्र थे। इनकी मृत्यु सं० १९३८ में हुई थी। नायिका भेद पर इन्होंने वाग्विलास नाम के एक बृहदाकार ग्रन्थ की रचना की है। नखशिख वर्णन पर इन्होंने कुछ बरवा छन्द भी लिखे हैं। इनके सवैये बहुत प्रसिद्ध थे, और जन साधारण में बड़े प्रेम से गाए जाते थे। इनका भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार था। रीतिकाव्य की परम्परा का स्मरण दिलाने वाले यह एक प्रौढ़ कवि थे।

सेवक कवि के आश्रयदाता काशी के रईस बाबू देवकीनन्दन के प्रपौत्र बा० हरिशंकर थे। इनकी कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

देवी औ असुर देवासुर के समर हूँ मैं खाऐं
मास रुधिर अघाएना कमैं भयो।
आई ना डकार राम रावन के संगर में
पारथ के भारत कलेवै करमैं भयो।
'सेवक' भनत मोंसों भाखत यौं रुद्रगन
आर रन छुद्र मैं परासन जमैं भयो।

ईश्वरी नारायण वली के तेत तीरन कों
बारन सों खेत मे अजीरन हमें भयो॥

रीवां-नरेश महाराज रघुराजसिंह:—भगवान रामके उपासक थे और इनकी भक्ति भाव पूर्ण रचनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म संवत् १८८६ में हुआ और मृत्यु सवत् १९३६ में हुई। इनका लिखा हुआ 'रामस्वयंवर' नामक प्रबन्ध काव्य बहुत प्रसिद्ध है। प्रबन्ध-काव्य रचना की शैली से भली भाँति परिचित होने के कारण, यह 'रामस्वयंवर' की रचना में निश्चय ही सफल हुए हैं परन्तु वस्तु परिगणन की प्रणाली के अनुसरण करने के कारण कथा प्रवाह में शैथिल्य आ गया है। इनकी शृंगार रचनाएँ भी काफी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मृगया का बहुत आकर्षक वर्णन किया है। इनके रचे हुए। ग्रन्थों के नाम यह हैं-(१) सीता स्वयवर (२) रूक्मणी परिणय (३) आनंदाम्बुनिधि (४) रामाष्टयाम। इनकी कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

जैसो कोप कीजै तैसो दोष नहिं मेरे जान,
हानि लाभ का भयो पुरान धनु तोरे ते।
छूवत ही टूट्यो नहिं जोर परयो राम नैकु,
अवै ना नसान कछु जुर जाई जोरे ते।
केते तोरि डारे धनु खेलत सिकार में,
कबहुँ न कीन ऐसो कोप और छोरे ते।
'रघुराज' राजन की रीति नहिं जानौ विप्र,
करो कहूँ जाय तप जानो कहे थोरे ते॥

सरदार:—कवि को मिश्र बन्धुओं ने पद्माकर आदि उत्कृष्ट कवियों की श्रेणी में माना है। अपने समय में सरदार की बहुत प्रतिष्ठा थी। अनेक उच्चकोटि के विद्वानों तथा कवियों ने इनके शिष्यत्व को स्वीकार कर इनके ढंगपर काव्य रचना की। वास्तव में सरदार उत्कृष्ट कवि और साहित्य मर्मज्ञ थे।

इनका कविता काल संवत् १९०१ से १९४० तक माना जाता है। ये काशी नरेश महाराजा ईश्वरीप्रसादसिंह के आश्रय में रहते थे, और उनके दरबार के मुख्य कवि थे। इनके रचित ग्रन्थों के नाम ये हैं—साहित्य-

सरसी, व्यंग-विलास, षड्ऋतु, हनुमत भूषण, तुलसी भूषण, शृंगार संग्रह, रामरत्नाकर इत्यादि। इन्होंने केशवदास की 'रसिक प्रिया' और 'कवि प्रिया' पर बहुत उत्कृष्ट टीकाएँ की हैं। सूर के दृष्टि-कूटों और बिहारी सतसई पर की गयी इनकी टीका बहुत प्रामाणिक और उत्कृष्ट मानी जाती। इनका भाषा पर पूर्ण अधिकार था, परन्तु कल्पना में मौलिकता नहीं है, फिर भी भावों में प्रवाह है, और उन भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त भाषा भी बहुत उत्कृष्ट है। इनका एक छन्द देखिए—

परि पूरन प्रेम तें पागि सिवा प्रति जाम पतिव्रत पालती हैं।
निसियासर ध्यान धरे तिनको मनते तन नेक न हालती हैं।
'सरदार' निबाहन हार वही हम कौन कला लखि लालती हैं।
ननदी ये तिहारी सदा बतियां नटसाल लौं साहब सालती हैं॥

राजा लक्ष्मणसिंह:—अपनी ब्रजभाषा के माधुर्य के लिए हिन्दी ससार में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कालिदास के शकुन्तला, मेघदूत तथा रघुवंश के बहुत ही सुन्दर तथा ललित अनुवाद किए हैं। ब्रजभाषा का जैसा माधुर्य इनके इन अनूदित ग्रन्थों में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। ब्रजप्रदेश के मुहावरो तथा लोकोक्तियों का प्रयोग करते हुए कवि ने मूल भाषा की रक्षा का विशेष ध्यान रखा है। मेघदूत का अनुवाद यद्यपि बहुत ही ललित और सुन्दर भाषा में हुआ है, तथापि उसके प्रवाह में कुछ कमी है।

शकुन्तला का अनुवाद बहुत सुन्दर बन पड़ा है। इस नाटक के श्लोंको के अनुवाद करते समय कवि ने अपनी भाषा को मूल भाषा के ऐसा अनुरूप ढाला है कि वह मूल भाव गृहीत किए हुए भी स्वतत्र रचना से प्रतीत होते हैं।

राजा लक्ष्मणसिंह का जन्म संवत् १८८३ में और मृत्यु सं० १९५३ में मानी जाती है।

इनका एक छन्द उदाहरणार्थ नीचे दिया जाता है—

कहुँ दाभन तें मुख जाको छिद्यौ जब तू दुहिता लखि पावति ही।
अपने करते तिन घावन पै तुही तेल हिंगोट लगावति ही।

जिहिं पालन के हित धान समानित मूठहिं मूठ खवावति ही।
मृग छौना सो तेरे पग कैसे तजै जाहि पूतसो लाड़ लड़ावति ही॥

गोविन्द गिल्लाभाई :—गुजराती हैं, और इनका जन्म स० १९०५ में भावनगर रियासत के अन्तर्गत सितोर नामक स्थान में हुआ था। प्राचीन समय में वैष्णव मत के अत्याधिक प्रचार के कारण गुजरात में भी ब्रजभाषा काव्य का बहुत प्रचलन था। अनेक वैष्णव मतानुयायी ब्रजभाषा के काव्य को पढ़ आत्मानन्द को उपलब्ध करते थे। अनेक गुजराती भक्त कवि ब्रजभाषा में कविता भी करते थे। आज भी वैष्णव परिवारों में ब्रजभाषा की भक्तिपूर्ण कविताओं का प्रचलन है। गोविन्द गिल्लाभाई ने ब्रजभाषा में अत्यन्त माधुर्यपूर्ण रचना की है, गुजराती होते हुए भी इनका ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार था, और इसी कारण इनकी कविताओं से यह प्रतीत ही नहीं होता कि यह किसी अन्य प्रान्त के निवासी थे। इनकी कविता बहुत ही सुन्दर है और इनकी ब्रजभाषा पद्माकर आदि श्रेष्ठ कवियों की टक्कर की है। गोविन्द गिल्लाभाई के रचित मुख्य ग्रन्थों के नाम ये हैं—नीति-विनोद, शृंगार सरोजिनी, षड् ऋतु, पावस पयोनिधि, समस्यापूर्ति-प्रदीप, बक्रोक्ति विनोद, श्लेष-चन्द्रिका, प्रारब्ध पचासा, प्रवीन सागर, राधामुख षोडसी आदि। इनकी कविता का रसास्वादन कीजिए :—

बारिद के बुन्द मंद मंद बरसत अरु,
मंद मंद बोलत मयूर मन भावनो।
चंचला चमक चहुँ ओर लसै मंद मंद,
मद मंद मारुत सुहात सुख छावनो।
मंद मंद झूलत हिंडोरैं नर नारि सबै,
मंद मंद पपिहा पुकारै पिया आवनो।
गोविंद अनेक ऐसे कौतुक उपावन को,
आयो मन भावन या सावन सुहावनो॥

इनके अतिरिक्त इसी काल में अयोध्या के बाबा रघुनाथ दास रामसनेही, वृन्दावन निवासी ललितकिशोरी तथा ललित माधुरी, अयोध्या नरेश के आश्रित लच्छिराम-ब्रह्मभट्ट तथा काशी निवासी बेनीद्विज और हनुमान आदि

कवि जनों ने ब्रजभाषा काव्य की प्राचीन शैली का अनुसरण कर काव्य रचना की।

आधुनिक ब्रजभाषा काव्य

नूतन ब्रजभाषा काव्य के जनक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र कहे जाते हैं। निश्चय ही भारतेन्दु बाबू ब्रजभाषा के प्राचीन और नवीन काव्य में एक कड़ी के सदृश कार्य करते हैं, उन्होने जहाँ प्राचीन परम्परा के अनुसार काव्य रचना की, वहाँ हिन्दी-काव्य के नवीन रूप निर्माण में भी पूर्ण सहयोग दिया। ब्रजभाषा काव्य में आधुनिक कवियों पर रचना प्रारम्भ करने का श्रीगणेश भी भारतेन्दु बाबू से ही होता है। उन्होंने कविता को देश की नवीन समस्याओं और जन समाज के निकट ला उसे राजदरबारों की वस्तु न बना लोक कल्याणकारिणी बना दिया। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने जहाँ उपरोक्त विषयों पर रचना की है, वहाँ शृंगार रस के वर्णन में कवियों ने परम्परागत रूढ़ियों का अनुसरण न कर नवीन शैली की उद्भावना की। आधुनिक ब्रजभाषा काव्य के जनक और उनके सहयोगियों की काव्यगत विशेषताओं को हम संक्षेप से इस प्रकार रख सकते हैं—

(१) भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आदि ने प्राचीन परम्परा पर रचना करते हुए भी काव्य की नवीन शैलियों की सर्जना में विशेष योग दिया।

(२) कविता को जनसाधारण के निकट लाने का श्रेय भारतेन्दु बाबू को ही है। उन्होंने देश की समस्याओं पर कविता कर देश की दुखपूर्ण अवस्था का बहुत मार्मिक चित्रण किया। देशभक्ति की रचनाओं का श्रीगणेश भी भारतेन्दु बाबू और उनके सहयोगियों ने ही किया।

(३) काव्य में नवीन विषयों का समावेश करते हुए भी उन्होंने शृंगार रस का परित्याग न कर उस पर नवीन ढंग से उत्कृष्ट रचनाएँ कीं। उनका प्रेम वर्णन 'विलासिता की भावनाओं से ऊँचा उठा हुआ, सरल और स्वाभाविक बन पड़ा है।

(४) अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के परिणामस्वरूप प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण की प्रथा का प्रारम्भ भी भारतेन्दु बाबू और उनके सहयोगियों ने किया।

(५) उन्होंने अलंकार प्रधान शैली का परित्याग कर अपनी नवीन शैली का निर्माण किया जिसमे प्रसादगुण और रसपुष्टि पर अधिक बल दिया।

(६) काव्य में सहज, सरल और स्वाभाविक भावों को उपस्थित करना उनका ध्येय रहा। विषय पर अधिक बल दिया गया। रहस्यात्मक और व्यर्थ में उलझन में डालने वाली शैली का परित्याग कर दिया गया।

(७) भारतेन्दु बाबू ने काव्य की भाषा ब्रजभाषा के रूप को भी परिवर्तित कर दिया। साहित्यिक ब्रज के स्थान पर शुद्ध ब्रजभाषा के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया। शब्दों को तोड़ा मरोड़ा नहीं गया, और न हीं प्रादेशिक बोलियों के शब्दों का समावेश कर भाषा को असंस्कृत किया गया।

(८) भारतेन्दु बाबू और उनके सहयोगी प्रत्येक विषय में मौलिक थे, और विशेष प्रतिभा-सम्पन्न होने के कारण वह युग-परिवर्तन में नेतृत्व कर सके।

(९) प्राचीनता के अन्ध भक्त न होने के कारण, इनकी कविताएँ नवीन युग की आवश्यकताओं के अनुकूल बन पड़ीं। इनकी कविताओं की सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं मार्मिकता, सरसता और हृदयग्राहिता।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :—आधुनिक काल की शैशवावस्था के प्रौढ़तम कलाकार हैं। प्राचीन परिपाटी के वैष्णव भक्त होते हुए भी उनमें नवयुग की नूतन प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही थीं। उनका प्रभाव हिन्दी गद्य तथा पद्य पर बहुत पड़ा, और उन्होंने आधुनिक युग के शैशव में नवीन गद्य तथा पद्य लेखकों का पथ प्रदर्शन कर उन्हें प्रगति के पथ पर बढ़ाया। भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी साहित्य में किस प्रकार नवीन प्रवृत्तियों और नवीन-आदर्शों का समावेश किया, इसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं। उनकी प्रतिभा सवर्तोमुखी थी, उन्होंने साहित्य के प्रत्येक अंग पर रचना तथा विवेचना की। निश्चय ही आधुनिक युग के शैशव पर भारतेन्दु बाबू का प्रभाव अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुआ।

भारतेन्दु बाबू का जन्म सं० १९०७ में काशी में हुआ था, और इनका स्वर्गवास ३४ वर्ष की अल्पायु में संवत् १९४१ में हुआ। इनके पिता बाबू

गोपालचन्द्र (गिरिधरदास) हिन्दी के उच्चकोटि के कवियों में गिने जाते हैं। इसके अतिरिक्त उस समय काशी मे सेवक, सरदार, नारायण, हनुमान तथा बाबा दीनदयालगिरि आदि अनेक श्रेष्ठ कवियों का समाज एकत्रित था। इस प्रकार भारतेन्दु बाबू का शैशव काव्यमय वातावरण में ही बीता। शीघ्र ही भारतेन्दु बाबू काव्यक्षेत्र में अवतरित हुए, इनकी शैशवावस्था की सर्व प्रथम रचना देखिए—

हम तो मोल लिए या घर के,
दास दास श्री वल्लभ कुलके चाकर राधावर के।
माता श्री राधिका पिता हरि बन्धु दास गुन करके।
हरिचन्द तुम्हरे ही कहावत नहिं विधिके नहिं हरके।

भारतेन्दु बाबू व्यक्तिगत रूप से बहुत रसिक, भावुक और उदार स्वभाव के थे, यही कारण है कि उनकी कविता अत्यन्त भावपूर्ण, सरस और माधुर्य-पूर्ण बन पड़ी है। काशीमें कविजनों के सम्मिलन के लिए इन्होंने कवि-समाज भी स्थापित किए थे, जिनमें समस्या पूर्ति की जाती थी। उस समय के अनेक लब्ध प्रतिष्ठ कवि इस समाज में उपस्थित हो अपनी समस्या पूर्ति सुनाया करते थे।

श्रृंगार रस के वर्णन मे भारतेन्दु बाबू ने नवीन दृष्टिकोण प्रतिष्ठित किया था, प्राचीन रीति परम्परा के श्रृंगार वर्णन को त्याग, उन्होंने प्रेम पर अत्यन्त मर्मस्पर्शी सवैये लिखे। आज भी रसिक समाज में 'पिय प्यारे निहारे निहारे बिना दुखिया अँखियाँ नहिं मानत हैं" आदि उक्तियाँ प्रसिद्ध चली आरही हैं। श्रृंगार रस की कविताओं का संग्रह 'प्रेम माधुरी' नामक पुस्तक में किया गया है। इनके श्रृंगार वर्णन का एक सुन्दर उदाहरण नीचे दिया जाता है—

बिछुरे पिय के जग सूनो भयो,
अब का करिये कहि पेखिये का।
सुख छाँड़ि के संगम को तुम्हरे,
इन तुच्छन को अब लेखिये का।
हरिचंद जू हीरन को व्यवहार कै,
काँचन को लै परेखिये का।

जिन आँखिन में तुव रूप बस्यो,
उन आँखिन सो अब देखिये का ॥

भारतेन्दु बाबूने ही सर्व प्रथम हिन्दी में स्वतंत्र प्रकृति वर्णन की ओर कवियो का ध्यान आकृष्ट किया। रीति कालीन कवियों का प्रकृति वर्णन अत्यन्त संकुचित और बन्धी परपाटी पर चला आ रहा था। कवि प्राकृतिक सौन्दर्य के उपकरणो को या तो उद्दीपन के रूप में प्रयुक्त करते थे, अथवा अलंकार-विधान के लिए। स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण का अभाव रहा। भारतेन्दु बाबू ने स्वतन्त्र प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। भारतेन्दु बाबू नागरिक जीवन से सम्बधिन्त थे, उन्हें प्रकृति चित्रण के अधिक अवसर प्राप्त नहीं हुए थे, इसी कारण यद्यपि उनका प्रकृति चित्रण रीतिकाल के कवियों से उत्कृष्ट है, तथापि वह उनके हृदय की अनुरागात्मक भावनाओं से अधिक सम्बन्धित न हो सका। फिर भी उन्हें प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रेम था। उनके प्रकृति चित्रण के उदाहरण देखिए:—

कूजत कहुँ कल हँस कहूँ मज्जत पारावत।
कहुँ कारण्डव उड़त कहूँ जल कुक्कुट धावत।
चक्रवाक कहुँ बसत कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत कहूँ भ्रमरावी गावत ॥

इसी प्रकार—

कबहुँ होत सत चन्द कबहुँ प्रकटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिंब रूप जल में बहु साजत।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै ॥

भारतेन्दु बाबू वैष्णव भक्त कवि थे, उनका हृदय कवि हृदय था, और उसमें सरसता कूट कूट कर भरी हुई थी। उन्होंने कृष्ण भक्त कवियों की शैली के अनुकरण पर भक्ति-रस पूर्ण पदों की रचना थी, यहाँ उनकी एतद् विषयक कविता के उदाहरण देखिए—

हमहूँ कबहूँ सुख सो रहते।
छांड़ि जाल सब, निसिदिन मुख सों केवल कृष्ण ही कहते ॥

सदा मगन लीला-अनुभव में दृग, दोऊ अविचल बहने।
हरिचन्द घनश्याम विरह इक जग दुख तृन-समदहने ॥

तथा

छिपाये छिपत न नैन लगे।
उघरि परत सब जानि जात है घूँघट मे न खगे ॥
कितनो करौ दुराव दुरत नही जब ये प्रेम पगे।
निडर भये उघरे से डोलत मोहन रंग रँगे ॥

यद्यपि इस प्रकार की उनकी कविताएँ प्राचीन काव्य परम्परा के अन्तर्गत समझी जाती हैं, परन्तु इनमें भी कवि न कहीं कहीं नवीन आदर्श तथा भावों की अभिव्यंजना की है।

भारतेन्दु बाबू ने समाज की समस्याओं की विवेचना भी की और प्रायः सभी सामयिक विषयो और उलझनों पर उन्होंने कुछ न कुछ लिखा। रीतिकालीन कवियों की भाँति उन्होंने देश की समस्याओं से मुख नहीं मोड़ा था, अपितु वे भारतमाता की वेदनापूर्ण स्थिति को देख अत्यन्त मार्मिक ढग से कहते हैं—

रोवहु सब मिलिके आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ॥

भारतेन्दु बाबू बृटिश शासन का गुणानुवाद करते थे, और यह विश्वास करते थे कि अंग्रेजी राज्य के साथ ही देश उन्नति के मार्ग पर बढ सकता है, परन्तु वह किसी समय भी भारतमाता की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण कर जनता में देशभक्ति की भावनाओ को जाग्रत करने में पीछे न रहते थे। बृटिश युवराज के भारत आगमन के समय उसका स्वागत करते हुए भी वही देश की दयनीय दशा का चित्रण करते हुए नहीं चूकते। कभी वे भारत के गौरवमय अतीत की याद करते हुए वर्तमान पतित अवस्था को देख कह उठते हैं—

हाय! वहै भारत-भुव भारी। सबही विधि सो भई दुखारी ॥
हाय पंचनद हा पानिपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत ॥

हाय चित्तौर! निलज तू भारी। अजहूँ खरो भारतहि मँझारी॥
तुम मे जल नहिं जमुना गंगा। बढ़हु वेगि किन प्रबल तरंगा॥
बोरहु किन झट मथुरा कासी। धोवहु यह कलंक की रासी॥

कवि के हृदय में एक विशेष वेदना और तड़प है, और वह भारत की दयनीय दशा को देख व्यथित है। कभी वह अतीत की याद दिलाता है, तो कभी वह वर्तमान काल की अधोगति को देख जनता की प्रतारणा करता है। कभी वह अंग्रेजी शासकों से भारत के उद्धार की प्रार्थना करता है तो कभी वह भारत से निकल रहे धन को देख विवशतापूर्वक चुप रह जाता है।

भारतेन्दु की देशभक्ति आजकी सी राष्ट्रीय भावनाओं के समान व्यापक नहीं थी। उनकी देशभक्ति या राष्ट्रीयता आज के दृष्टिकोण के अनुसार सकुचित थी। वे मुसलमान शासनकाल को भी पराधीनता का काल समझते हुए, अपने एतद्विषयक विचार इस प्रकार प्रगट करते हैं—

पृथीराज जयचन्द कलह करि यवन बुलायो।
तिमिर लग चंगेज आदि बहु नरन कटायो।
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय वासना दुसह मुहम्मदसा फैलायो।
तबलो बहु सोये वत्स तुम जागे नहि कोऊ जतन।
अब तौ रानी विक्टोरिया, जागहु सुत भय छाँड़ि मन॥

वास्तव में उस समय वर्तमान काल की भावना का विकास नहीं हो पाया था। वह समय जातीय उत्थान का था, और हिन्दु तथा मुसलमान दोनों का पृथक् पृथक् जागरण हो रहा था।

भारतेन्दु बाबू तत्कालीन समाज में प्रचलित कुप्रथाओं के भी कट्टर विरोधी थे, वह पूर्ण रूप से समाज सुधारक थे। इस विषय में अपने विचारों को उन्होंने निम्नलिखित पद्य में समुचित रीति से व्यक्त किया है—

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माहिं घुसाए।
सैव साक्त वैष्णव अनेक मत प्रकट चलाए।
विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो।
रोक विलायत गमन कूप मंडूक बनायो।

बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर सों सब विमुख किए हिन्दुन घबराई।
अपरस सोल्हा छूत रचि भोज प्रीति छुड़ाय।
किये तीन तेरह सबै चौका चौका लाय।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का हिन्दी साहित्य के इतिहास मे बहुत महत्त्व है। उन्होंने हिन्दी साहित्य की रीतिकालीन धारा को रोक, हिन्दी कविता में नवीन विषयों का समावेश कर तथा नवीन चिन्तन विधि को प्रस्तुत कर, भाषा भाव तथा वर्ण्य विषयो में परिवर्तन कर हिन्दी काव्य को रीतिकालीन गन्दी गलियों से निकाल प्रगति के कल्याणकारी और स्वास्थ्यप्रद मार्ग पर ला खड़ा कर दिया। अपने व्यक्तिगत प्रभाव तथा प्रेरणा से उन्होंने एक ऐसी कवि-मण्डली का संगठन किया जो कि उनके पश्चात् भी उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चल उनके महान् कार्य को आगे बढ़ा सकी।

बाबू राधाकृष्ण दास :—भारतेन्दु बाबू के फुफेरे भाई थे, और उनके द्वारा स्थापित कवि-समाज के सदस्य थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और इन्होंने नाटक, कहानी इत्यादि सभी कुछ लिखे। शृंगार तथा भक्ति पर ही इन्होंने अधिक रचना की है। ब्रजभाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनकी कविताओं का एक सग्रह 'राधाकृष्ण-ग्रन्थावली' नाम से प्रकाशित हुआ है।

पण्डित प्रताप नारायण मिश्र :—का जन्म सं० १६१३ मे और मृत्यु सं० १६५१ में हुई। ये भारतेन्दु बाबू के समकालीन थे, और उनसे बहुत प्रभावित थे। इनकी समाज सुधार में विशेष रुचि थी और इन्होंने समाज सुधार के लिए ही 'ब्राह्मण' नामक पत्र निकाला था, जो कि बहुत प्रसिद्ध हुआ। इनकी कविताएँ अधिकतर समाज सुधार और देश भक्ति विषयक ही हैं। इनकी ब्रजभाषा पश्चिमी अवधी से प्रभावित है। मिश्रजी की कुछ रचनाएँ बैसवाड़ी में भी प्राप्य हैं। ये हास्य-रस की रचनाएँ लिखने में अधिक सफल हुए हैं।

उपाध्याय पं० बद्री नारायण चौधरी (प्रेमघन) :—भारतेन्दु बाबू के समकालीन थे, और उन्हीं की प्रेरणा से हिन्दी मे कविता करने लगे थे।

इन्होंने अधिकतर स्फुट विषयों पर ही लिखा है, और प्रायः विशेष आनन्द के अवसरों को ही अपनी कविता का विषय बनाया है। देश में चल रहे धार्मिक तथा समाज सुधार सम्बन्धी आन्दोलनो से इन्हे विशेष सहानुभूति थी, राजैतिक विषयों में भी यह विशेष भाग लेते थे। इसी कारण इनकी कविताएँ प्रायः समाज सुधार या देश भक्ति की भावनाओं से पूर्ण है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से इनकी कविताएँ नवीन विषयो से सम्बन्धित थी। इनकी कविता देश की भावनाओं तथा आकाक्षाओं का प्रतिनिधित्व करती है। प्रेमघन की अधिक रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं, यद्यपि इन्होंने खड़ी बोली में भी रचना की है, परन्तु ब्रजभाषा से इन्हें विशेष प्रेम था। इनकी कविता का एक छन्द देखिये—

पै कछु कही न जाए, दीनन के फेर फिरे अब।
दुरभागिन सों इत फैले फल फूट बैर जब॥
भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत।
भये बीर बर सकल सुभट एकही संग गारत॥

दादा भाई के बृटिश पार्लियामेंट के सदस्य होने के अवसर पर

कारन सो गोरन की घिन को नाहन कारन।
कारन तुमहीं या कलक के करन निवारन॥
कारन ही के कारन गोरन लहत बड़ाई।
कारन ही के कारन गोरन की प्रभुताई॥

ठाकुर जगमोहनसिंह:—हिन्दी में प्राकृतिक सौन्दर्य का स्वतंत्र चित्रण करने वाले सर्वप्रथम कवि हैं। भारतेन्दु बाबू के प्रभाव में आने के अनन्तर ठाकुर जी ने काव्य क्षेत्र में प्रवेश किया। स्वाभाविक प्रतिभा तथा सहृदयता सम्पन्न होने के कारण इन्हें अपने क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। प्रकृति के रमणीय दृश्यों के सुन्दर चित्रण में तथा प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण में जितनी इन्हें सफलता प्राप्त हुई हैं, उतनी अन्य किसी को नहीं। हिन्दी साहित्य में स्वतंत्र प्रकृति-चित्रण का अभाव रहा, है, कवियों ने अधिकतर अन्धी लकीर पर चलते हुए परम्परा के पालन के लिये उद्दीपन के रूपमें ही प्रकृति का चित्रण किया है। परन्तु वह प्रकृति चित्रण स्वतंत्र नहीं था,

न हीं उसमे नवीनता थी। हिन्दी साहित्य इस विषय में उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य से विशेष रूप से प्रभावित है। कालिदास तथा भवभूति के से रमणीय प्रकृति-चित्र उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में अप्राप्त हैं। हिन्दी के कवियों ने भी उत्तरकालीन संस्कृत कवियों का ही अनुकरण किया और प्राकृतिक सौन्दर्य के उपकरणों को या तो उद्दीपन के रूप में प्रयुक्त किया अथवा अलंकार विधान में। प्रकृति के प्रति स्वतंत्र अनुरागात्मक भावनाओं का अभाव रहा। ठाकुर साहब ने प्रकृति के रमणीय दृश्यों के शब्द चित्र उपस्थित कर उन्हें पाठक के हृदय-चक्षुओं के निकट ला दिया। उनके प्रकृति चित्र निश्चय ही सुन्दर और रमणीक बन पड़े हैं। परन्तु ठाकुरजीके पश्चात् इस परम्परा का विलोप हो गया। संस्कृत या अंग्रेजी के ढग के साहित्य में प्रकृति-चित्र केवल श्रीधर पाठक और उनके बाद पं० रामनरेश त्रिपाठी ही उपस्थित कर सके।

ठाकुर साहब बहुत रसिक और अनुरागी जीव थे, जहाँ वे प्रकृति के प्रति इतना अनुराग और प्रेम प्रदर्शित करते थे वहाँ वे मानव मात्र से भी उतना ही प्रेम करते थे। उनका हृदय लौकिक प्रेमकी भावनाओं से मुग्ध होता हुआ भी अलौकिक प्रेम से अधिक प्रभावित था। यही कारण है कि उनकी कविताओं में लौकिक प्रेम का चित्रण अलौकिक भावनाओं से प्रभावित है।

इनकी भाषा बहुत सुन्दर, प्रवाहपूर्ण और सरस है। भाषा में माधुर्य की प्रधानता है। यद्यपि भाषा में भारतेन्दु की सी शुद्धता तो नहीं आ पायी, तथापि स्वभाविकता मे कहीं कमी नहीं आने पायी। शृंगार रसकी कविताएँ भाषा तथा भाव दोनों की ही दृष्टि से भारतेन्दु की एतद्विषयक कविताओं के समकक्ष हैं। इनके कुछ पद्य देखिए—

कौन सी बातन याद करें हम कौन कथा कहिए दिल खोली।
कौन मिलै जग साथी हमैं दिलदार बुझावन हार अमोली।
बोलें सभी मधुरे सुथरे सुघरे बचन आन अली दुख मोली।
ऐसो मिलो 'जगमोहन' कोउ न जो पै मिलावतो तोहि सो भोली॥
अब यो उर आवत है सजनी, मिलि जाँइ गरे लगि कै छतियाँ।
मनकी करि भाँति अनेकन औ मिलि कीजिए री रसकी बतियाँ।

हम हारीं अरी करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेह भरी पतियाँ।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिना कैसे कटैं दुखकी रतियाँ॥

लागै गो पावस अमावस की अंधियारी जामैं,
कोकिल कुहुकि कूक अतन तपावै गो।
पावैगो अथोर दुख मैंनके मरोरन सों,
सोरन सो मोरन के जियहूँ जरावै गो।
लावैगो कपूरहू की धूर तन पूर घिसि,
भार नहि कोऊ हाय चित्त को धरावैगो।
ठावैगो वियोग जग मोहन कुसोग आनि,
बिरह समीर वीर अंग जब लावैगो॥

राय देवीप्रसाद पूर्ण (संवत् १९२५-१९७१):–कानपुर के 'रसिक' समाज के प्राण थे, और ब्रजभाषा-काव्य के सुप्रसिद्ध कवि थे। 'पूर्ण' जी ने प्राचीन तथा नवीन दोनों ही परिपाटियों पर अत्यन्त उत्कृष्ट कविता की है। प्राचीन परम्परा के अन्तर्गत शृंगार वर्णन के साथ साथ कवि ने भक्ति तथा वेदान्त पर रचना की है। शृंगार रस पर उनकी रचना प्राचीन कवियों की टक्कर की है, परन्तु शृंगार रस में अधिक रुचि न होने के कारण उन्होंने इस विषय पर अधिक नहीं लिखा। भक्ति तथा वेदान्त की कविताओं में भी 'पूर्ण' जी को बहुत सफलता प्राप्त हुई, उनके एक भक्ति रस विषयक पद्य को देखिए।

सजि लीजिए हार सरोजन के चहै पीजिए जो हिम को जल है।
चहै न्हाइए अमृत के सर मे चहै खाइए जौन सुधा फल है।
निगमागम 'पूरन' टेरि कहै वृथा चन्दन चाँदनी के बल है।
हरिके पद पंकज धारे विना नर शीतल होत न सीतल है।

नवीन विषयों पर रचना करते समय 'पूर्ण' जी ने जहाँ देश भक्ति पर उत्कृष्ट रचनाएं की हैं, वहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। इन के प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन पर अंग्रेजी काव्य का प्रभाव भी लक्षित होता है। वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए 'पूर्ण' जी लिखते है—

चातक समूह बैठे बोलन को बाए मुख,
नाचन को मोर ठाड़े पाँव ही उठाए हैं।
'पूरन' जी पावस को आगम सुखद जानि,
आनँद सो वेलिन के हिय लहराए है।
द्रोही द्रुम जाति के रे अरक जवास ए रे,
तेरे जरिबे के अब द्यौस नियराए हैं।
हीतल न हीतल को सीतल करन हारे,
देखु कैसे प्यारे धन कारे घेरि आए है।

यद्यपि इनका प्रकृति चित्रण ठाकुर जगमोहनसिंह सा सुन्दर और स्वतंत्र तो नहीं बन पड़ा, तथापि वह रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा अधिक सरस और मनोहर हैं।

पूर्णजी ने कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद ब्रजभाषा में किया है। इनसे पूर्व राजा लक्ष्मणसिंह ने भी इस ग्रन्थ का अनुवाद किया था, परन्तु जैसा रस और प्रवाह इनके अनुवाद में है, वैसा उनके अनुवाद में नहीं। 'पूर्ण' जी के इस अनुवाद का नाम 'धराधर धावन' है। इनका 'चन्द्रकला भानकुमार' नाम का एक नाटक भी प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे इसमें अधिक सफल नहीं हो सके।

पूर्णजी की ब्रजभाषा बहुत शुद्ध व्याकरण के नियमों के अनुकूल और संस्कृत थी। अलकारों या शब्दों का आडम्बर कहीं प्राप्त नहीं होता। इनकी कविता देखिए—

आसा ही के सहारे अतुलित दुख में मैं धरूँ धीर जैसे।
तू हू हे भागवन्ती दुसह विरह मे राखु री धीर तैसे॥
न कोऊ नित्य भोगे अति सुख, अरु ना नित्य ही दुख भारी।
ऊँची-नीची अवस्था लखिय तु जगमें चाल ज्यों चक्रवारी॥

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (सं० १९२३–१९८९):—आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा स्थापित कवि समाज में ये समस्यापूर्ति कर अपने काव्य-कुशलता की धाक बिठा चुके थे। साथ ही तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ कवियों के संसर्ग के फलस्वरूप

इन्हें ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन का विशेष अवसर प्राप्त हुआ। अतः प्रारम्भ से ही सुकवि समाज के प्रभावस्वरूप इनकी कविता में उत्कृष्टता और गम्भीरता आ गयी। इधर फारसी, अंग्रेजी तथा संस्कृत के विस्तृत अध्ययन से और भी अधिक परिपक्वता आती गयी, परिणाम स्वरूप आधुनिक ब्रजभाषा काव्य को रत्नाकर जी ने सर्वश्रेष्ठ काव्य रत्न भेंट किए। इन्होंने तीन प्रबन्ध काव्य लिखे हैं, इनके नाम हैं 'हरिश्चन्द्र', 'गंगावतरण' तथा 'उद्धव-शतक'। इनमें 'गंगावतरण' तथा 'उद्धव शतक' बहुत प्रसिद्ध है और ब्रजभाषा-काव्य के सर्वोत्कृष्ट रत्नों में गिने जाते हैं। 'गंगावतरण' में कवि ने शृंगार, वीर, हास्य, भयानक आदि अनेक रसों का परिपाक किया है, आकाश से उतरती हुई गंगा के सम्भालने के लिए उद्यत शिवजी का उन्होंने बहुत ओजमय चित्रण किया है।

'उद्धव शतक' भाव प्रधान काव्य है। इसका विषय सूरदास, नन्ददास आदि अनेक कृष्ण भक्त कवियों द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका है, परन्तु 'रत्नाकर' ने उसमें जहाँ अनेक नवीन उद्भावनाएँ कीं वहाँ उसमें बार बार प्रतिपादित विषय को इतनी कुशलता से सम्पादित किया है कि उसमें नवीनता और रमणीयता दोनों ही आ गयी हैं। 'रत्नाकर' ने उसमें विरह वर्णन करते हुए केवल गोपियों को ही विरह से व्याकुल चित्रित न कर भगवान कृष्ण को भी विरह-वेदना से व्याप्त बतलाया है। 'उद्धव-शतक' की गोपियों में सूरदास की भक्ति भावना तथा प्रेम-निष्ठा तो वर्तमान ही है, साथही नन्ददास की तार्किकता भी आ गयी है। भक्ति युग की भक्ति भावना की अभिव्यक्ति में, अलंकारिता का आश्रय ले, कवि ने नवीन सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है।

कवि में शब्द-चित्र उपस्थित करने की अद्भुत शक्ति है। अनेक स्थलों पर 'रत्नाकर' जी ने शब्द तथा अर्थ की स्वाभाविक संगति के विशिष्ट ध्वनि के शब्दों के प्रयोग में विशेष कुशलता प्रदर्शित की है। भावों की अनुरूपता के अनुसार प्रयुक्त भाषा और शब्द चित्र का एक सुन्दर नमूना देखिए—

उमकि उमकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छवै लगीं।

हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौ लिख्यौ है कहा, कहन सबै लागीं।

'रत्नाकर' ने लाक्षणिक शब्दों का अधिक प्रयोग कर, बिना किसी भी विदेशी भाषा से प्रभावित हुए अपनी कविता मे लाक्षणिकता लाने का प्रयत्न किया है और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। ब्रजभाषा की व्यंग्यात्मक शक्ति को विकसित करने मे भी उन्हें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

'रत्नाकर' की भाषा संस्कृतनिष्ठ ब्रजभाषा है। पुराने कवियों की अपेक्षा इनकी भाषा अधिक प्राँजल और गठी हुई है। व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों का सर्वथा अभाव है किन्तु कहीं कहीं अपभ्रंश तथा पूर्वी शब्द भी प्रयुक्त किए गये हैं। कवि ने अपनी भाषा में स्थानीय मुहावरों तथा लोकोक्तियों का बहुत सुन्दर प्रयोग किया है। अलकारों के प्रयोग में भी कवि ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है।

'रत्नाकर' वास्तव मे ब्रजभाषा काव्य के उत्कृष्ट कवि थे। उनकी कविता के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

'उद्धव शतक' से—

कोऊ जोरि हाथ कोऊ नाइ नम्रता सौं माथ
भाषन की लाख लालसा सौं नहि जात हैं।
कहै रतनाकर चलत उठि ऊधव के
कातर ह्वै प्रेम सों सकता महि जात हैं।
सबद न पावत सो भाव उमगावत जो
ताकि ताकि आनन ठगे से ठहि जात हैं।
रंचक हमारी सुनौ, रंचक हमारी सुनौ
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं।

'वीभत्स' रस की व्यंजना में कहा गया 'हरिश्चन्द्र काव्य' का एक पद्य देखिए—

कहुँ सृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ सोऊ सव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत।

जहँ तहँ मज्जा माँस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥

गंगावतरण के पद्य देखिये—

भरके भानु-तुरग चमकि चलि मग सो सरके।
हरके वाहन रुकत नेंकु नहिं विधि हरि हरके॥
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय—थरके।
धुनि-प्रतिध्वनि सौं धमकि धराधर के उर फरके॥

× × × ×

छहरावति छवि कबहुँ काऊ सित सघन घटा पर।
फबति फैलि जिमि जिन्ह-छटा-हिम-प्रचुर-पटा पर॥
तिहि धन पर लहराति लुरति, चपला जब चमकै।
जल—प्रतिबिम्बित दीप-दाम-दीपसि-सी- दमकै॥

उर्दू के ढंग पर रचित प्रेम-पीर परिचायक एक पद्य देखिए—

भूख प्यास बूझत झँवति झहरात गात,
धार ह्वै बिलात सुख ताज सब रोही सौं।
हाय अति औपटी-उद्वेग-आगि जागि जाति,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सौं॥

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय :—हिन्दी के उत्कृष्टतम कवियों में गिने जाते हैं। आधुनिक ब्रजभाषा काव्य में तो 'रत्नाकर' के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। इधर खड़ी बोली मे 'प्रिय प्रवास' की रचना करने के कारण यह मुख्य रूप से खड़ी बोली के ही कवि समझे जाते हैं, परन्तु हाल में ही ब्रजभाषा में 'रस-कलस' लिख इन्होने ब्रजभाषा पर अपने पूर्ण अधिकार को सिद्ध किया है।

उपाध्याय जी ने अपनी साहित्य-सर्जना ब्रजभाषा में ही प्रारम्भ की थी। अपने निवास स्थान निजामाबाद में बाबा सुमेरसिंह के प्रयत्नों से स्थापित कविसमाज में उपाध्याय जी ने सर्व प्रथम अपनी कविताएँ बना सुनाईं। शृंगार-रस की प्राचीन परम्परा पर लिखी इनकी कविताएँ ब्रजभाषा में ही हैं।

वास्तव में उपाध्याय जी का ब्रज तथा खड़ी बोली दोना पर ही समानाधिकार था, और दोनों में ही उन्होंने सफलता पूर्वक रचना की थी।

इनके काव्य का विस्तृत पर्यालोचन हम आगे चल खड़ी बोली के प्रकरण में ही करेंगे, यहाँ संक्षेप से इनकी ब्रजभाषा-काव्य सम्बन्धी विशेषताओं का परिचय दिया जाता है।

उपाध्याय जी की ब्रजभाषा की सर्व प्रमुख रचना 'रस-कलस' है। एतद्विषयक अन्य कवियों की रचनाओं में या तो केवल शृंगार रस का ही वर्णन होता है, या फिर यदि शृंगार रस के वर्णन के साथ अन्य रसों का वर्णन किया जाता है, तो वह बहुत ही गौण रूप से, परन्तु उपाध्याय जी ने अपने ग्रन्थ 'रस-कलस' में सब रसों का वर्णन अत्यन्त तत्परता से किया है, और प्रायः सभी के वर्णन में सफलता प्राप्त की है।

उपाध्याय जी ने इस ग्रंथ को जहाँ सरस तथा भावपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है, वहाँ भाषा में चमत्कार उत्पन्न करने में भी पीछे नहीं रहे, परन्तु उन्होंने अपना ध्यान मुख्य रूप से सरस तथा ललित पद योजना पर ही केन्द्रित रखा है। नीचे हम उपाध्याय जी द्वारा प्रयुक्त अलकारों के कतिपय उदाहरण देते हैं—

छेकानुप्रास तथा वृत्यानुप्रास—

(१) उर में हिम सर सों लगत सिहरत सकल सरीर।
सी सी कहि सिसकत न को परसत सिसर समीर॥

(२) बरजोरे कत जो रहत मन मोरे सब काल।
गोरे गोरे ए गरल भरे निगोरे गाल॥

(३) अमल धवल नभ तल भयो, नवल प्रभा को पाय।
खिले कमल जल में लसत, पल पल नव छवि छाय॥

यमक—

(१) नील निचोलन के सहित, पहिरि नील मनि माल।
चली तमो मय रजनि मे, तमो मयी बनी बाल॥

उपमा :—

(१) केहि आनन्दित नहि करत, हँसि हँसि बनि सुख अंक।
प्रकृति-भाल-चंदन तिलक, नभ-तरु-कुसुम-मयंक॥

श्लेष—

(१) तजि ममता निज बरन की मल परिहरि तन दाहि।
करि मुकतन को संग नथ नाक बिराजत आहि॥

इस प्रकार शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के अनेक उत्कृष्ट उदाहरण इस ग्रन्थ से उद्धृत किये जा सकते हैं।

नायिका भेद सम्बन्धी विवेचन करते हुए उपाध्याय जी ने कुछ नवीन उद्भावनाएँ की हैं, उन्होने प्राचीन नायिकाओं के साथ धर्म-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, लोक-सेविका आदि नवीन नायिकाओं की सृष्टि की है। निम्न पद्य में उपाध्याय जी परिवार-प्रेमिका का चित्र अङ्कित करते हुए लिखते हैं—

बानी के समान हंस बाहिनी रहति बाल
नीर छीर बिमल बिवेक बिन रति है।
सती के समान सतधारि है सुखित होति
बामता मैं बामता ते रखति बिरति है।
'हरिऔध' रमासम रमति मनोरमा में
भाव अमनोरम ते लरति भिरति है।
पूत प्रेम पोत-पै अपार पूतता ते बैठि
परिवार-प्यार-पारावार में फिरति है॥

परन्तु विभिन्न नायिकाओं का किस रस से सम्बन्ध है, उसका उपाध्याय जी ने वर्णन नहीं किया। आचार्य शुक्ल ने ये भेद रस सिद्धान्त के अनुसार ठीक नहीं माने।

उपाध्यायजी सुधारवादी और देश भक्त थे। समाज सुधार के लिए किए आन्दोलनों से उन्हें विशेष सहानुभूति थी, उन्होंने सदाही स्त्री जाति के अधिकारों का समर्थन किया, और उनको शिक्षा दीक्षा पर विशेष बल दिया। हिन्दु समाज में प्रचलित कुप्रथाओं को वे विशेष रूप से नापसन्द करते थे,

और इनका विरोध उन्होंने अपनी कविताओं में भी बराबर किया है।

उपाध्यायजी ने नवीन शैलीपर प्रकृति-चित्रण किया है, परन्तु प्राचीन काल में चली आ रही प्रकृति-वर्णन की सम्पूर्ण परिपाटियों में भी इन्होंने पर्याप्त सफलता पूर्वक प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया है। प्राचीन और नवीन दोनों ही परिपाटियों में किया गया उनका प्रकृति चित्रण उत्कृष्ट बन पड़ा है।

इन्होंने व्रजभाषा में बहुत सुन्दर दोहे लिखे है। काव्य गुणों की दृष्टि से उपाध्याय जी के ये सरस दोहे मतिराम आदि उत्कृष्ट कोटि के कवियों के समकक्ष बन पड़े है। प्राचीन काव्य शैली पर रचना करते हुए भी उपाध्यायजी ने अपनी मौलिकता का सर्वत्र प्रदर्शन किया है। इनके कुछ दोहे उदाहरणार्थ नीचे दिए जाते हैं—

चाव भरे चितचोर को लखि चितवत ललचात।
चंचल-नयनी को भयो चित चलदल को पात॥
कुल- ललना सकुची सहमि मिले नैन से नैन।
मुँह के मुँह में ही रहे कहे अधकहे बैन॥
कित इनकी गति है नहीं कहाँ न इनको जोर।
काकें उरमें नहिं गड़ी बाँके दृग की कोर॥

पहले लिखा जा चुका है कि उपाध्याय जी सा व्रज और खड़ी बोली पर समानाधिकार बहुत कम कवियों का है। इनकी व्रजभाषा अत्यन्त शुद्ध और मधुर है। कहीं २ पूर्बी शब्दों को भी प्रयुक्त किया गया है, परन्तु शब्दों के रूप विकृत कर भाषा को असंस्कृत नहीं किया गया। भाषा तथा भाव दोनों ही दृष्टियों से उपाध्यायजी का काव्य उत्कृष्ट है।

पं० श्रीधर पाठक (सवत् १६१६–१६८५):—ने भी व्रजभाषा में बहुत सुन्दर सरस और चित्ताकर्षक रचनाएँ की हैं। परम्परागत रूढ़ियों को त्याग इन्होंने अपनी रुचि के अनुकूल नवीन विषयों का चुनाव कर उनपर रचना की। इन का अनुरागी चित्त अधिकतर प्राकृतिक सौन्दर्य के अद्भुत उपकरणों में ही रमा है, और यही कारण है कि इन्होंने प्राकृतिक सौन्दर्य

के विभिन्न उपकरणों पर बहुत ही सरस और मनोहर रचना की है। प्रकृति मे अनुरागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर और अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से उसका निरीक्षण कर उन्होंने अनेक सरस शब्द चित्र उपस्थित किए हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के उपकरणों पर लिखी हुई उनकी कविताओं में घन विनय, हिमालय वर्णन तथा काश्मीर वर्णन बहुत उत्कृष्ट हैं, ऋतुओं का वर्णन भी बहुत मनोरम और सुन्दर बन पड़ा है। ठाकुर जगमोहनसिंह के अनन्तर पाठकजी को ही प्रकृति के रमणीय सौन्दर्य ने आकर्षित किया।

देशभक्ति, समाजसुधार आदि विषयों परभी पाठकजी ने लिखा है, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उनकी देशभक्ति की रचनाएँ आधुनिक समय की सी उग्र नहीं बन पड़ीं।

पाठकजी की भाषा अत्यन्त मधुर और सरस है, 'ऋतु संहार' के अनुवाद की भाषा तो प्राचीन कवियों की टक्कर की है, परन्तु अन्य ग्रन्थों की भाषा खड़ी बोली के अधिक निकट है, फिर भी वह सरस, मधुर तथा प्रवाह पूर्ण है।

पाठकजी ने अंग्रेजी—कवि गोल्डस्मिथ की कविता पुस्तकों का अनुवाद 'ऊजड गॉव', 'एकान्तवासी योगी' और 'श्रान्त पथिक' के नाम से किया है। ये अनुवाद बहुत सुन्दर बन पडे हैं, और स्वतंत्र रचना के सदृश प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त पाठकजी ने अत्यन्त मधुर और भाव पूर्ण स्फुट रचनाएँ भी की हैं। नीचे इनकी कविता के उदाहरण देखिए—

प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पलपल पलटति भेस छनिक छवि छिनछिन धारति॥
विमल अंबुसर मुकरन्ह महँ मुख बिंब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आपुही तन मन वारति॥

बारि-फुहार-भरे बदरा, सोइ सोहत कुञ्जर से मतवारे।
बीजुरी-जोति धुजा फहरै, घन-गर्जन-सब्द सोई हैं नगारे।
रोर को घोर को ओर न छोर. नरेसन की-सी छटा छविधारे।
कामिन के मन को प्रिय पावस, आयो, प्रिये नव मोहिनी डारे॥

अगनित पर्वत खंड चहूँ दिसि देत दिखाई।
सिर परसत आकास चरन पाताल छुआई॥
सोहत सुन्दर स्वेत पांति तर ऊपर छाई।
मानहुँ विधि पट हरित स्वर्ग सोपान विछाई॥

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल (सं० १९४१-९८):—उच्चकोटि के गद्य लेखक और समालोचक हैं। इधर ब्रज भाषा-काव्य से भी इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रजभाषा में की गई इनकी कविताएँ भावपूर्ण और सरस हैं। शुक्ल जी ने एडविन आर्नोल्ड के 'लाइट आफ एशिया (Light of Asia) का आधार ले 'बुद्ध-चरित्र' नामक काव्य लिखा है। शुक्ल जी सवेदनशील और करुणार्द्र प्रकृति के कवि हैं, इनके काव्य का नायक भी उनकी प्रकृति के अनुकूल ही है, इसी कारण इन्हे अपने काव्य में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

शुक्ल जी को प्राकृतिक सौन्दर्य से विशेष स्नेह था, उन्होंने अपनी कविताओं में भी प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया है। परन्तु शुक्ल जी के प्रकृति-चित्रण में एक विशेषता है कि वे प्रकृति के केवल सौन्दर्य पूर्ण पक्ष पर ही मुग्ध नहीं थे, अपितु वे प्रकृति के अनुरजनहीन पक्ष का भी वैसा ही सुन्दर वर्णन करते थे। शुक्ल जी के प्रकृति-चित्र स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत हैं, उन्होंने प्रकृति पर अपनी भावनाओं का आरोप नहीं किया।

शुक्ल जी की भाषा पूर्ण प्रवाहमयी बोलचाल की ब्रजभाषा है, उसमें वाह्याडम्बरों को सर्वथा दूर रखा गया है। शुक्ल जी स्वभाव से जैसे सरल थे, वैसे ही उनकी भाषा सरल है।

शुक्ल जी की कविता का उदाहरण देखिए:—

देखि परै साँवरे सलोने, कहुँ गोरे मुख,
भ्रकुटी विशाल बंक, बरुनी बिछी है श्याम।
अध खुले अधर दिखात दन्त कोर कछु,
चुनि धरे मोती मानौ रचिबे के हेत दाम।
कोमल कलाई गोल, छोटे पाँव पैजनी है,
देति झनकार जहाँ हिलै कहूं कोउ वाम।

स्वप्न टूट जात वाको, जामैं सो रही है पाय
कुँवर रिझाय उपहार कछु अभिराम ॥

पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' (संवत् १६४१–७५):—अपनी माधुर्यपूर्ण कविताओं के लिए हिन्दी जगत में विख्यात हैं। 'कविरत्न' जी ने भवभूति के 'उत्तरराम चरित' और 'मालती माधव' का बहुत सरस और सुन्दर अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त आपने प्रेम विषयक बहुत ही सुन्दर स्फुट कविताएँ रची हैं। 'कविरत्न' जी ब्रजराज के परम उपासक थे, और ब्रज माधुरी पर अत्यन्त मुग्ध थे। यही कारण है कि खड़ी बोली के युग में भी इन्होंने ब्रजभाषा में ही कविता की है। ये एक अत्यन्त सरल और भक्त हृदय के कवि थे। अपनी रचनाएँ इन्होंने अधिकतर प्राचीन कृष्ण-भक्त कवियों की शैली पर ही की हैं। इनकी कविताओं में 'भ्रमरदूत' तथा 'प्रेमकली' बहुत प्रसिद्ध हैं। 'भ्रमरदूत' में इन्होंने जहाँ देश की दयनीय दशाका अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है, वहाँ अपनी वेदना-पूर्ण कथा का भी संकेत किया है। ब्रजभाषा में शुद्ध राष्ट्रीय कविताओं के ये प्रथम लेखक थे।

ये ब्रजभूमि के निवासी थे इस कारण इनकी भाषा अत्यन्त मधुर, प्रवाहपूर्ण और सरस है, परन्तु परम्परागत प्रयुक्त शब्दों तथा प्रयोगों की कमी कहीं कहीं खटकती है।

'कविरत्न' जी की स्फुट रचनाएँ 'हृदय-तरंग' में संग्रहीत हैं। नीचे इनकी कविता का उदाहरण दिया जाता है—

कोमल जो नव फूलखिले,
हिय बेधि बिधे! दुःख तार पिरोये।
देस दरिद्र दुःखी फिरई
तुम काहू पै कोन नसा नहीं भोये।
विप्र सुदामा का हेरी, इतो
अपनो जन जानि दयानिधि रोये।
भारत गारत हेरि, कितै,
करुना तजिकैं करुनानिधि सोये॥

भयो क्यों अनचाहत को संग ?
सब जग के तुम दीपक, मोहन ! प्रेमी हमहुँ पतंग ॥
लखि तव दीपति देह-शिखा में निरत, बिरह लौ लागी ।
खींचति आपसों आप उतहिं यह, ऐसी प्रकृति अभागी ॥
यद्यपि सनेह-भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात ।
योग वियोग दोउन में इक सम नित्य जरावत गात ॥

× × ×

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई ।
स्याम-विरह-अकुलाती, पाती कबहु न पाई ॥
जिय प्रिय हरि-दरसन बिना, छिन-छिन परत अधीर ।
सोचति मोचति निसि दिना, निसरत नैननु नीर ॥
विकल कल ना हिये ।

वियोगीहरि (जन्म सं० १९५३—) :—ने वीर रस पर ७०० दोहे लिख 'वीर सतसई' का निर्माण कर १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषक प्राप्त किया है । वियोगीहरि जी मुख्य रूप से वैष्णव भक्त कवि हैं, और इन्होंने भक्तिकाल के कवियों के ढंग पर भक्ति पूर्ण रचनाएँ भी की हैं ; परन्तु इनका सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'वीर सतसई' वीर रस से ही सम्बन्धित है । इसमें कवि ने संस्कृत आचार्यों द्वारा उद्भाषित चार प्रकार के—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर तथा दयावीर—नायकों पर कविता की है । इन विभिन्न नायकों के चरित्र उन्होंने लौकिक जीवन के महान् व्यक्तियों से ही चुने हैं, इसी कारण इनका वीर-काव्य जनता मे बहुत आदृत किया गया है, और बड़े चाव से पढ़ा जाता है ।

वियोगहरि एक देश प्रेमी और समाज सुधारक कवि हैं । वैष्णव धर्म के अनुयायी होते हुए भी इनमें कट्टरता नहीं है, ये वर्तमान हिन्दु समाज में सुधारों के पक्षपाती हैं, और इस विषय में स्वयं सक्रिय सहयोग देते हैं । अपनी कविताओं में भी वियोगीहरि ने समाज की इन आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया है ।

भक्ति रस के अतिरिक्त वियोगीहरि ने प्रेम विषयक कविताएँ भी की हैं, परन्तु इनके प्रेम वर्णन मे लौकिकता न हो अलौकिक भावो की प्रधानता है ।

भाषा इनकी अधिक परिमार्जित और सुन्दर नहीं। स्थान २ पर विकृत प्रयोग मिल जाते हैं, जिससे कवि के भाषा-अधिकार पर सन्देह होता है, परन्तु भक्ति रस पूर्ण पदों की भाषा में ये दोष नहीं है। वहाँ तो इनकी भाषा में भक्त कवियों की भाषा का एक विशेष माधुर्य और प्रवाह आ गया है। प्राचीन अलंकार प्रधान शैली पर रचना करने में भी इन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है, परन्तु इन्होंने अलङ्कार-विधान पर विशेष बल नहीं दिया। नीचे इनकी काव्य शैली के उदाहरण दिये जाते हैं—

माधव आज कहौ किन साँची ?
क्यों हम नीचन तें हरि रूठे ऊँचन में मति राँची ॥
यंत्रित ब्रज कपाटनि गढ़ ये दृढ़ मंदिर तुम पाए।
बलिहारी रणछोड़ नाथ जू! भले भाजि इत आए ॥
हम सबके अध देखि दुरे हौ किधौं मंदिरन-माहीं।
कै कछु डरत उच्च बसिनकौ, छुअत न हमरी छाहीं ॥
पै इतहूँ नहि कुशल तुम्हारी, कल न लेन हम दैहैं।
जो पै हिये प्रेम कछु ह्वै है, तुम्हें खैंचि प्रभु लै हैं ॥

'वीर सतसई' से—

पावस ही में धनुष अब, नदी तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नव रस ही में वीर ॥
जोरी नांव संग 'सिंह' पद, करत सिंह बदनाम।
ह्वै हौ कैसे सिंह तुम, करत सृगाल के काम ॥
वह चित्तोर की पद्मिनी, किमि पै हो सुलतान।
कब सिंहनी अधरान कौं, कियो स्वान मधुपान ॥
माथा रहौ बन रहौ, तजै न सत्य अकाल।
कहत कहत ही पुनि गए, धनि गुरु गोविंदलाल ॥

आधुनिक ब्रज भाषा काव्य में उपाध्याय जी के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। इनके अतिरिक्त आधुनिक ब्रजभाषा काव्य में बिहारी की दोहा शैली पर रचना करने वाले दुलारेलाल भार्गव का भी मुख्य स्थान है। ला० भगवान दीन 'दीन', गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही', पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० नाथूराम

शंकर, प० रूपनारायण पाण्डेय आदि ने भी ब्रजभाषा काव्य की पर्याप्त वृद्धि की है। इधर श्री हरदयालुसिंह ने 'दैत्यवंश' नामक प्रबन्ध-काव्य लिख ब्रज-भाषा में प्रबन्ध काव्य की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। अब भी ब्रज-भाषा काव्य की परम्परा बराबर विकसित हो रही है।

आधुनिक हिन्दी काव्य

(खड़ी बोली-काव्य)

खड़ी बोली जब गद्य की भाषा एकमत से स्वीकार करली गयी तो उस समय यह एक विचित्र प्रथा प्रतीत होने लगी कि हिन्दी के गद्य तथा पद्य के पृथक २ रूप हों। धीरे २ इसी विचार धारा ने एक आन्दोलन का रूप धारण कर लिया, और खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा के समर्थकों में उग्र वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। 'खड़ी बोली' को पद्य की भाषा के रूप में स्वीकृत कराने में सर्व प्रथम आन्दोलनकर्त्ता मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री थे। उन्होंने खड़ी बोली का पक्ष समर्थन करते हुए एक 'खड़ी बोली का आन्दोलन' नामक पुस्तक लिखी, जिसमे उन्होंने ब्रजभाषा तथा अवधी को हिन्दी मानने से ही इन्कार कर दिया। उन्होंने अपने व्याख्यानों, तथा लेखों द्वारा अपने प्रचार को और भी उग्ररूप प्रदान किया, परिणाम स्वरूप ब्रजभाषा के समर्थक भी धीरे २ मैदान में आए और उन्होंने ब्रजभाषा के समर्थन में खड़ी बोली मे अनेक दोषों को प्रदर्शित करते हुए ब्रजभाषा को काव्य भाषा के रूप में जारी रखने का बलपूर्वक समर्थन किया। ब्रजभाषा के इन समर्थकों में पण्डित प्रताप नरायन मिश्र तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' मुख्य थे, परन्तु धीरे धीरे बाबू अयोध्या प्रसाद के आन्दोलन को पर्याप्त सफलता मिलने लगी और अनेक कवियों ने खड़ी बोली में रचना प्रारम्भ की। यहाँ तक कि खड़ी बोली के कट्टर विरोधी भी धीरे २ नर्म हुए और उन्होंने भी खड़ी बोली में अपनी काव्य-कुशलता का परिचय देना प्रारम्भ किया। द्विवेदी

जी के आगमन से पूर्व ही यह वाद-विवाद समाप्त हो चुका था, और ब्रजभाषा के अनेक उत्कृष्ट कवि भी—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' भी—खड़ी बोली में कविता करने लगे। वर्तमान काल में तो खड़ी बोली पद्य की भाषा के रूप में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो चुकी है, और उसमें आज माधुर्य, प्रसाद, तथा ओज आदि गुणों के अन्वेषकों को निराश नहीं होना पड़ेगा।

खड़ी बोली की कविता का विकास

मेरठ तथा देहली के आस पास बोली जाने वाली जन भाषा ही खड़ी बोली कहलाती है। जन भाषा के रूप में तो यह विगत शताब्दियों से उक्त प्रदेश में व्यवहृत होती आ रही है, और इसमें लोक-साहित्य की सृष्टि भी बरावर होती रही। अपभ्रंश काल का यह पद्यांश—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कन्तु।

खडी बोली के पद्य का प्राचीनतम नमूना कहा जा सकता है। खड़ी बोली के प्राचीनतम कवि मियां खुसरो कहे जाते हैं। उन्होंने दिल्ली के आस पास की बोल चाल की भाषा को ले उसमें रचना की है। उनसे पूर्व भी से दो मुसलमान कवियों—मसूदी तथा फरीद—ने खडी बोली में रचना की है, परन्तु खुसरो की कविता में प्रयुक्त खडी बोली आधुनिक खडी बोली के अधिक निकट है। खुसरो के पश्चात् लोक गीतों की रचना खड़ी बोली में होती रही। कबीर की सधुक्कड़ी भाषा खडी बोली में अन्य भाषाओं के मिश्रण से ही बनी है। नानक तथा दादू दयाल की कविताओं में तो कहीं-कहीं खड़ी बोली का विशुद्ध रूप भी दृष्टिगोचर हो जाता है, जैसे नीचे के पद्यों से स्पष्ट हो जायगा—

सांसे मांसे जीव तुम्हारी, तूहै खरा पियारा।
नानक शायर यूं कहत है सच्चे परवर दिगारा॥

—नानक

पूरन ब्रह्म विचारिये, सकल आतमा एक।
काया के गुन देखिए नाना बरन अनेक॥

बुद्धि विवेक बिचार विनु मानुष पशू समान।
समुझाये समुझइ नहीं दादू परम अज्ञान॥

—दादूदयाल

यद्यपि दादूदयाल के उपर्युक्त दोनों दोहे वर्तमान खडी बोली के अनुरूप हैं, परन्तु खडी बोली के तत्कालीन कवियों पर ब्रजभाषा का प्रभाव स्थान २ पर लक्षित हो जाता है। उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त अनेक मुसलमान तथा हिन्दु कवि खडी बोली में रचना करते रहे। इनमें 'विरह-लीला' के लेखक आनन्द घन, गुजराती कवि दयाराम और 'हिन्दी' के लगभग सभी प्रसिद्ध कवि आ जाते हैं। उर्दू का विकास भी खड़ी बोली से ही हुआ है, मुसमान राजदरबारों के आश्रय में पल्लवित होने के कारण शीघ्र ही उसका विकास और प्रचलन हो गया, परन्तु विशुद्ध खडी बोली जन पदिक गीतों, लावनियां, भडैतियों और खंडों मे प्रयुक्त होती रही। खंडों की कविता बहुत जोशीली होती थी, और इसमें प्रायः वीर चरित्र–नायकों का कथात्मक वर्णन किया जाता था। वर्तमान काव्य-धारा के विकास से पूर्व खडी बोली प्रधान रूपसे जनभाषा ही रही और उसमें उच्च कोटि के साहित्य की सर्जना न हो सकी।

नवीन युग के प्रारम्भ के साथ ही खडी बोली जब काव्य भाषा के रूप में अपना ली गयी तो उसमें शीघ्र ही उत्कृष्ट कोटि की काव्य सर्जना प्रारम्भ हो गयी। आधुनिक खडी बोली-काव्य को हम सुविधा की दृष्टि से निम्न लिखित मुख्य कालों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) प्रारम्भिक काल—(लगभग सं० १९२४ से १९६०) में खडी बोली आधुनिक साहित्य की सृष्टि प्रारम्भ होती है।

(२) मध्यकाल—(लगभग सं० १९६० से १९७५) मे पं० महावीरप्रसाद का आविर्भाव, और खड़ी बोली का परिमार्जन होता है।

(३) नवीन काल—(लगभग सं० १९७५——) मे खड़ बोली परिमार्जित ही 'प्रसाद' तथा 'पन्त' आदि उत्कृष्ट कवियों द्वारा प्रयुक्त की जाती है।

(१) प्रारम्भिक काल

हम पीछे लिख चुके हैं कि किस प्रकार भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने हिन्दी काव्य को रीतिकालीन परम्परा से मुक्त कराने का प्रयत्न किया, और किस प्रकार उन्होंने नवीन भावनाओं और समस्याओं का काव्य मे समावेश कर उसे सच्चे रूप में जनता का प्रतिनिधित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया। निश्चय ही भारतेन्दु बाबू और उनके सहयोगी अपने प्रयत्नों मे पर्याप्त सफल हुये, परन्तु प्राचीन परम्परा के मोह को वे एक दम नहीं छोड सके। उन्होंने भी प्राचीन परिपाटियों का अनुसरण कर उनमें रचना की, और भाषा तथा छन्दों की दृष्टि से भी अपने आप को प्राचीन परम्परा से ही सम्बन्धित रखा। विषय तथा भावो की दृष्टि मे निश्चय ही उन्होंने काव्य में बहुत कुछ नवीनता उत्पन्न की, परन्तु भाषा, भाव और छन्दों आदि की दृष्टि से हिन्दी काव्य में श्रीधर पाठक ने ही परिवर्तन उपस्थित किया। प० श्रीधर पाठक ने न तो प्राचीन परिपाटी पर शृंगार वर्णन ही किया, न समस्या पूर्ति ही की और न छंद आदि विषयक परिपाटियों का अनुसरण ही किया। उन्होंने कविता मे जहाँ नवीन भावनाओ और विषयों का समावेश किया वहाँ नवीन छंद और नवीन शैली को भी अपनाया। यह ठीक है कि प० श्रीधर पाठक ने व्रजभाषा में भी रचना की है, परन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिए कि पाठक जी ने न तो व्रज भाषा की परम्परागत काव्य परिपाटी का ही अनुसरण किया और न विषय का ही। व्रजभाषा में भी उन्होंने नवीन भाव और नवीन शैली से रचना की। उन्होंने प्रकृति के विभिन्न सौन्दर्य-पूर्ण उपकरणों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर उनका अपने काव्य में वर्णन किया। इस प्रकार नवीन भाव, नवीन शैली तथा नवीन भाषा का हिन्दी काव्य मे समावेश करने के कारण श्रीधर पाठक का हिन्दी साहित्य में बहुत महत्त्व है।

पं० श्रीधर पाठक—को आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी काव्य में स्वच्छन्दतावाद—Romanticism—का प्रवर्त्तक माना है। निश्चय ही हिन्दी काव्य में—जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं—नवीन भावनाओ और शैली का समावेश पाठक जी ने ही किया। खड़ी बोली काव्य के तो वे जनक

कहे जा सकते हैं। संवत् १९४३ में पाठकजी ने सर्व प्रथम 'एकान्तवासी योगी' नाम की रचना खड़ी बोली में की। इसमे लावनी या ख्याल में कविता की गई है। इसकी भाषा में स्वाभाविक रूप से ही ब्रजभाषा का सा माधुर्य आ गया है; नित्य प्रयोग मे लाए जाने वाले शब्दों को की इस ढंग से रखा गया है कि उसमें अद्भुत सरसता तथा मधुरता आ गई है। 'एकान्त योगी' का एक पद्य देखिए—

> दूर एक जंगल मे जिसका नही जगत को कुछ भी ध्यान।
> बाल्य वयस से बसा हुआ था वृद्ध एक योगी सुज्ञान॥
> घास पात था विस्तर उस्का दीन गुफा सुखवासस्थान।
> कंदमूल स्वादिष्ट मिष्ट फल, विमल कूपजल भोजन पान॥

'एकान्त योगी' के पश्चात् पाठक जी ने गोल्डस्मिथ की ट्रैवलर (Traveller) नामक पुस्तक का अनुवाद खड़ी बोली मे किया है। इसमें पाठक जी ने हिन्दी के पुराने रोला छन्द मे रचना की है। संस्कृत शब्दो के मिश्रण के कारण भाषा मे जहाँ स्वाभाविक प्रवाह आ गया वहाँ साहित्यिकता भी बढ़ गयी है।

इनके अतिरिक्त पाठकजी ने हिन्दी के विभिन्न छन्दो को ले देश तथा समाज की विभिन्न समस्याओ पर खडी बोली मे अनेक स्फुट रचनाएँ की हैं। भारत माता की अभिनन्दन में कहा गया यह पद देखिए—

> हे बंदनीय भारत अभिनन्दनीय भारत।
> हे न्याय बन्धु निर्भय, निर्बन्धनीय भारत॥
> मम प्रेम-प्राणि-पल्लव-अवलम्बनीय भारत।
> भारत हमारा कैसा सुन्दर सुहा रहा है॥

इस प्रकार इन पद्यों मे सस्कृत शब्दो को बहुलता से प्रयुक्त कर पाठकजी ने खडी बोली के रूप को परिमार्जित करने था प्रयत्न किया। इसी प्रकार उन्होंने खडी बोली को हिन्दी के विभिन्न छन्दो के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया। निम्नलिखित सवैये में प्रयुक्त खड़ी बोली का रूप देखिए—

इस भारत में बन पवन तूही तपस्वियों का तप आश्रम था।
जग तत्व की खोज में लग्न जहाँ ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था।
जब प्राकृत विश्व का भ्रम और था सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा बनवास की थी तब और, प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

पाठक जी प्रतिभा-सम्पन्न कल्पनाशील और भावुक कवि थे। उन्होंने ब्रज तथा खड़ी बोली दोनो ही काव्य में समान रूप से सफलता प्राप्त की है। प्रकृति से उन्हें विशेष प्रेम था, प्राकृतिक सौन्दर्य के उपकरणों का वर्णन उन्होंने अंग्रेजी के वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) आदि सुकवियों की शैली पर किया है। प्राकृतिक दृश्यों पर बिना मानवीय भावों का आरोप कर वर्णन करने में एक विशेष स्वाभाविकता आ जाती है, और ऐसे वर्णनो में प्रायः विशुद्ध प्राकृतिक सौन्दर्य का ही चित्रण होता है जिसे पढ़ पाठक विशेष आनन्द प्राप्त कर सकता है। काश्मीर आदि पार्वत्य प्रदेशो में रहने के कारण पाठक जी को प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का अवसर भी पर्याप्त उपलब्ध हुआ था, अतः प्रकृति के निकट सम्पर्क में आने से और तत्सम्बन्धी अनुभूतियों के वर्णन से उनकी कविता में विशेष सौन्दर्य आ गया है। इनका प्राकृतिक सौन्दर्य सम्बन्धी एक पद्य देखिए—

विजन वन प्रांत था प्रकृति मुख शांत था,
अटव का समय था रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविंद नभ नील सुवि-
शाल नभ वक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥

इसी प्रकार—

विन्ध्या के बन्य, विभाग में एक,
सरोवर स्वच्छ सुहावना है।
कमलो से भरा, भ्रमरों से घिरा,
विटपो से सजा, मन भावना है॥

पाठक जी की भाषा विशुद्ध खड़ी बोली नहीं हो सकी, उसमे कहीं कहीं ब्रजभाषा के शब्दों को भी प्रयुक्त किया गया है।

पं० नाथूराम शंकर शर्मा (संवत् १६१६–१६८८) :—ब्रजभाषा के सफल कवियों में गिने जाते हैं। खड़ी बोली में भी इन्होंने पर्याप्त रचना की है, परन्तु इनकी रचनाओं में उपदेशात्मकता की प्रधानता है। कट्टर आर्य-समाजी होने के कारण यह प्रवृत्ति और भी अधिक प्रबल हो गयी। इन्होंने समाज सुधार, विधवा विवाह आदि अनेक विषयों पर रचना की है, परन्तु जहाँ कहीं इन्होने इस उपदेश प्रवृत्ति को छोड़ रसमग्न हो कविता की है वहाँ ये बहुत सफल हो पाये हैं। इनकी भाषा प्रान्तीय शब्दों से मिश्रित है और उसमें कुछ अक्खड़ता की छाप है। इनकी एक शृंगारिक कविता उदाहरणार्थ नीचे दी जाती है—

आँख से न आँख लड़ जाए इसी कारण से,
भिन्नता की भीत करतार ने लगाई है।
नाक मे निवास करने को कुटी शकर की,
छवि ने छपाकर की छाती पै छवाई है।
कौन मात्र लोभ कीर तुण्ड की कठोरता में,
कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।
सैकड़ों नकीले कवि खोज खोज हारे पर,
ऐसी नासिका की और उपमा न पाई है॥

राय देवीप्रसाद पूर्ण :—ने खडी बोली का प्रचलन होने पर उसमें भी रचना कर अपनी काव्य कुशलता का परिचय दिया है। खड़ी बोली की काव्य रचना में भी इन्होंने ब्रजभाषा-काव्य में वर्णित विषयों को ही अपनाया हैं। नीचे इनका एक पद्य देखिये—

हिलते थे वृक्षों के पल्लव रुचिर अधीर,
लगती थी आगत सरीर मे सुखद समीर।
मानो करके कर सहस्र निज, सेवा आतुर चातुर बाग,
व्यजन क्रिया से मन रंजन कर व्यंजन करता था अनुराग।

(२) मध्यकाल

खड़ी बोली के मध्यकाल के काव्य की मुख्य रूप से तीन प्रवृत्तियाँ थी, जिन्हें कुछ कवियो ने स्वतन्त्र रूप से और कुछ ने द्विवेदी जी के प्रभाव के अन्तर्गत रह पुष्ट करने के प्रयत्न किए। ये प्रवृत्तियाँ सक्षेप से इस प्रकार रखी जा सकती है—

(१) परम्परागत वैष्णव काव्य-धारा; इसके अन्तर्गत कृष्णकाव्य और रामकाव्य दोनों की ही वृद्धि और विकास हुआ।

(२) शृंगार-प्रधान काव्य, जिसमें आधुनिक काल के प्रभाव के अन्तर्गत प्रेम-विषयक रचनाएँ की गयीं।

(३) राष्ट्रीय तथा जातीय काव्य। समय तथा परिस्थितियाँ ही इस प्रवृत्ति की जनक हैं।

यहाँ हम तीनों प्रवृत्तियों से सम्बन्धित कवियों का परिचय देते हुए उनकी विशिष्ट प्रवृत्ति का परिचय देते जाएँगे।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय :—का सक्षिप्त परिचय हम पीछे ब्रज-भाषा काव्य के प्रकरण में दे चुके हैं, और बतला चुके है कि उपाध्याय जी ब्रजभाषा के उत्कृष्ट कवियों में स्थान प्राप्त करते हैं। इधर खड़ी बोली के प्रचलन के अनन्तर इन्होने खड़ी बोली में रचना प्रारम्भ की और शीघ्र ही इस क्षेत्र में उन्हे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। 'प्रिय-प्रवास' उपाध्याय जी की खड़ी बोली की सर्व श्रेष्ठ रचना है। यह एक प्रवन्ध काव्य है, और इसमे आधुनिक दृष्टिकोण से कृष्ण के चरित्र का वर्णन किया गया है। भगवान् कृष्ण का मथुरागमन, राधा तथा ब्रजवासियों का विरह वर्णन और इनके साथ कृष्ण की बाल-लीलाओं के वर्णन को कवि ने अपनी कथा का आधार बनाया है। पौराणिक युग के चरित्र-नायकों मे अलौकिक गुणों के स्थान पर मानवीय गुणों की स्थापना की प्रवृत्ति से उपाध्याय जी विशेष रूप से प्रभावित हुये हैं। उन्होने कृष्ण को अलौकिक रूप मे चित्रित न कर पूर्ण मानव के

रूप में चित्रित किया है। भारतीय साहित्य में कृष्ण के चरित्र को अधिकांश में कलंकित रूप में ही प्रस्तुत किया गया है, रीतिकालीन हिन्दी कवियों ने भगवान् कृष्ण तथा राधा के निर्मल प्रेम को वासनामयी प्रवृत्तियों के कारण अत्यन्त कुत्सित रूप में प्रस्तुत किया, परन्तु उपाध्याय जी के कृष्ण लोकनायक हैं, ब्रज के सर्वप्रिय नेता हैं, और प्रत्येक ब्रजवासी उन्हें प्रेममयी दृष्टि से देखता है, और उनके अलौकिक रूप पर मुग्ध है। भगवान् कृष्ण जहाँ शुद्धाचरण आदि से सम्पन्न हैं, वहाँ वे अनुपम सौन्दर्य सम्पन्न भी हैं। उपाध्याय जी ने कृष्ण को आन्तरिक तथा वाह्य दोनों ही सौन्दर्यों से प्रतिष्ठित किया है। कवि कृष्ण के अनुपम सौन्दर्य का चित्रण करता हुआ लिखता है—

अतसि पुष्प अलंकृत कारिणी।
सुछवि नील सरोरुह वर्द्धिनी।
नवल सुन्दर श्याम शरीर की।
सजल नीरद सी कलकान्ति थी।
अति समुत्तम अंग-समूह था।
मुकुर मंजुल औ मन भावना।
सतत थी जिसमें सुकुमारता।
सरसता प्रतिविम्बित हो रही।
विलसता कटि में पटपीत था।
रुचिर वस्त्र-विभूषित गात था।
लस रही उर में वनमाल थी।
कलदुकूल अलंकृत कंध था।
मकर के तन के कलकेतु से।
लसित थे वर कुण्डल कान में।
घिर रही जिनके सब ओर थी।
विविध भावमयी अलकावली।
मधुरिमा-मय था मृदु बोलना।
अमिय-संचित सी मुसकान थी।

समद् थी जन-मानस मोहती।
कमल लोचन की कमनीयता।

वाह्य सौन्दर्य के अतिरिक्त कृष्ण को कवि ने आन्तरिक सौन्दर्य से सपन्न बतलाते हुए लिखा है—

बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी।
छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यन्त प्यार सँग थे मिलते सबो से।
वे थे सहायक बड़े दुख के दिनो में।
मात पिता गुरुजनों वय मे बड़ों को।
होते निरादृत कहीं यदि देखते थे।
तो खिन्न हो, दुखित हो लघुको सुतो को।
शिक्षा समेत बहुधा बहु शान्ति देते।
थे राजपुत्र उनमे मद था न तो भी।
वे दीन के सदन थे अधिकांश जाते।
रोगी, दुखी, विपद आपद में पड़े की।
सेवा अनेक निज हस्त से थे॥

कृष्ण को लोक-नायक के रूप में चित्रित करते हुए उपाध्याय जी ने उनमें लोक सेवा की भावना को प्रदर्शित किया है। महावृष्टी के कारण ब्रज मे प्रलय का सा दृश्य उपस्थित हो जाता है, चारों ओर जल की अधिकता से प्राणी पीड़ित और त्रसित हो जाते हैं, श्रीकृष्ण अपने साथियों सहित स्वयंसेवक के रूप में सेवा कार्य में जुट जाते हैं, दूर अकिंचन की कुटियाओं में पहुच सम्वलहीन परम वृद्धों को बालिकाओं और विधवाओं को आश्रय दे वे उन्हें सुरक्षित स्थानों में पहुंचाते हैं। श्रीकृष्ण की इस अवस्था का चित्रण करते हुए उपाध्याय जी लिखते हैं—

परम सिक्त हुआ वपुवस्त्र था।
गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र समीर था।
पर विराम न था व्रज बन्धु को।

पहुंचते वह थे शर वेग से।
विपद् संकुल आकुल ओक में।
तुरत थे करते वह नाश भी।
प्रथित वीर समान विपत्ति का।

तथा

यदि व्रजाधिप के प्रिय लाड़िले।
पतित का कर थे गहते कहीं।
उदक में घुस तो करते रहे।
वह कहीं जल बाहर मग्न को।

यही कारण है कि कृष्ण सम्पूर्ण व्रज के प्यारे हैं, युवकों के स्वभाव सिद्ध नेता हैं तो वृद्धों के प्रिय पुत्र के सदृश हैं। अपने आन्तरिक और बाह्य गुणों के कारण वे व्रज-वनिता वर्ग में अत्यन्त प्रेम-भरी दृष्टि से देखे जाते थे। कृष्ण के मथुरा के लिए प्रस्थान करते समय सम्पूर्ण व्रज व्याकुल हो उठता है। कहीं व्रज देवी यशोदा अत्यन्त व्याकुल हो विलाप कर रही है तो कहीं राधा और गोपियाँ विकल हो चुपचाप आँसू बहा रही हैं। इतने में ही एक वृद्ध ने आ अक्रूर से कहा—

सच्चा प्यारा सकल व्रज का वंश का है उजाला।
दीनो का है परम धन औ वृद्ध का नेत्र तारा।
बालाओ का प्रिय स्वजन औ बन्धु है बालको का।
ले जाते हैं सुरतरु कहाँ आप ऐसा हमारा॥

एक वृद्धा आ कहती है—

"जो रूठेगा नृपति व्रज का वास ही छोड़ दूँगी।
ऊँचे ऊँचे भवन तज जंगलों में बसूँगी।
खाऊंगी फूल फल दल व्यञ्जनों को तजूँगी।
मैं आँखों से अलग न तुझे लाल मेरे करूँगी।

मथुरा पहुंच राजकाज में संलग्न होने पर भी व्रज की याद को कृष्ण नहीं भुला पाते, व्रज का प्रेम मय वातावरण, गोपिकाओं और राधा के प्रेम का

स्मरण रह रहकर उन्हें व्याकुल कर देता है, परन्तु कर्त्तव्य और लोक-हित की भावना से विवश हो कृष्ण अपने व्यक्तिगत सुख को भुलाने का प्रयत्न करते हैं, और अपने कर्त्तव्य-पालन में डट जाते हैं। इस प्रकार उपाध्याय जी के कृष्ण महा-मानव हैं, वे मानवीय गुणों से सम्पन्न हैं। उनमें निर्बलताएँ भी हैं, परन्तु अपनी निर्बलताओं को वश में करने की शक्ति भी उनमें है। कृष्ण को मानव के रूप चित्रित करने की प्रेरणा उन्हें माइकेल मधुसूधन दत्त के 'मेघनाथ बध' से विशेष रूप से प्राप्त हुई है। 'मेघनाथ-वध' मे कवि ने पौराणिक चरित्रों को मानवीय रूप देने का प्रयत्न किया है। 'मेघनाथ-वध' में वर्णित राम पूर्ण-मानव हैं, वह अलौकिक कार्य करने वाले नहीं, वे मानव हैं, और वे संसार के सुखों और दुखो को सासारिक मनुष्यों के समान ही अनुभव करते हैं। कवि राधा के चरित्र के चित्रण मे भी पूर्ण सफल हुआ है। विरह की अग्नि में जलने के अनन्तर राधा के चरित्र में एक अद्भुत परिवर्त्तन हो जाता है। वह अपने व्यक्तिगत सुख-दुख को भूल इस महान् विश्व की वेदना-मयी स्थिति को अधिक अनुभव करती है, और पीडितो की सेवा में लग जाती है; परन्तु हृदय की इस विशालता को प्राप्त करने से पूर्व राधा की स्वाभाविक निर्बलताएँ उसे किस प्रकार पीड़ित करती हैं, वह कृष्ण विरह से उत्पन्न वेदना को कितनी तीव्रता से अनुभव करती है, इन सबके चित्रण मे कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। एक बात यहाँ विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि राधा तथा कृष्ण का प्रेम उन्माद-पूर्ण नहीं, उसके वर्णन मे कवि ने सामाजिक तथा लौकिक रीति-नीति का विशेष ध्यान रखा है। रीतिकालीन कवियों की सी कलुपता का तो उसमें नाम भी नहीं।

स्नेह वृत्ति के अन्तर्गत आने वाले मनोभावों तथा वियोग से उत्पन्न मानसिक स्थितियो के वर्णन में कवि ने विशेष सूक्ष्मता प्रदर्शित की है। राधा के चित्रण में जहाँ कवि ने उसकी मानसिक विशालता तथा उदारता को प्रदर्शित किया है वहाँ उसकी स्वाभाविक दुर्बलताओं का चित्रण भी अत्यन्त सफलता पूर्वक किया है। राधा के प्रेम वर्णन में लौकिक-हित की भावनाओं की प्रधानता और उसकी विरह पीड़ा का विश्व पीड़ा के रूप में अवसान, कवि पर आधुनिक युग की लोक-हित भावना की प्रबलता के प्रभाव को सूचित करती है।

'प्रिय प्रवास' में यशोदा का चरित्र भी अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन पड़ा है। कवि ने मातृ-हृदय की सूक्ष्म मनोभावनाओं का अच्छा चित्रण किया है। कृष्ण के वियोग में वैसे तो सम्पूर्ण ब्रज ही पीड़ित प्रदर्शित किया गया है, परन्तु मातृ-हृदय में पुत्र के वियोग से उत्पन्न स्वाभाविक पीड़ा तो बहुत मार्मिक होती है। अतः यशोदा का चित्र प्रस्तुत करते हुए मातृ-हृदय की स्वाभाविक कातरता, अधीरता और ममता का चित्र कविने अत्यन्त कुशलता पूर्वक किया है। वास्तव में यशोदा का चरित्र अत्यन्त करुणा-पूर्ण और मार्मिक बन पड़ा है।

कवि ने 'प्रिय प्रवास' मे प्रकृति का चित्रण भी किया है, परन्तु प्रकृति-चित्रण कहीं भी स्वतंत्र नहीं बन पड़ा। प्राकृतिक चित्र मानव की उदासीनता और प्रसन्नता से प्रभावित होते हुए प्रदर्शित किए गये हैं। मानव मन जब प्रसन्न होता है तो वह सम्पूर्ण प्रकृति को आनन्द-मग्न पाता है, परन्तु जब वह दुःख पूर्ण होता है तो सम्पूर्ण प्रकृति उसे उदासीन दृष्टिगोचर होती है। उपाध्याय जी ने अपने काव्य में इसी नियम के अनुसार प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण किया है। ब्रजदेवी की वेदनामयी स्थिति से प्रवावित हो रात्रि भी शोकाकुल हो आँसू बहाती है—

विकलता लख के ब्रज-देवि की।
रजनि भी करती अनुताप थी॥
निपट नीरव ही मिस ओस के।
नयन से गिरता बहु-वारि था॥

अधिकतर प्राकृतिक दृश्य उद्दीपन के रूप मे ही प्रस्तुत किए गए हैं। उद्दीपन के रूप में किए गए प्रकृति चित्रण-देखिए—

नीला प्यारा उदक सरिका देख के एक श्यामा।
बोली खिन्ना विपुल बन के अन्य गोपांगना से।
कालिन्दी का पुलिन मुझको उन्मना है बनाता।
प्यारी न्यारी जलद तन की मूर्ति है याद आती।

राधा के चित्त को उद्दीप्त करती हुई प्रकृति के इस रूप को देखिए—

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
हो उत्कण्ठा-विवश चित में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे निबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यौंही मैं समुद उड़ती श्याम के पास जाती॥

ऋतुवर्णन भी सुन्दर बन पड़ा है, वर्षा वर्णन में विशेष सफलता मिली है। उमड़ते घुमड़ते बादलों का और प्रचंड प्रभंजन का स्वर निम्न पद्य में स्पष्ट सुनाई देत है—

मथित चालित ताड़ित हो महा।
अति प्रचंड प्रभंजन पुंज से।
जलद थे दलके दल आ रहे।
घुमड़ते घिरते ब्रज घेरते॥

कृष्ण जीवन से सम्बन्धित गिरि गोवर्धन-धारण आदि अलौकिक कथाओं को कविने लौकिक रूप प्रदान किया है और उनका लाक्षणिक अर्थ लगाया है।

'प्रिय प्रवास' की भाषा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी है। इतर प्रान्त निवासियों के लिए अपनी भाषा को संस्कृतनिष्ठ बनाते समय उपाध्याय जी हिन्दी भाषा भाषियों को भूल गए प्रतीत होते हैं, यही कारण है कि 'प्रिय प्रवास' हिन्दी भाषा भाषियों के लिए क्लिष्ट हो गया है। शायद संस्कृत पदावली की संस्कृत वर्ण वृत्तों के लिए उपयुक्तता ही इस बहुलता का कारण हो। वैसे भाषा प्रवाहमयी और मधुर है। ब्रजभाषा का प्रभाव भी लक्षित किया जा सकता है। अपनी भाषा में कोमलकान्त पदावली पर इन्होंने विशेष बल दिया है।

अलंकारों का प्रयोग उपाध्यायजी ने 'रस-कलस' के ढंग पर ही किया है, उसमें कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया। उपाध्याय जी ने अलंकारों को साध्य न मान सदा साधन ही माना है, इसी कारण उन्होंने अलंकारों का प्रयोग कहीं चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं किया, और उनके प्रयोग में सदा संयम से काम लिया है।

सर्गों तथा छन्दों की दृष्टि से प्रिय प्रवास में महाकाव्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है, और महाकाव्य के वर्ण्य-विषयों का भी समुचित समावेश किया गया है।

प्रिया प्रवास खड़ी बोली का सर्व प्रथम महाकाव्य है, और 'रामचरित मानस' के पश्चात् इस काव्य-ग्रन्थ का बहुत महत्व माना जाता है। परन्तु कुछ विद्वानों ने इसे महाकाव्य न मान कर केवल विरह-काव्य ही कहा है, और इसका कारण विरह की प्रधानता बतलाते हुए कथा-वस्तु की अनुपयुक्तता बतलाया है। पं० विश्वनाथप्रसाद ने इसे काव्य की एक नवीन विधा 'एकार्थ-काव्य' के अन्तर्गत रखा है। 'प्रिय-प्रवास' के पश्चात् उपाध्यायजी ने स्फुट कविताएँ लिख उनमें मुहावरों को खपाने का प्रयत्न किया है। ये कविताएँ 'चोखे चौपदे' के नाम से प्रकाशित हुई हैं। हाल ही में 'विदेही-बनवास' नाम का एक अन्य काव्य ग्रन्थ भी उपाध्याव जी का प्रकाशित हुआ है इसे भी पं० विश्वनाथ प्रसाद ने एकार्थ काव्न के अन्तर्गत रखा है। नाचे इनके चोखे चौपदे' का एक उदाहरण दिया जाता है—

कटेंगे पिटेंगे नोचते हैं जो नुचेंगे आप,
कब तक हिन्दुओं को नोच नोच खावेंगे।
पच न सकेगा पेट मार के मारेंगे क्यों न,
पामर परम कैसे पाहन पचावेंगे।
हरिऔध धर्म्मवीर धर्म की रखेंगे धाक,
ऊधमी कैसे ऊधम मचावेंगे।
पोटी दूह लेवेंगे चपेटेंगे लँगोटी बाँध,
बोटी बोटी कटै लाज चोटी की बचावेंगे॥

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी :—का प्रभाव मध्यकाल के अधिकाश कवियों पर है, और इसी कारण बहुत से आलोचकों ने मध्य-काल को द्विवेदी युग' के नाम से पुकारा है। द्विवेदी जी से पूर्व प० श्रीधर पाठक ने काव्य में नवीन शैली—स्वच्छन्दता वाद के रूप में—और नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा की थी। पाठक जी जन साधारण की भावनाओं, जन-गीतों और अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित थे। उनके काव्य में एक विशेष प्रेरणा तथा अनुभूति थी, परन्तु पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रादुर्भाव के साथ ही हिन्दी काव्य पाठक जी द्वारा अपनाए गए मार्ग से सर्वथा भिन्न मार्ग पर अग्रसर हुआ। द्विवेदीजी संस्कृत तथा मराठी साहित्य से विशेष रूप से प्रभावित थे, उन्होंने

हिन्दी काव्य में संस्कृत वर्ण वृत्तों के अपनाए जाने पर जोर दिया, और संस्कृत पदावली को अपनाने की प्रेरणा की। मराठी साहित्य के प्रभाव स्वरूप द्विवेदी जी काव्य भाषा को अत्यन्त सरल रूप मे गद्य के समान लिखा जाने पर ज़ोर देते थे। किन्तु हृदय की विशिष्ट भाव तरंगों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा को विशिष्ट रूप प्रदान करना पडता है, जो कवि इस सिद्धान्त से विपरीत पक्ष का अनुसरण करते हैं वे असफल होते हैं। अंग्रेजी काव्य मे किसी समय वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) को भी काव्य में गद्यवत् भाषा प्रयुक्त करने की सनक सवार हुई थी, परन्तु वे अपने इस प्रयत्न मे बुरी तरह असफल रहे। द्विवेदी जी ने भी इसी सिद्धान्त को सम्मुख रख खड़ी बोली मे काव्य रचना की, परन्तु उनके काव्य में न तो भावो को जागृत करने वाली मार्मिकता ही आ सकी और न सरसता ही; परन्तु द्विवेदी जी अपनी एतदविषयक धारणा से हिन्दी कवियों के एक भाग को पर्याप्त रूप से प्रभावित कर सके। वे उच्चकोटि के काव्य-मर्मज्ञ और आलोकिक थे, सहृदयता उन में कूट कूट कर भरी हुई थी, इस कारण यद्यपि वे स्वयं उच्च-काव्य सर्जना न कर सके तथापि कवियों के एक विशिष्ट वर्ग को अपना अनुयायी बना सके। काव्य के क्षेत्र में तो द्विवेदी जी निश्चय ही असफल हुए हैं, क्योंकि उनका काव्य इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) है और उनकी भाषा गद्यवत् (Prosic) है। उन्होंने काव्य में रस संचार पर ध्यान नही दिया, भाषा भी कर्ण कटु और नीरस है, अलङ्कारो इत्यादि अन्य काव्योपयोगी गुणों का सर्वथा बहिष्कार किया गया है। परन्तु भाषा के परिमार्जन के रूप में द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य पर महान् उपकार किया है। खड़ी बोली के विभिन्न रूपों को स्थिर कर उन्होंने अवधी तथा ब्रजभाषा के प्रभाव को सीमित करने का प्रयत्न किया। इधर 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक बनने पर प० महावीरप्रसाद को अपने सिद्धान्तों के प्रचार करने में और भाषा के परिमार्जन में विशेष सफलता हुई। इन्ही दिनों में वे अनेक कवियों को अपने मत का अनुयायी बना काव्य क्षेत्र में ले आए। द्विवेदी जी के अनुयायी कवियों मे से मैथिलीशरण गुप्त, माधव शुक्ल, रामचरित उपाध्याय, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कवियों पर भी आपका अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

द्विवेदी जी की कविताओं के दो संग्रह 'काव्य मंजूषा' तथा 'सुमन' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी कविता के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

आरोग्य युक्त बल युक्त सुपुष्ट गात,
ऐसा जहाँ युवक एक दृष्टि आता।
सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है,
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

मूल्यवान मंजुल शैया पर पहले निशा विताता था;
सुयश और गीतों से प्रात जगाया जाता था।
वही, आज, तू कुश-काशो से युक्त भूमि पर सोता।
श्रुति-कर्कश शृगाल-शब्दो से हा हा! निद्रा खोता है॥

बाबू मैथिलिशरण गुप्त (जन्म संवत् १९४३) :—द्विवेदी जी के शब्दों में सर्व प्रमुख और खड़ी बोली काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। आधुनिक युग के काव्य की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ गुप्तजी के काव्य में विकसित हुई हैं, और उन्होंने समान रूप से सबमें सफलता प्राप्त की है। गुप्त जी की प्रतिभा के क्रमिक विकास में वास्तव में हिन्दी काव्य के आधुनिक रूप का विकास निहित है।

गुप्त जी ने हिन्दी काव्य मे 'भारत भारती' के साथ प्रवेश किया है। भारतेन्दु कालीन राष्ट्रीय कविता का उसमें पूर्ण विकास हुआ। 'भारत-भारती' में कवि ने जातिय भावनाओं से प्रेरित हो हिन्दु जाति की उन्नत अवस्था को प्रदर्शित करते हुए वर्तमान काल के अधःपतन को चित्रित किया है। कवि ने 'भारत भारती' को तीन विभागों में विभक्त कर इसमें हिन्दु जाति के भूत, वर्तमान और भविष्य का वर्णन किया है। प्रथम खण्ड में अतीत काल का वर्णन करते हुए कवि ने प्राचीन भारत की आध्यात्मिक साहित्यिक, वैज्ञानिक उन्नति का वर्णन किया है, और यह सिद्ध किया है कि प्राचीन भारत विश्व का सर्वोन्नत देश था। वर्तमान खण्ड में कवि ने जाति के वर्तमान अधःपतन को बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है, और तृतीय खण्ड में गुप्त जी ने हिन्दु जाति का आह्वान करते हुए उसे संगठित हो भारत का पुनर्निर्माण करने की प्रेरणा की है। काव्य की दृष्टि से चाहे

भारत-भारती बहुत मार्मिक और रागात्मकता को जाग्रत करने वाली नहीं बन पड़ी, और उसमे इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है, तथापि अनेक स्थलों पर स्वदेश-प्रेम की प्रेरणा देने वाले ऐसे पद्य मिल जाते हैं जो कि उसकी राष्ट्रीय भावना के सर्वथा अनुकूल है।

'भारत-भारती' के अनन्तर गुप्तजी का 'हिन्दू' प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने अपने सुधारवादी रूप का प्रदर्शन किया। 'जयद्रथ बध' नामक खंड काव्य में गुप्त जी ने जहाँ राजनैतिक सिद्धान्तो का काव्यमय वर्णन किया है वहाँ करुण तथा वीर रस के भी अत्यन्त मार्मिक चित्र प्रस्तुत किए हैं। इधर 'साकेत' नामक वृहद् प्रबन्ध काव्य की रचना द्वारा गुप्त जी ने मानवीय जीवन को विशद् रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। इस काव्य में गुप्तजी की कला का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है। 'साकेत' के अनन्तर 'यशोधरा' का प्रकाशन भी कम महत्व पूर्ण नहीं। काव्य की उपेक्षिताओं को ही गुप्तजी ने अपने प्रमुख काव्य ग्रन्थों का विषय बनाया है।

गुप्तजी सम्प्रदायवादी नहीं और यही कारण है कि वे वैष्णव मतानुयायी होते हुए भी सिख गुरुओं के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करने के लिए 'गुरुकुल' की रचना करते हैं तो भगवान बुद्ध के चरित्र का गायन करने को 'अनघ' की रचना करते हैं, इधर 'काबा कर्बला' की रचना कर गुप्तजी ने मुसलिम संस्कृति के प्रति भी अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। विभिन्न विषयों के अनुसार गुप्त जी की भावनाओं का निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है—

(१) पौराणिक—चन्द्रहास, तिलोत्तमा तथा शकुन्तला।
(२) महाभारत सम्बन्धी—जयद्रथ वध, वक-संहार, बन वैभव, सैरन्ध्री और द्वापर।
(३) राम-काव्य—पंचवटी, साकेत।
(४) बौद्धकाल सम्बन्धी—अनघ, यशोधरा, कुणाल गीत।
(५) मध्यकाल सम्बन्धी—गुरुकुल, तेगबहादुर, सिद्धराज।
(६) राष्ट्रीय तथा उपदेशात्मक—भारत-भारती, किसान, हिन्दू, विश्व वेदना।
(७) रहस्यवाद सम्बन्धी—झङ्कार।

(८) मुसलिम संस्कृति सम्बन्धी—काबा कर्बला, अर्जन और विसर्जन ।

साकेत गुप्त जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है, यह महाकाव्य है और इसकी कथा साकेत (अयोध्या) को केन्द्र बनाकर वर्णित की गयी है। वास्तविकता तो यह है कि कवि काव्य की उपेक्षिता उर्मिला के त्याग को वर्णन करने बैठा था परन्तु कुछ विशिष्ट कारणों से गुप्त जी उर्मिला के विरह को महत्त्व देते हुए भी राम कथा के प्रवाह में अधिक बह गए हैं। प्रथम तो उर्मिला और लक्ष्मण राम चरित्र से इतने बँधे हुए हैं कि उनको उनसे पृथक नहीं किया जा सकता। दूसरे गुप्त जी राम भक्त थे। इसी कारण पुस्तक का नामकरण भगवान् राम की विलास भूमि और कर्तव्य भूमि अयोध्या (साकेत) के नाम पर ही किया गया है, और उसे ही केन्द्र मान राम कथा कही गयी है। राम के विवाह के पूर्व की घटनाएँ उर्मिला स्मृति के रूप मे विरह गानो में व्यक्त करती है। बनवास की कथा का एक अंश किसी पथिक द्वारा कहलाया जाता है, और शेषांश हनुमान जी द्वारा। युद्धकाल की सम्पूर्ण स्थिति वशिष्ठ जी अपने योगबल से साकेत निवासियों को दिखा देते हैं।

'साकेत' के प्रारम्भ में लक्ष्मण तथा उर्मिला का जीवन अत्यन्त हास-विलास पूर्ण चित्रित किया गया है। इसी कारण तो लक्ष्मण तथा उर्मिला के त्याग की महत्ता है। प्रेम और विलास-मय जीवन का सेवाभाव के लिए परित्याग क्या कम महत्त्वपूर्ण है ?

'साकेत' में गुप्त जी ने कैकेयी के चरित्र को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया है। 'रामचरित मानस' की कैकेयी की अपेक्षा 'साकेत' की कैकेयी अधिक उन्नत है। गुप्त जी ने कैकेयी को राम के प्रति अत्यन्त स्नेहमयी चित्रित किया है, परन्तु कैकेयी को जब यह सुझाया जाता है कि भरत को जानबूझ कर मामा के यहाँ भेजा गया है तो वास्तव में वह क्षुब्ध हो कर कहती है—

गई दासी, पर उसकी बात
दे गई मानो कुछ आघात—
भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हे जो गेह !

परन्तु वही कैकेयी चित्रकूट मे पश्चाताप की मूर्ति-सी चित्रत की गयी है। कैकेयी के निम्न शब्दो में कितनी आत्मग्लनि अभिव्यक्त होती है—

युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी-
'रघुकुल मे थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा-
'धिक्कार उसे था महास्वार्थ ने घेरा।'

चित्रकूट में कैकेयी का पश्चाताप शतशः धाराओ में फूट पड़ता है, वह हमारी हार्दिक सहानुभूति का पात्र बन जाती है। कवि भी भगवान् राम के मुख से निम्न शब्दो को कहला उसके चरित्र को अधिकाश रूप से स्वच्छ कर देता है—

"सौ बार धन्य वह एक लालकी माई,
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।"

लक्ष्मण का चरित्र कैकेयी के विपरीत कुछ गिरा दिया गया है। उनके चरित्र मे उग्रता अधिक आ गयी है जोकि उनके लिये शोभा नहीं देती। वे न कैकेयी के प्रति ही उद्धत हो उसे 'अनार्या की जनी' कहते हैं, अपितु वे गुरुजनो, वृद्धो के प्रति भी आवेश में उद्धत हो जाते हैं। यह तक नहीं वे सीता के प्रति भी अनादर प्रकट करते हुए मारीच-बध के प्रसंग में इस प्रकार कहते हैं—

उठा पिता के विरुद्ध मैं, किन्तु आर्य भार्या हो तुम,
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ, अबला हो आर्या हो तुम।

परन्तु रण-क्षेत्र मे लक्ष्मण का चरित्र अत्यन्त ओजमय और वीर रस पूर्ण बन पड़ा है। सजीवनी पान के अनन्तर कितने उत्साह से वह इन्द्रजीत को सम्बोधित करते हैं—

जाग उठे सौमित्र सिह यह कहते कहते,
"धन्य इन्द्रजीत! किन्तु सँभल बारी अब मेरी।"

गुप्तजी के राम तुलसीदास के राम से भिन्न हैं, तुलसी के राम मनुष्य रूप में भी ब्रह्म हैं, और गुप्तजी के राम ब्रह्म हो कर भी मनुष्य हैं। उनका

विश्व में अवतरण देवताओं के हितके लिए इतना नहीं जितना मानवता के प्रसार के लिए है। वह इस भूतल को भी स्वर्ग बनाने आए हैं, देखिए—

"मै आया उनके हेतु कि जो तापित है,
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन, शापित है।
सन्देश यहाँ मै नही स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

आर्य संस्कृति का प्रचार उनका मुख्य उद्देश्य है, और वे आर्यों के महान् सांस्कृतिक आदर्शों को बतलाने के लिए भूतल पर अवतरित हुए हैं—

'मै आर्यों का आदर्श बतलाने आया।'

गुप्तजी ने भगवान् रामचन्द्र के चरित्र मे जहाँ कर्तव्य-परायणता को प्रदर्शित किया है वहाँ उनके जीवन को शुष्क नही होने दिया। गुप्तजी ने चित्रकूट में सीता राम के पारिवारिक जीवन की सुखानुभूति को आकर्षक रूप से चित्रण किया है।

भरत का चित्रण भी कवि ने मनोयोग पूर्वक किया है। वास्तव में उर्मिला के पश्चात् कवि ने भरत के चित्रण पर ही अधिक ध्यान दिया है। उर्मिला की विरह वेदना की अभिव्यक्ति ही 'साकेत' का मुख्य उद्देश्य है, और कवि ने उसके विरह वर्णन में पूरे दो सर्ग (९ वां तथा १० वां) खपा दिये हैं। गुप्तजी ने उर्मिला के प्रति एक विशेष अपनत्व का प्रदर्शित किया है। उर्मिला के रूप मे भारतीय नारि को प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक समय उसे अपने पति के गौरव का विचार रहता है। उनका गौरव बढ़े इसी भावना से प्रेरित हो उसने लम्बे लम्बे वियोग के १४ वर्ष बिता डाले—

प्रियतम के गौरव ने
लघुता दी है मुझे, रहे दिन भारी
सखि, इस कटुता मे भी
मधुर स्मृति की मिठास, मैं बलिहारी।

उर्मिला स्वप्नावस्था मे समझ बैठती है कि लक्ष्मण राम सीता को

वन मे छोड चले आए हैं, तो गौरव की इसी भावना से परिचालित हो उर्मिला कहती है—

च्युत हुए अहो नाथ, जो यथा,
धिक! वृथा हुई उर्मिला-व्यथा।
समय है अभी. हा! फिरो फिरो,
तुम न यों यशः-स्वर्ग से गिरो।
प्रभु दयाल हैं लौट के मिलो,
न उनके कुटी-द्वार से हिलो।

वियोगावस्था में उर्मिला के मन की चित्तवृत्तियों का गुप्त जी ने अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। प्रेम के प्रभाव स्वरूप उर्मिला का हृदय अत्यन्त विशाल और उदार हो जाता है, वह नाना प्रकार से इस उदारता का प्रयोग करती है। लक्ष्मण के वन से लौट आने की उमग मे सखी उर्मिला का शृंगार करने चलती हैं, तब वह कहती है—

हाय सखी शृंगार मुझे अब भी सोहेगे?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेगे?
मैंने जो वह राघवर्त्ति का चित्र लिखा है,
तू क्या उसमे आज उठाने चली शिखा है?
नहीं नहीं प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूँ मैं नाथ मुझे वैसा ही पावे।
शूर्पणखा मैं नहीं—हाय, तू तो रोती है,
अरी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है।

प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में भी कवि ने काफी कुशलता प्रदर्शित की है। शब्द चित्र भी अच्छे बन पड़े हैं। अलंकारों का प्रयोग भी समुचित रूप से किया गया है, एक सुन्दर अलंकारिक प्रयोग देखिए—

किसने मेरी स्मृति को,
बना दिया है निशीथ में मतवाला?
नीलम के प्याले में
बुद बुद देकर उफन रही वह हाला?

आधुनिक काल की सामाजिक तथा राजनैतिक प्रवृत्तियों—साम्यवाद, सत्याग्रह, उपयोगितावाद आदि का प्रवाह भी स्पष्ट लक्षित हो जाता है। कहीं कहीं कथा का अनावश्यक विस्तार किया गया है; कहीं कुछ अप्रासंगिकता भी आ गयी है।

आधुनिक युग में गीति काव्य ही अधिक सर्वप्रियता प्राप्त कर सका है, और इसी कारण प्रबन्ध काव्य की ओर जनता अधिक प्रवृत्त नहीं हो पाती। गुप्त जी ने आधुनिक लोक-प्रवृति से प्रभावित हो अपने महाकाव्य में अनेक सुन्दर विरह-गीत भी रखे हैं।

अपने काव्य ग्रथ को लिखने में गुप्त जी ने रामचरित्र विषयक प्राचीन काव्य ग्रंथों का भी आश्रय ग्रहण किया है, परन्तु अनेक नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं, जैसे हनुमान का अयोध्या से संजीवनी लाना और वहाँ वनवास कथा सुनाना, राम की सहायता के लिए अयोध्या में सेना तैयार करना इत्यादि।

कथा का निर्वाह अच्छा है, परन्तु पूरे दो सर्ग उर्मिला के विरह वर्णन में खपा दिए गए हैं, इसलिए कथा प्रवाह कुछ कुण्ठित सा प्रतीत होता है। प्रबन्ध काव्य सम्बन्धी कुछ दोषों के होते हुये निश्चय ही साकेत की रचना कर गुप्त जी ने खड़ी बोली को गौरवान्वित किया है।

साकेत के पश्चात् यशोधरा का प्रकाशन भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यह करुणरस प्रधान काव्य है, और इसमें बुद्ध-वैराग्य के अनन्तर यशोधरा का वर्णन किया गया है। उर्मिला के चरित्र से ही 'यशोधरा' लिखने की प्रेरणा कवि को प्राप्त हुई है। यशोधरा के हृदय की पीड़ा का कारण यह नहीं कि वे उसे त्याग वन में चले गये हैं, वल्कि गौतम उसे अपने पथ की बाधा समझ उससे बिना कहे चले गये—

जाँय, सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालंभ दूँ मैं किस मुख से?
आज अधिक वे भाते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

वियोग-सन्तप्त यशोधरा का चरित्र बहुत मार्मिक बन पड़ा है। राहुल के बाल-क्रीड़ाओं तथा उत्कण्ठाओं का चित्रण बहुत मनोहर है। गुप्त जी ने मातृ-हृदय की स्वाभाविक पीड़ा की भी बहुत सुन्दर अभिव्यजना की है, यशोधरा की सम्पूर्ण जीवन गाथा तो इन पक्तियों में ही सीमित है—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखो मे पानी॥

भारतीय नारी का कितना पूर्ण चित्रण है !

'द्वापर' में कविने कृष्ण कथा से सम्बन्धित चरित्रो की कथा उन्हीं के मुख से कहलायी है। काव्य के क्षेत्र में गुप्त जी की यह सर्वथा मौलिक उपज है।

गुप्त जी की भाषा सस्कृत गर्भित है, परन्तु उसमें न तो उपाध्याय जी की सी सस्कृत पदावली ही प्रयुक्त है, और न द्विवेदी जी के कर्ण-कटु सस्कृत शब्द ही। गुप्त जी ने मध्य मार्ग का अवलम्बन किया है, पुराने छन्दों को तो अपनाया ही है, नवीन छन्दों की उद्भावना भी की है। इधर छायावादी कवियों के ढंग पर इन्होंने अत्यन्त सुन्दर भावव्यजक गीत भी लिखे हैं। ये गीत बहुत स्पष्ट और मधुर हैं।

गुप्त जी ने बंगाल के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के 'मेघनाद वध' 'विरांगना', 'विरहिणी व्रजागना' तथा नवीनचन्द्र के 'पलासी का युद्ध' का हिन्दी में अनुवाद किया है। ये अनुवाद बहुत सफल बन पड़े हैं, और इनके पढ़ने में मूल का सा आनन्द आता है। 'विरहिणी व्रजागना' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

पहुँचो जब हरि-निकट सुनाना उन्हे राधिका का रोना,
श्याम बिना गोकुल रोता है कह देना, साक्षी होना।
और नहीं कुछ कह सकती हूँ, लज्जावश मै हूँ नारी;
मधु कहता है व्रजबाले! मैं कह दूँगा बातें सारी॥

युग की प्रवृत्ति अपनाने में गुप्तजी विशेप रूप से सजग रहते हैं। वास्तव में गुप्तजी अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं, उन्होंने जहाँ 'साकेत' जैसे

महाकाव्य को रचा, वहाँ अपने युग की सम्पूर्ण काव्य शैलियों में रचना कर युग की माग को पूर्ण किया।

रामनरेश त्रिपाठी (जन्म संवत् १९४६):—श्रीधर पाठक द्वारा प्रदर्शित स्वछन्दतावाद (Romanticism) के मार्ग के अनुगामी हैं, और हिन्दी साहित्य में अपनी सरस और प्रसाद गुण युक्त कविता के कारण महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करते है। त्रिपाठीजी ने हिन्दी मे 'मिलन', 'पथिक' तथा 'स्वप्न' नाम के तीन खण्ड काव्यों की रचना की है। ये पौराणिक या ऐतिहासिक कथाओं में नहीं पड़े। अपने काव्यों के कथानको की सृष्टि इन्होंने स्वंय की है, स्वछन्तावाद के अनुगामी होने के कारण इन्होने कल्पना का प्रचुर प्रयोग किया है। उपर्युक्त तीनों काव्यों मे राष्ट्रीय भावनाओं की प्रमुखता है। देश प्रेम की भावना से त्रिपाठीजी विशेष रूप से आकर्षित हैं, परन्तु कहीं कही राजनैतिक भावों की प्रचुरता रसभंग करती हुई प्रतीत होती है। अपनी कविताओं मे त्रिपाठीजी ने प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है, प्रकृति से इन्हें विशेप अनुराग है। लगभग सम्पूर्ण भारत में भ्रमण करने के कारण त्रिपाठी जी के प्रकृति वर्णन में विवधता का भी सगावेश हो गया है।

त्रिपाठीजी की भापा संस्कृत गर्भित तथा माधुर्य और प्रसाद गुण से युक्त है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन मे भापा और भी अधिक प्रवाह-मयी हो गयी है

त्रिपाठीजी ने ग्राम-गीतों का सग्रह किया है तथा प्राचीन और आधुनिक कविताओं का 'कविता कौमुदी' नाम से सम्पादन भी किया है। शिशु-साहित्य की सर्जना में इन्होंने विशेष योग दिया है। त्रिपाठीजी की स्फुट रचनाएँ 'मानसी' में संग्रहीत हैं। इनकी कविता के उदाहरण देखिए:—

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग-विरंग निराला।
रविके सम्मुख थिरक रही है नभ मे वारिद माला।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठि बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है।

(पथिक)

घन में किस प्रियतम से चपला करती है विनोद हँस हँस कर।
किसके लिए उषा उठती है प्रतिदिन कर शृंगार मनोहर॥
मंजु मोतियों से प्रभात में तृणका मरकत सा सुमुन्दर कर।
भरकर कौन खड़ा करता है किसके स्वागत को प्रतिवासर?
प्रातः काल समीर कहाँ से उपवन में चुप चाप पहुँच कर।
क्या सन्देश सुना जाता है घूम घूम प्रत्येक द्वार पर॥
फूलों के आनन अचरज से खुल पड़ते हैं जिसे श्रवण कर।
थामे कहीं हँसी थमती है मुँह मुँदते ही नहीं जन्म भर?

इनके अतिरिक्त मध्यकाल में प० रामचरित उपाध्याय[1] पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय[2], पण्डित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'[3], लाला भगवानदीन[4] तथा पं० रूपनारायण पाण्डेय ने भी सुन्दर कविता की हैं। सनेही जी तथा दीनजी ने जन सामान्य की भाषा को अपनाया है, परन्तु सनेही जी ने जहाँ वर्तमान वीरों का गुणगाण कर राष्ट्रीय काव्य की सर्जना की है वहाँ दीनजी ने प्राचीग वीरात्माओं का अत्यन्त ओज मय वर्णन किया है। प्रायः इस काल के सम्पूर्ण कवियों की रचनाएँ अधिकतर इतिवृतात्मक हैं और पद्यमय गद्य ही बन पड़ी हैं। इस काल की विभिन्न प्रवृत्तियाँ विभिन्न कवियों द्वारा पर्याप्त पुष्ट की गयी हैं, 'प्रिय-प्रवास' तथा 'साकेत' वैष्णव काव्य धारा के अन्तर्गत है, जब कि इस युग के प्रत्येक कवि ने राष्ट्रीय कविताएँ लिख राष्ट्रीय साहित्य की अभिवृद्धि की है।

(३) नवीन काल

(संवत् १९७५—)

वैसे तो हिन्दी-काव्य में नवयुग का उदय भारतेन्दु के प्रादुर्भाव के साथ ही होता है, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के कारण नवयुग की काव्य धारा

---

[1]. राम चरित-चिन्तामणि' [2] मृगी-दुखमोचन. [3] 'प्रेम-पचीसी' 'कुसमांजलि' 'कृषक-क्रन्दन' [4]. वीरक्षत्राणी, 'वीरबालक', 'वीरपंचरत्न', 'पराग'।

उस समय पूर्ण वेग से प्रवाहित न हो सकी। खड़ी बोली के मध्यकाल में—हिन्दी काव्य के द्विवेदी युग में—नवयुग को सम्भलने का अवसर प्राप्त हुआ, और नवीन काल में वह अपने पूर्ण वेग के साथ सब रूढ़ियों और बन्धनों को तोड़ता हुआ पूर्ण विकास पर है। हम पीछे लिख चुके हैं कि किस प्रकार नवयुग की नवीन प्रवृत्तियों ने भारतेन्दु के समय में पूर्ण रूप से विकसित होने का प्रयत्न किया और किस प्रकार तत्कालीन कवियों ने परम्परागत बन्धनों को शिथिल कर काव्य में नवीन प्रवृत्तियों का प्रवेश करना चाहा। वे अपने प्रयत्नों में बहुत कुछ सफल हुए, परन्तु प्राचीन परम्परा के बन्धन विलुप्त नहीं हो पाये थे, कवि समाज अभी प्राचीन शैली और काव्य भाषा का प्रयोग करता था, यद्यपि नवीन भावनाओं का समावेश—युग की माँग के फलस्वरूप—हो चुका था। परन्तु खडी बोली काव्य के मध्यकाल—द्विवेदी युग—में भाषा, भाव तथा शैली सभी में नवीन प्रयोग प्रारम्भ हुए। प० श्रीधर पाठक ने जहाँ हिन्दी काव्य मे हिन्दी के प्रचलित छन्दो का प्रयोग किया, वहाँ द्विवेदी जी ने संस्कृत वर्ण वृत्तों को अपनाने पर जोर दे काव्य-भाषा को गद्यवत् बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु संस्कृत वर्ण वृत्तों के बन्धन में पड खडी बोली-काव्य के स्वाभाविक विकास के रुक जाने का भय था, इसी कारण कुछ कवियों ने हिन्दी के प्रचलित छन्दों को अपनाया और नवीन छन्दो की उद्भावना की।

नवीन काल मे छन्द तथा शैली सम्बन्धी परिवर्तन :—परन्तु नवीन काल के कवियो ने मैथिलीशरण गुप्त आदि कवियों द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुसरण नहीं किया, उन्होंने छन्द तथा काव्य की शैली के सम्बन्ध में नवीन मार्ग का अनुसरण किया। हिन्दी के पुराने प्रचलित छन्दों का प्रयोग तो अवश्य किया गया, परन्तु नवीन काल में इस विषय में बहुत से परिवर्तन भी हुए। एतद्विषयक सम्पूर्ण स्थिति इस प्रकार रखी जा सकती है—

(१) निराला जी द्वारा अपनाया गया मुक्त-छन्द, जिसे परिहास में केंचुआ या रबड़ छन्द भी कहते हैं, अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) ने सर्व प्रथम इस छन्द का प्रयोग किया था। बंगला-काव्य में भी इसका थोडा बहुत प्रयोग किया गया। इसमें तुक का बन्धन तो

दूर हो गया साथ ही छन्द (Meter) का बन्धन भी समाप्त कर दिया गया। न ही यह आवश्यक रहा कि कविता की पंक्तियाँ एक समान हों, या उनमें मात्राओं और वर्णों का एकसा क्रम हो, इसके विपरीत कविता की गति स्वछन्द सरिता की भाँति हो गयी और कवि मात्रा, वर्ण तथा छन्द आदि के सम्पूर्ण-बन्धनों को तोड़ उन्मुक्त हो गया। इस मुक्त-छन्द का एक उदाहरण देखिए—

"दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिराञ्चल में चंचलता का नहीं कहीं आभास
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर—"

(२) हिन्दी के प्रचलित छन्द गीतिका, दण्डक, सवैया आदि का प्रयोग किया गया। प्राचीन मात्रिक छन्दों के प्रयोग के साथ ही साथ नवीन मात्रिक छन्द भी गढ़े गए।

(३) नवीन संस्कृत छन्दों का प्रयोग भी होता रहा।

(४) तुकान्त छन्दों के नवीन भेद और उनका प्रयोग।

(५) बंगला से प्रभावित छन्दों का प्रचलन।

(६) गीति काव्य का प्रचलन। नवीनकाल में गीति-काव्य का सर्वाधिक प्रचलन है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की स्थापना का परिणाम साहित्यिक-जगत् पर भी पड़ा है। कवि सामाजिक भावनाओं की अभिव्यक्ति के स्थान पर स्वानुभूत सुख दुख का ही अधिक वर्णन करता है। व्यक्तित्व-प्रधान काव्य में गीति-काव्य की प्रमुखता स्वाभाविक है। वर्तमान गीति काव्य की शैली पर अंग्रेजी काव्य के लिरिक (Lyric) और प्राचीन भक्त कवियों के भक्ति-प्रधान गीतों का विशेष प्रभाव है।

(७) अंग्रेजी काव्य के सॉनेन (Sonnet) और बंगला के प्यार का भी प्रयोग किया गया है।

गीत तथा मुक्त-छन्द के प्रचलन के साथ कविता मे संगीत का विशेष ध्यान रखा जाता है। आधुनिक-काव्य अधिकाश मे गेय है, और उसमे चित्रमयता संगीत तथा कला की प्रधानता है।

अंग्रेजी, फ्रैंच आदि यूरोपीय भाषाओं के सम्पर्क के परिणामस्वरूप हिन्दी काव्य की अलंकारिक शैली मे भी कुछ परिवर्तन हो गया हैं। हिन्दी काव्य की अलंकार-विधान की प्राचीन शैली संस्कृत अलंकार शास्त्र के आधार पर आश्रित है, और विगत शताब्दियों से काव्य परम्परा में उसका ही पालन हो रहा है ; परन्तु नवीनकाल मे इस पर अन्य भाषाओं की एतद्-विषयक शैली का विशेप प्रभाव पड़ा। नवीन काव्य में साधारण भाव की अभिव्यक्ति के लिए भी असाधारण भाषा और शब्दों का प्रयोग किया गया। इन असाधारण शब्दों का प्रचलन बहुत कुछ अंग्रेजी ढग पर हुआ। अनेक अंग्रेजी वाक्य-खण्ड, शब्द इत्यादि ज्यों के त्यों हिन्दी में प्रयुक्त किए जाने लगे। गीले गान, स्वर्णस्वप्न, तथा बच्चों का तुतलामय आदि वाक्य-खण्ड और शब्द अंग्रेजी काव्य से लिए गए हैं, और अंग्रेजी काव्य के विशेषण-विपर्यय—Transferred Epithet—अलंकार के अन्तर्गत आते हैं। 'गान' कभी 'गीले' नहीं होते हैं, 'गीले' दुःखी गायक के नेत्रों का विशेषण है, जो कि नेत्र से हटा कर गाने पर लगा दिया गया है। इस प्रकार के प्रयोग लाक्षणिक हैं। दूसरे मानवेतर वस्तुओं पर मानवीय भावनाओ के आरोपण से उनका मानवीकरण किया जाता है और यह प्रकार अंग्रेजी मे Personification कहलाता है, और अंग्रेजी काव्य में अलंकार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। अंग्रेजी काव्य के प्रभावस्वरूप हिन्दी-काव्य मे भी इसका प्रचलन पर्याप्त मात्रा मे है। छायावादी कवियों के प्रकृति-वर्णन में मानवीकरण—Personification—पर्याप्त रूप से किया गया है। लाक्षणिक प्रयोगों की यह प्रचुरता अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव के फलस्वरूप ही है। परन्तु कहीं कहीं इसका अनुचित प्रयोग भी किया गया है। पन्तजी लाक्षणिक प्रयोगो मे सबसे आगे है।

उपमाओं मे परम्परागत उपमानों का अत्यन्त चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रयोग तो किया ही गया है, नवीन उपमानों की उद्भावना भी की गयी है। नीचे

दिए एक पद्य में प्राचीन उपमानों का सौन्दर्य देखिए—

"विद्रुम सीपी संपुट में, मोती के दाने कैसे ?
हैं हंस न, शुक यह फिर क्यों चुगने को मुक्ता ऐसे ?"

—प्रसाद

नीचे नवीन ढंग के उद्‌भावित कुछ उपमानों को देखिए—

१. बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल

२. सजग कल्पना सी साकार

नवयुग मे मूर्त वस्तुओं की अमूर्त से और अमूर्त की मूर्त-वस्तुओं से अधिक उपमाएँ दी जाती हैं।

बगला साहित्य के प्रभावस्वरूप हिन्दी काव्य में कुछ बगला शब्दों और उक्तियों का भी अनुवादित रूप में प्रचलन हो गया है। कुछ शब्द बंगला तथा अंग्रेजी के जोड़ पर गढ़े गए हैं। अंग्रेजी शब्दों के अनुकरण पर भी नवीन शब्दों का निर्माण हुआ है जैसे (Innocent) शब्द के अनुरूप अजान तथा अनजान।

इसी प्रकार नवीन कालमें न केवल नवीन भावनाओं का ही समावेश हुआ अपितु नवीन छन्द, नवीन शब्द और नवीन अलंकार भी प्रयुक्त किए गए।

नवीन युगके काव्य में विषयगत परिवर्तन:—छन्द तथा शैली विषयक परिवर्तनों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, यहाँ हम हिन्दी काव्य के नवीन काल में विषयगत परिवर्तन का कुछ विवेचन करेंगे। रीतिकालीन कविता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप खड़ी बोली काव्य के मध्यकाल में कविता मुख्य रूप से इतिवृत्तात्मक हो गयी थी। रीति-कालीन कविता की सौन्दर्य भावना स्थूल थी, और उसमें किए गए शृंगारिक वर्णन अत्याधिक उत्तेजक थे। फलस्वरूप ऐसी ही परिस्थितियों में इस उत्तेजक शृंगार-वर्णन को पदच्युत करने के लिए, उपदेश प्रधान इतिवृत्तात्मक काव्य का जन्म स्वाभाविक ही था। तत्कालीन समाज की प्रवृत्तियाँ भी इसी प्रवृत्ति का विशेष पक्ष पोषण कर रही थी। इधर आर्यसमाज आदि सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप भी काव्य में अक्खड़ता, नीरसता और इतिवृत्तात्मकता आदि की

प्रबलता हो गयी। उपयोगितावाद के प्रभाव स्वरूप कवि ने उपदेशक का काम सम्भाल लिया था; और उसके काव्य में उपदेश की अधिकता और काव्य की न्यूनता हो गयी। खड़ी बोली भी अभी उत्कृष्ट काव्य के उपयुक्त नहीं बन पड़ी थी, उसमें अभी खरखराहट शेष थी। इसी कारण तत्कालीन कवि शृंगार भक्ति इत्यादि विषयक हृदय की कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए परम्परागत काव्य भाषा—ब्रजभाषा का ही प्रयोग करते, और स्वदेश, जाति या समाज सम्बन्धी कविताएँ खड़ी बोली में करते। काव्य गुणों की दृष्टि से खडी बोली की कविता ब्रजभाषा काव्य से बहुत नीचे थी।

रीतिकाल में शृंगार रस पर औचित्य से अधिक मात्रा में कविता हो चुकी थी, अतः द्विवेदी युग के कवियों ने शृंगार रस का एक दम बहिष्कार कर दिया। वह युग ही इस प्रकार का था कि जिसमें सौन्दर्यानुभूति की भावना विलुप्तप्रायः हो चुकी थी। परम्परागत सौन्दर्यानुभूति की भावना जिससे कि कविकी सौन्दर्य-प्रेमी-प्रकृति की तृप्ति होती थी, का अब अभाव हो गया था। इतिहास या पुराण सम्बन्धी प्राचीन कथाओं के वर्णन द्वारा कवि ने समाज तथा साहित्य में नवीन आदर्शों की स्थापना का प्रयत्न किया। परन्तु सुधारवादी प्रवृत्तियो की प्रधानता के फलस्वरूप इनमें काव्योचित रसों का सम्यक परिपाक न हो सका। इस काल की कविताओं में हृदय पक्ष का अभाव रहा, शुष्क बुद्धिवाद का आधिक्य है। कविता को अनेक बन्धनों में जकड़ने का प्रयत्न किया गया, और सृष्टि के बाह्य तत्वों पर इतना लिखा गया कि कवि का अन्तर अपनी अभिव्यक्ति से तड़प उठा। इति-वृत्तात्मकता के बन्धन असह्य हो गए, वर्णन प्रधान स्थूल शैली के प्रति कवि ने विद्रोह कर नवीन पथ के अनुसरण का निश्चय किया। द्विवेदी युग की शुष्क बौद्धिकता को त्याग कवि ने नवीन छन्दों और नवीन भावों का आश्रय ग्रहण कर साहित्य में पुनः सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की, एक बार फिर प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए संयोग तथा वियोग के गीतों की रचना की। देव गाथाओं या राजाओं की विलास वृत्तियों के वर्णन को छोड़ कवि ने अपने सुख दुखका गायन प्रारम्भ किया, उसने नायक या नायिकाओं की काल्पनिक रचना को छोड़ अपने आपको नायक और अपनी प्रेयसी को नायिका के रूप में चित्रित

किया। इस प्रकार हिन्दी काव्य में शताब्दियों की परम्परा के विरुद्ध वैयक्तिकता का प्रवेश हुआ।

आधुनिक काल की छायावादी तथा रहस्यवादी प्रवृत्तिया द्विवेदी युग की बर्हिमुखी प्रवृत्तियों के विरुद्ध अन्तर्मुखी हैं। द्विवेदी युग में ही सच्चे कवियों में इस प्रवृत्ति के बीज को हम लक्षित कर सकते हैं। छायावादी कवियों की रहस्योन्मुखी प्रवृत्ति प्रकृति के रमणीय रूप में आध्यात्मवाद के प्रतिष्ठापन की ओर लौकिक प्रेम मे अलौकिक भावनाओं का व्यवस्थापन इत्यादि की प्रवृत्तिया मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाडेय तथा पं० रामनरेश त्रिपाटी के अंग्रेजी लिरिक (Lyric) के ढग पर लिखे हुए अन्तर्भाव्यंजक गीतों में स्पष्ट देख सकते हैं। गुप्तजी के निम्न लिखित गीत की कुछ पंक्तिया देखिए—

निकल रही है उरसे आह,
ताक रहे सब तेरी राह।
चातक खड़ा चोच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी,
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमे पड़ी।

इसी प्रकार नीचे एक अन्य गीत देखिए—

मेरे आंगन का एक फूल।
सौभाग्य भाव से मिला हुआ, श्वासोच्छ्वास से हिला हुआ,
संसार विटप में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल-फूल।

पं० मुकुटधर पाण्डेय की कविताएँ भी छायावाद के पूर्व रूप को उपस्थित करती हैं—

हुआ प्रकाश तमोमय मग में
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दंपति के मधुमय विलास मे,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,
वन्य कुसुम के शुचि सुवास में,
था तब क्रीड़ा स्थान।

पं० रामनरेश त्रिपाठी भी इसी प्रकार की कविताओं की रचना कर रहे थे, उनकी एक एतद्विषयक कविता का उदाहरण लीजिए—

प्रतिक्षण नूतन वेश बनाकर रंग विरंगा निराला
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ मे वारिद माला ॥
नीचे नील समुद्र मनोहर, ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठे बीच में विचरूं यही चाहता मन है ॥

× × × ×

सिंधु-विहंग-तरंग-पंख को फड़का कर प्रतिक्षण में।
है निमग्न नित भूमि-अंड के सेवन में रक्षण में ॥

परन्तु रवीन्द्र साहित्य और १९वीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव स्वरूप हिन्दी काव्य अपनी परम्परा में विकसित रहस्यात्मक प्रवृत्ति का अनुसरण न कर एक नवीन पथ की ओर अग्रसर हुआ, और उसमें नवीन धारणाओं तथा आदर्शों का प्रतिष्ठापन किया।

नवीन काल के काव्य की सर्व प्रमुख विशेषता है काव्य में सौन्दर्य का प्रतिष्ठापन। कवि ने प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य की अनुभूति की और उसके प्रति अपनी स्वाभाविक व्याकुलता को अभिव्यक्त किया। परन्तु नवयुग की सौन्दर्य भावना रीतिकालीन कवि की स्थूल और उत्तेजक सौन्दर्य भावना नहीं थी। उसमे आन्तरिकता तथा सूक्ष्मता की प्रधानता थी, साथ ही उसमें एक विशिष्ट प्रकार की आश्चर्य मिश्रित उत्सुकता थी, जो कि आदि युगीन कवि में प्राप्य है। इसी सौन्दर्य-भावना ने उनमें अज्ञेय तथा अनन्त की खोज के लिए इच्छा को जागृत किया। जीवन को नवीन दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया गया। छायावादी कवि प्रकृति के सौन्दर्य की ओर भी आकृष्ठ हो खिंचा, परन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उसकी प्राथमिक अनुभूति आश्चर्य पूर्ण थी, उसने एक रहस्य की अनुभूति की। धीरे धीरे उससे घनिष्टता स्थापित की गयी, और उसमें मानवीय भावनाओं का आरोपण कर उसे मानवीय भावों से अनुप्राणित माना गया। प्रकृति को विभिन्न सीमाओं में बन्धा हुआ न देखकर कवि उसका वायवीकरण (Etherealization) करता है और इस प्रकार अनेक रूपा प्रकृति एक रूपा हो जाती है और

उसका प्रत्येक कण एक महान् सन्देश का प्रदायक हो जाता है। झरता हुआ झरना केवल मात्र झरना न हो एक गहरी वेदना का सन्देश देता है। छायावादी कवि प्रारम्भ में प्रकृति के स्त्री रूप पर मुग्ध रहा, और उसके विभिन्न क्रिया-कलापों में प्रेमी तथा प्रेमिका की चेष्टाओं का आरोप किया गया। परन्तु उत्तरकालीन छायावादी कवि प्रकृति में आध्यात्मवाद के विशिष्ट संदेश को पाता है, उसमें वह चिरन्तन सत्य और सौन्दर्य का दर्शन करता है, और उसपर विश्वात्मा का आरोप कर उसमें अपने आपको एक अंश के रूप में देखने का प्रयत्न करता है। छायावादी कविता के प्रकृति-चित्रण में अनुभूति के साथ कल्पना का भी सुन्दर मिश्रण है।

परन्तु सौन्दर्य के काल्पनिक मनोराज्य पर एक ठेस लगती है। यह ठेस वर्तमान समाज की सौन्दर्यहीन परिस्थितियों की थी, जिसे कवि ने समाज की वास्तविक परिस्थिवियों के सम्पर्क में आने पर अनुभव किया। समाज की पीड़ित, शोषित तथा सौन्दर्यहीन अवस्था ने उनके सौन्दर्य-स्वप्नों पर एक निष्ठुर आघात किया। जब कभी भी उसे समाज की यथार्थ परिस्थितियों का सामना करना पड़ा तभी उसके स्वप्न, उसके आदर्श और उसकी धारणाएँ अर्थहीन प्रतीत होने लगीं। परिणामस्वरूप कवि के हृदय में नैराश्य छा जाता है, और उससे एक विशेष वेदना या टीस से पूर्ण करुणा-मूलक दुखवाद का जन्म होता है। छायावादी कविता में इसी कारण सौन्दर्य की अनुभूति के साथ करुणामूलक दुःख के अनुभूतियों का भी पर्याप्त वर्णन किया गया है। परन्तु काव्य को दुःख की यह करुणामूलक अनुभूति दो रूप में प्रगट हुई है, एक तो आध्यात्मिक दुःखवाद के रूप में और दूसरी पराजित भोगवाद के रूप में। प्रथम में कवि ने सामाजिक परिस्थितियों की विषमता को भाग्य का परिणाम जान और उसे परिवर्तित करने में अपने को असमर्थ मान अपनी मानसिक तुष्टि के निमित्त झूठे आध्यात्मवाद की सृष्टि की। दूसरे के अन्तर्गत भी कवि सामाजिक विषमता के परिवर्तन में अपने आपको असमर्थ जान हाला की मस्ती में अपने आपको, अपने समाज को और अपनी परिस्थितियों को भुला देने का प्रयत्न करता है।

यह दुःखवाद पराजित मनोवृत्ति का ही परिणाम है, और इसी प्रवृत्ति से

परिचालित हुआ २ ही कवि वाह्य जगत् में अशान्ति को व्याप्त जान, अपने अन्तर में शान्ति की खोज करता है। उसकी वृत्तियाँ अन्तमुखी हो जाती हैं, और वह एकान्त में विश्व या समाज कीं समस्याओं से दूर हो एक आनन्द-लोक की खोज में चल पडता है। वह जीवन समस्याओ से दूर हो इस कोलाहल पूर्ण अवनी को त्याग निर्जन स्थान पर चलने के लिए आतुर हो उठता है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक! धीरे धीरे
जिस निर्जन सागर-लहरी
अम्बर के कानो मे गहरी
निश्चल-प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

उसका संसार में विश्वास क्षीणतर होता हुआ समाप्त हो जाता है, और वह अपने आप में भी विश्वास बनाये रखने में अपने आपको असमर्थ पाता है, परन्तु मनुष्य जीवन का आधार इसी विश्वास पर आश्रित है, और इसी कारण वह इसके लक्षण के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील है।

एकान्तताके इस विचार ने कवि में अह की भावना को जागृत कर दिया है। वह समाज या समाज की समस्याओं से विमुख हो अपने आप में, अपने अह में ही लीन हो जाना चाहता है। उसके लिए उसका व्यक्तित्व ही सब कुछ हो जाता है। अपने सुख-दु.ख की प्रत्येक अनुभूति को वह चित्रित करने के लिये आकुल हो उठता है।

छायावादी पलायन वृति का दूसरा रूप हम हाला की मस्ती में आत्म-विस्मृति के रूप मे प्राप्त करते हैं। इन कवियों ने आध्यात्मिकता के चोला को न ओढ़ भोगवाद की ओर अपने आपको अग्रसर किया। सांसारिक सौन्दर्य के प्रति आसक्त और तत्सम्बन्धी भग्न स्वप्नों के वर्णन मे ही कवि ने अपने आपको लगा दिया।

नारी के आकर्षण का वर्णन भी छायावादी कवियों ने विभिन्न रूप से किया है। छायावादी कवि सौन्दर्योपासक था, उसका नारी के शारीरिक

सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक था, परन्तु सामाजिक बन्धनों की कठोरता के कारण तथा साहित्य मे नैतिक बन्धनों के कारण कवि ने अपनी एतद्विषयक भावनाओं को विभिन्न प्रछन्न साधनों द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न किया। कभी उसने उर्दू कविता के लाक्षणिक प्रयोगों का आश्रय ग्रहण किया तो कभी उसने प्रकृति के विभिन्न क्रिया-कलापों मे प्रेमी तथा प्रेमिका की चेष्टाओं तथा भावभंगिमाओं का आरोप कर उनका वर्णन किया। 'पन्त' तथा 'निराला' का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण रहस्यमयता तथा अलौकिकता से प्रभावित है। उन्होंने नारी को एक अपार्थिव, अलौकिक और रहस्यमय जीव समझा, और उसमे पूज्य भाव की स्थापना की। परन्तु प्रसाद का एतद्विषयक दृष्टिकोण शुद्ध सौन्दर्यानुभूति से परिचालित रहा। सम-सामयिक युग मे नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण मे पर्याप्त स्पष्टता है।

छायावादी कवियों का शृंगार वर्णन कभी रहस्यात्मक रूप मे आध्यात्म-वाद की केंचुली को ओढ़ कर और कभी लौकिक रूप में हमारे सामने आता है। प्रत्येक क्षेत्र मे व्याप्त वर्णन की अस्पष्टता शृगार वर्णन मे प्राप्य है।

अधिकाश मे कायिक अनुभूतियों का प्रछन्न वर्णन किया गया है। शृंगारिक अनुभूतियों के वर्णन मे कवि ने अव्यक्त तथा अमूर्त आलम्बनो को अपनाया, परिणामस्वरूप उसके वर्णन मे अस्पष्टता का आ जाना स्वाभाविक ही था।

छायावाद काव्य की मुख्य विशेषताओ का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, अब हम छायावाद के अन्तर्गत विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों का सक्षेप से नीचे वर्णन करेंगे।

दुःखवाद :—जैसा कि हम पीछे लिख आए हैं कि वर्तमान काल के कवियो में करुणामूलक दुःखवाद की अभिव्यक्ति दो विभिन्न रूपो में हुई है, एक तो आध्यात्मवाद के रूप में और दूसरी पराजित भोगवाद के रूप में नवीन समाज में व्यक्ति की लौकिक आकाक्षाएँ और अभिलाषाएँ तो बहुत बढ़ गयी हैं, परन्तु उनकी पूर्ति के साधनों की कमी के कारण वे प्रायः अपूर्ण ही रहती हैं। इन अपूर्ण वासनाओं की प्रतिक्रिया दो रूप में होती है, एक तो ससार को दुःखमय मान आध्यात्मिक दुःखवाद

के रूप में, और दूसरी इस असफलता से उत्पन्न नैराश्य को मिटाने के लिए हालावाद के रूप में। महादेवी तथा रामकुमार वर्मा आध्यात्मिक दुःखवाद के प्रमुख कवि हैं। दुःख तथा अभाव की साधना उनके काव्य तथा जीवन का उद्देश्य बन चुका है। पीड़ा उनके जीवन की सहचरी बन चुकी है और यदि उन्हें अपने उद्देश्य की प्राप्ति हो जाए तो भी पीड़ा या दुःख की उपासना का त्याग वे पसन्द नहीं करेंगे—

'तुझको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुझमे ढूँढूँगी पीड़ा'
—महादेवी

इस प्रकार का दुःखवाद सामाजिक दृष्टि से कहाँ तक कल्याणकारी हो सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

दूसरे प्रकार का दुःखवाद व्यक्तिगत निराशा मे प्रायः लौकिक प्रेम में असफलता-फलस्वरूप-उत्पन्न है। इस प्रकार के कवियों की कविता में मस्ती, भावुकता, सौन्दर्य के प्रति आसक्ति और क्रियाशीलता के प्रति उदासीनता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। हालावाद इस काव्यधारा का मुख्य स्वरूप है।

सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न दुःखवाद ने एक तीसरा रूप भी धारण किया है वह है सामाजिक बन्धनों और व्यवस्थाओं को नष्ट कर नवीन समाज तथा सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की आकांक्षा। समाज के वर्तमान ढाँचे के यह विरोधी कवि प्रायः साम्यवाद और समाजवाद से प्रभावित हैं। इनके लिए समाज की वर्तमान विषमताएँ दैवीय न हो मनुष्य निर्मित हैं; और वे इन्हीं सामाजिक विषममताओं को ही व्यक्तिगत दुःख का कारण मानते हैं। उन्होने मनुष्य की असफलताओ के मूल को खोजने का प्रयत्न किया, और उसके कारण को जान उसे नष्ट करने की प्रेरणा दी। वर्तमान काल की प्रगतिवादी काव्य धारा—जिसका कि हम आगे विवेचन करेंगे—इसी धारणा का परिणाम है।

सामाजिक परिस्थितियो के विरोध का एक चौथा रूप भी है जो कि 'नवीन' आदि कवियो के प्रलय के आह्वान के रूप में प्रगट हुआ है। ये कवि

निरुद्देश्यभाव से विप्लव गान करते हुए सम्पूर्ण सामाजिक और लौकिक व्यवस्थाओं के महानाश के रट लगा देते हैं—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिसमें उथल पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जाएँ,
त्राहि त्राहि रव नभ में छाएँ,
बरसे आग जलद जल जाएँ,
भस्मसात भूधर हो जाएँ,
पाप, पुण्य, सदसद् भावों की,
धूल उड़ उठे दाएँ बाएँ,

बिना किसी रचनात्मक योजना को उपस्थित किए इस प्रकार सम्पूर्ण व्यवस्था को समाप्त कर देने की आकांक्षा मानव समाज के लिए भला कैसे कल्याणकारी हो सकती है ?

व्यक्तिवाद :—नवीन युग के काव्य में व्यक्तिवाद की स्थापना हो चुकी है। जैसा कि हम पीछे लिख चुके हैं कि हिन्दी साहित्य में व्यक्तिवाद की स्थापना विगत शताब्दियों की परम्परा के विपरीत है। नवीन काल में सर्वप्रथम कवि ने अपने व्यक्तित्व को, अपने सुख दुःख को तथा अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों को अपने काव्य का विषय बनाया है।

दूसरे काव्य के वर्ण्य विषयों में भी पर्याप्त अन्तर हो गया है। आधुनिक युग का कवि किसी राजा या रईस की विलास वृत्तियों का वर्णन नहीं करता, वह आज मानव मात्र विशेष रूप से पीड़ित तथा दलित वर्ग को अपने काव्य का विषय. बना रहा है। कवि में मानवता के प्रति एक विशेष प्रेम उत्पन्न हो चुका है और आज वह 'जीवन के दैन्य से जर्जर' मानव मात्र के दुःख की सामूहिक अभिव्यक्ति के लिए भी उद्यत हो रहा है। इस प्रकार नवीन काव्य में मानववाद का भी प्रचलन हो चुका है।

आध्यात्मवाद :—आधुनिक काव्य में आध्यात्मवाद की अभिव्यक्ति भी विभिन्न रूप से हुई है। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ती के पश्चात् मानवता भौतिक प्रवृत्तियों से पीड़ित हो शान्ति के निमित्त आध्यात्मवाद की ओर झुकी। भारतीय जीवन में तथा साहित्य में तो सदा ही आध्यात्मिकता की प्रधानता रही है, और भारतीय विचारक ने सदा ही यही अनुभव किया है कि आन्तरिक तथा वाह्य शान्ति की उपलब्धी का एक मात्र साधन आध्यात्मवाद है। भौतिकवाद के आधिक्य से पीडित इस युग में भारतीय संस्कृति या सभ्यता की विश्व को सबसे बड़ी देन यही आध्यात्मवाद है। भारत अपनी इस अद्वितीय सम्पत्ति को खो कर निश्चय ही अपना सर्वस्व खो बैठेगा। भारतीय विचारक और मनीषी इस तथ्य को स्वीकार करता हुआ, सदा ही भारतीय सभ्यता की इस विशेष देन के संरक्षण के लिए प्रेरित करता है। हमारे साहित्य पर इस विशिष्ठ भारतीय प्रवृत्ति का भला किस प्रकार प्रभाव न पड़ता? हमारे काव्य में रहस्यवाद की प्रतिष्ठा इसी आध्यात्मवाद की भावनाओं का ही फल है। प्राचीन रहस्यवादी हिन्दी कवियो के साहित्य विश्वकवि रवीन्द्रनाथ की गीताजलि तथा अंग्रेजी काव्य के भावयोगी कवियों के साहित्य ने हमारे वर्तमान काव्य की रहस्यवादी प्रवृत्ति के रूप निरूपण में विशेष सहयोग दिया है। परन्तु हमारे कवियों ने स्वय भी भारतीय तथा यूरोपीय दर्शन के अध्ययन के अनन्तर इसमें अनेक नवीन उद्भावनाएँ की हैं।

परन्तु वर्तमान काल का कवि भक्त नहीं, वह एक विशेष आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लिए हुए है जो कि उसने यत्र युग की भौतिकवादी प्रवृत्ति के विरोध मे अपनाया हैं। रहस्यवाद की यह भावना हिन्दी साहित्य में विभिन्न रूपों में प्रगट हुई है, कुछ कवियों की रहस्य भावना में दार्शिनकता तथा ज्ञान का भाव अधिक है जैसे कि प्रसाद, निराला तथा प्राचीन कवियों में कबीर तथा दादू आदि की कविताओं में, तो कुछ कवियों की कविता मे प्रकृति सम्बन्धी तथा साधनात्मक रहस्यवाद की प्रधानता है। भक्ति तथा उपासना सम्बन्धी रसस्यवाद की अभिव्यक्ति भी हिन्दी काव्य में सूर तथा तुलसीदास आदि की कविताओं में हुई है।

आधुनिक काल में रहस्यवाद को छायावाद का विकसित रूप कहा जाता

है। आचार्य शुक्ल ने रहस्यवाद को छायावाद का विषयगत पक्ष माना है; क्योंकि छायावाद में शैलीगत विशेषता पर अधिक बल दिया जाता है और इस कारण उसमें रहस्यवाद के बाहर के विषय भी आ जाते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा ने रहस्यवाद को छायावाद की दूसरी मंजिल माना है। रहस्य-वाद के वर्तमान काव्य का विश्लेषण करते हुए सुश्री महादेवी वर्मा लिखती हैं:—

"आज गीत में हम जिसे रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सबकी विशेषताओं से मुक्त होने पर भी उन सब से भिन्न है। उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र मे बाँध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका।"[1]

आध्यात्मिक आधार पर आधारित आधुनिक हिन्दी काव्य के रहस्यवाद का यह निश्चय ही समुचित विश्लेषण है। हिन्दी के वर्तमान साहित्य पर रहस्य-वाद का पूर्ण प्रभाव है।

आत्माभिव्यञ्जना:—वाह्य जगत में अशान्ति तथा वैषम्य को पा कवि ने अपने अन्तर जगत में शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न किया। प्रवृत्तियों के अन्तर्मुखी हो जाने के फलस्वरूप कवि ने अपने काव्य में बाह्य जगत की वर्णन की अपेक्षा अपने अन्तर की अभिव्यक्ति ही की। उसके काव्य में निजि सुख-दुःख, आशा-निराश तथा संघर्ष का ही अधिक वर्णन है। राजनैतिक परिस्थितियों ने भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता को स्थापित किया और उसे अपने विकास का पूर्ण अवसर प्रदान किया, फलस्वरूप काव्य में व्यक्ति का प्राधान्य होने लगा, और व्यक्ति के प्राधान्य के साथ ही आत्माभिव्यञ्जना की भावना का भी साहित्य मे प्रवेश हुआ। वर्तमान काल के काव्य में

---

१ श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय द्वारा संकलित 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पृष्ठ १०६

व्यक्तिगत भावनाओं, आदेशो तथा चित्तवृत्तियों का विविध रूप से वर्णन किया गया है।

छायावाद के अन्तर्गत इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त निम्न प्रवृत्तियाँ हिन्दी काव्य मे स्वतन्त्ररूप से विकसित हो रही थीं—

स्वदेश प्रेम :—भारतेन्दु बाबू ने स्वदेश प्रेम की भावनाओं का प्रतिष्ठापन काव्य में किया था, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के कारण उनकी देश-भक्ति की कविताएँ राजभक्ति और मिन्नत-समाजत के रूप में ही परिवर्तित हो कर रह गयीं। द्विवेदी जी के समय में शुद्ध राष्ट्रीय भावनाओं की कविताओं का अभाव नहीं रहा। गुप्त जी की राष्ट्रीय भावना बहुत प्रयत्न करने पर भी हिन्दु राष्ट्रीयता की परिधि से बाहर न हो सकी। दूसरे तत्कालीन कवियों की कविताएँ भी राजनैतिक दासता के विरुद्ध विशेषरूप से उग्र न हो सकीं। असन्तोष की भावना यत्र-तत्र व्यक्त की गयी, परन्तु अधिकतर कवि ने अपनी त्रुटियों को ही अपनी हीनता का कारण माना। परन्तु इधर नवयुग के प्रारम्भ के साथ ही देश के राजनैतिक वातावरण में एक नवीन जीवन का संचार हो गया, और जनता में नवीन राजनैतिक चेतना व्याप्त हो गयी। गाधी जी के असहयोग आन्दोलन और उनसे प्रभावित कांग्रेस ने सम्पूर्ण देश के जनसामान्य में भी स्वतन्त्रता के लिए बलिदान की भावना को उत्पन्न कर दिया। राष्ट्रीयता की भावना का भी विकास हुआ, और हिन्दु-मुसलिम ऐक्य की भावनाओं से प्रभावित हो अनेक कवियों ने हिन्दु-मुसलिम एकता के नवीन गीतों का गायन प्रारम्भ किया। इस राष्ट्रीय चेतना के जनक गाधी जी थे, इस कारण उनके महान् व्यक्तित्व पर अनेक रचनाएँ की गयी, और विभिन्न रूप से कवियो ने उनके प्रति श्रद्धाजलियाँ अर्पित की। कवियों ने देश की प्रत्येक वस्तु के प्रति अपने अनुराग की अभिव्यक्ति की, कभी उन्होंने प्राचीन की उत्कृष्टता को प्रदर्शित कर जनसाधारण मे स्वदेश गौरव तथा स्वदेश प्रेम की भावनाओं को जागृत करने का प्रयत्न किया।

इधर आर्थिक विषमताओं के परिणाम स्वरूप देश में वर्गवाद की भावना का जागरण हुआ। श्रमजीवी वर्ग में वर्तमान के प्रति तीव्र असंतोष की भावना व्याप्त हुई और यन्त्र युग की कृपा के फलस्वरूप समाज स्पष्ट रूप से शोषित

और शोषक के वर्ग में विभाजित हो गया। जन साधारण के हाथ से धन तथा पूँजी निकल कर समाज के केवल एक ही वर्ग में केन्द्रित होने लगी। फलस्वरूप इस आर्थिक विषमता के कारण देश में दो परस्पर विरोधी भावनाओं की उत्पत्ति हुई; एक ने तो पूँजी तथा पूँजी के उत्पादन के साधनों पर समाज और राष्ट्र के अधिकार का समर्थन किया जब कि दूसरे वर्ग ने सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का समर्थन करते हुए व्यक्ति में धर्म बुद्धि को जाग्रत करने का प्रयत्न किया। प्रथम वर्ग की भावना समाजवाद तथा साम्यवाद के सिद्धान्तों का फल है जबकि द्वितीयवर्ग की भावना गान्धीजी तथा उनके अनुयाइयों की मान्यता को प्राप्त कर चुकी हैं। साहित्य में भी इन परस्पर विरोधी भावनाओं का समावेश हो चुका है और कवियों ने किसानों और मजदूरों की अवस्था का चित्रण अपने काव्य में प्रारम्भ कर दिया है; परन्तु अधिकांश कवि दोनों वर्गों से सम्बन्धित नहीं, इसी कारण उनकी कविताओं में बौद्धिक सहानुभूति की अधिकता है और सच्ची अनुभूति की न्यूनता।

वर्तमान काल के प्रधान कवि और काव्य

जयशंकर 'प्रसाद' (सं० १९४६-९४):—नवयुग के सर्वप्रधान कवि और वर्तमान काल की नवीन काव्य-धारा के प्रवर्त्तक हैं। मानव-मनकी कोमल अनुभूतियों को काव्य में स्थान देने का श्रेय 'प्रसाद' जी को ही है। जयशंकर प्रसाद स्वय मानव भावनाओं के मार्मिक कवि हैं। उन्होंने अपने काव्य में जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा आदि का वर्णन बहुत सुन्दर किया है। 'प्रसाद' ने निश्चय ही हिन्दी काव्य-क्षेत्र में क्रान्ति की परन्तु क्रान्ति के नेतृत्व की क्षमता उनमें नहीं थी। वे भावुक अवश्य थे परन्तु दार्शनिक अध्ययन ने उनमें गाम्भीर्य और सयम को उत्पन्न कर दिया था। भावुकता में निमग्न रहने पर भी इसी कारण 'प्रसाद' उसकी धारा में प्रवाहित न हो सके।

प्रेमप्रसाद की कविता का मुख्य विषय है। उनकी कविताओं में इस प्रेम की अभिव्यक्ति लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही रूपों में हुई है। हार्दिक

अनुभूति कोमल कल्पना के आश्रय को ग्रहण कर काव्य में अनुपम रस तथा मार्मिकता को उत्पन्न कर देती है। परन्तु प्रेम के वर्णन में कवि ने अश्लीलता को सदा ही दूर रखने का प्रयत्न किया है। वास्तविकता तो यह है कि 'प्रसाद' की दृष्टि लौकिक सौन्दर्य पर आकृष्ट हो अलौकिक लावण्य की ओर खिंचकर रहस्योन्मुखी हो जाती है। युवावस्था के आकर्षण से उत्पन्न प्रेम के विलास पक्ष की ओर भी गयी है, और प्रेमचर्या की शारीरिक चेष्टाओं चुम्बन, परिरंभण, स्वेद अश्रु आदि का वर्णन कलियों की मन्द मुसकान, समीर की लपक-झपक, बसन्त की मधु वर्षा, झूमती लताओं की मादकता और मस्ती के वर्णन के साथ किया है। प्रकृति के सौन्दर्य के विभिन्न उपकरणों के आश्रय को ग्रहण करने के कारण कवि का प्रेम-चर्या वर्णन भी रहस्यात्मक बन गया है।

प्रेम के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है। सांसारिक प्रेम की अतृप्ति का वर्णन भी यथेष्ठ सुन्दर बन पड़ा है—

चिर तृषित कण्ठ से तृप्ति विधुर
वह कौन अकिञ्चन अति आतुर
अत्यन्त तिरस्कृत अर्थ सदृश
ध्वनि कम्पित करता बार बार
धीरे से वह उठता पुकार
मुझको न मिला रे कभी प्यार॥

प्रेम का प्रारम्भ प्रिय को देखते ही हो जाता है, और कवि उसको देख कह उठता है—

मधु राका मुसक्याती थी पहले देखा जब तुमको।
परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हमको॥

और जब उस प्रियतम को कवि प्राप्त कर लेता है तो 'वह विश्व के सपूर्ण दुःख को भूल इस संसार की मधुरिमा में मस्त हो गा उठता है—

"मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए,
यह अलस जीवन सफल अब हो गया।

कौन कहता है जगत है दुःखमय,
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

प्रसाद का 'आसू' विरह का मार्मिक गीति काव्य है। कवि प्रेम की उद्विग्नता को पार कर कुछ स्थिर हो जीवन के अतीत विलास की स्मृति में अश्रुपूर्ण गीतों की रचना करता है। इन गीतों में प्राचीन विलास की स्मृति से उत्पन्न कसक या पीड़ा की अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी है। परन्तु कुछ गीतों में विरह वर्णन के आलम्बन प्रत्यक्ष नहीं और न ही वे इस जगत् से सम्बन्धित हैं। अज्ञात के साथ अपने सम्बन्ध को स्थापित कर कवि ने रहस्यात्मक भावनाओं का आश्रय ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। परन्तु अनेक गीतों में कवि का यह विरह वर्णन अज्ञात् प्रियतम के प्रति होता हुआ भी जीवन के अधिक निकट आ गया है। जीवन के प्रत्यक्ष आलम्बनों से सम्बन्धित विरह-वर्णन में अज्ञात के प्रति वर्णित विरह से अधिक मार्मिकता आ गई है; क्योंकि अज्ञात के साथ हृदय सम्बन्ध स्थापित करना न केवल कठिन ही है, अपितु अस्वाभाविक भी। ज्ञात के विरह में जो मार्मिकता प्रगट की जा सकती है वह अज्ञात के प्रति नहीं हो सकती।

यह ठीक है कि 'आँसू' के आलम्बन के सम्बन्ध में रहस्यात्मकता के कारण कुछ निर्णय करना कठिन है। कुछ आलोचक इसका आलम्बन सम्पूर्ण रूप से लौकिक मानते हैं और कुछ अलौकिक। परन्तु हमारे विचार में तो प्रारंभिक रूप से इस विरह का आलम्बन अवश्य ही कोई व्यक्ति होगा, परन्तु पश्चात् में वही अलौकिक तथा दिव्य रूप धारण कर लेता है। यही कारण है कि 'आँसू' का अवसान अत्यन्त मगलमय रूप में होता है और कवि जीवन के सुख-दुख तथा विरह-मिलन के प्रति एक दार्शनिक दृष्टिकोण अपना कहता है—

मानव जीवन–वेदी पर
परिणय है विरह-मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का मनका।
चेतन-लहर न उठेगी.
जीवन-समुद्र थिर होगा,

संध्या हो सर्ग प्रलय की.
विच्छेद मिलन फिर होगा।

'आँसू' के उपरान्त प्रसाद की विभिन्न प्रकार की कविताओं का संग्रह 'लहर' नाम से प्रकाशित हुआ है, इस पुस्तक की प्रारम्भिक कविता लहर' देखिए—

"उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अगराई सी
मलयानिल की नव परिछाई सी
इस सूने तट पर छिटक छहर
शीतल, कोमल चिर कम्पन सी
दुर्ललित हठीले वचपन सी
तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल-खेल ले ठहर-ठहर!
उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती
नर्तित पद चिह्न बना जाती,
सिकता में रेखाएँ उभार——
भर जाती अपनी तरल सिहर।
तू भूल न री पंकज बन में,
जीवन के इस सूनेपन मे
ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक
आ चूम पुलिन के विरस अधर।"

जीवन के सूनेपन और विरसता की करुणापूर्ण कसक इसमें छिपी हुई है। यहां 'लहर' से कवि का अभिप्राय उस आनन्द की लहर से है जो मनुष्य के मानस में उठा करती है और उसके जीवन को सरस करती रहती है। 'लहर' की रहस्यवादी रचनाएँ बहुत थोडी हैं, परन्तु उनमें प्रियतम से आँख मिचौनी और उसकी ओर अभिसार इत्यादि रहस्यवाद की सामग्री पर्याप्त रूप से प्रयुक्त की गई है। इतिहास तथा प्रकृति के कुछ उपकरणों पर की गई इनकी कुछ कविताएँ भी इस संग्रह में संग्रहीत हैं। 'अशोक की चिन्ता' 'वरुणा की शान्त

कछार' 'शेरसिंह का आत्म समर्पण' इत्यादि कविताएँ ऐतिहासिक आधारों पर निर्मित की गई हैं। 'वरुणा की शान्त कछार' नामक कविता की यह भाव-पूर्ण पंक्तियाँ देखिए—

अरी बरुणा की शान्त कछार।
तपस्वी के विराग की प्यार।
छोड़कर पार्थिव भोग विभूति, प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार।
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य, पुत्र का शैशव सुलभ दुलार॥
दुःख का करके सत्य निदान, प्राणियों का करते उद्धार।
सुनाने आरण्यक सम्वाद, 'तथागत' आया तेरे द्वार॥

'लहर' में प्रकृति का मानवीकरण कर ऊषा को जल भरती नायिका के रूप में चित्रित करता हुआ कवि लिखता है—

"बीती विभावरी जागरी!
अम्बर-पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।
खगकुल 'कुल-कुल' सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा।
लो, यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल-रस गागरी॥

'प्रसाद' जी की स्फुट कविताओं के संग्रह 'लहर' तथा 'आँसू' के अतिरिक्त 'प्रेम पथिक' 'कानन कुसुम' तथा 'झरना' के रूप में भी प्रकाशित हुए हैं। 'प्रेम पथिक' में ब्रजभाषा की कविताएँ संग्रहीत है, 'कानन कुसुम' तथा 'झरना' में इनकी खड़ी बोली की प्राथमिक रचनाएँ। इनके अतिरिक्त 'प्रसाद' जी के अनेक सुन्दर तथा मधुर गीत नाटकों में बिखरे पड़े हैं। इनके प्रायः सभी नाटक भारत के स्वर्णिम अतीत से सम्बन्धित हैं, और उनमें उन्होंने आर्य जाति के उज्ज्वल अतीत के पुनर्निर्माण का प्रयत्न किया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में आप निम्नलिखित उच्चकोटि के राष्ट्रीय गीत का रसास्वादन कीजिए—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर—नाच रही तरु-शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघुसुर-धनु से पंख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये—समझ नीड़ निज प्यारा,
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणा जल,
लहरें टकराती अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा।

देशभक्ति की उत्कट भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाले 'स्कन्दगुप्त' में आए एक अन्य गीत को देखिए—

हमी ने दिया शांति सन्देश सुखी होते देकर आनन्द।
विजय केवल लोहे की नहीं धर्म की रही धरा पर धूम॥
भिक्षु होकर रहते सम्राट दया दिखलाते घर घर धूम।

× × × ×

किसी का हमने छीना नहीं प्रकृति का रहा पालना यहीं।
हमारी जन्म भूमि थी यहीं कहीं से हम आये थे नहीं॥

× × × ×

जियें तो सदा इसी के लिये यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष॥

इसी प्रकार मनकी कोमल भावनाओं के चित्रण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। निम्नलिखित गीत में स्त्री-हृदय की कितनी प्रेम सतप्त निराशा भरी पीड़ा अभिव्यक्त की गयी है—

आह! वेदना मिली विदाई;
मैंने भ्रमवश जीवन-संचित
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल-छल थे संध्या के श्रमकण
आंसू से गिरते थे प्रतिक्षण
तेरी यात्रा पर लेती थी—

नीरवता अनन्त अँगड़ाई।
अमित स्वप्न की मधुमाया मे
गहन बिपिन की तरु छाया में
पथिक, उनींदी श्रुति में किसने
यह बिहाग की तान उठाई?
लगी सतृष्ण दीठ थी सब की
रही बचाये फिरती कबकी
मेरी आशा आह! बावली
तूने खोदी सकल कमाई।
चढ़कर मेरे जीवन—रथ में,
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर-
उससे हारी होड़ लगाई।

हृदय में प्रेम की जो आशा थी, जीवन-भर मधुकारियों की जो भीख एकत्र की थी वह सब आशा की छलना से लुट गई। जहाँ से उसे सब कुछ मिलने की आशा थी वहाँ विदाई में उसे वेदना ही मिली। इस करुणा पूर्ण पद्य में 'प्रसाद' ने निराश नारी-हृदय की जीवन यात्रा का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है।

कवि ने मानवीय जीवन की समग्र अभिव्यक्ति के लिए 'कामायनी' नामक महाकाव्य की रचना भी की है। पुरातत्व वेत्ताओं की दृष्टि से परे भारतीय इतिहास के धुन्धले अतीत से अपने काव्य के कथानक को ले कवि ने उसको वैदिक आख्यानों पर आधारित किया है। कल्पना तथा खोज का आश्रय ले वास्तव में 'प्रसाद' ने भारतीय इतिहास के इस आख्यान के रूप में मानवीय संस्कृति के विकास-क्रम को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु जायसी के 'पद्मावत' की भाँति कवि ने 'कामायनी' में कथानक तथा रूपक दोनों के सम्मिश्रण को रखा है और उसमें मानव भावनाओं के गहन विवेचन का प्रयत्न किया है।

मनु तथा श्रद्धा की कथा के रूप में मन, बुद्धि, श्रद्धा, चिन्ता आदि मानवीय भावनाओं का विवेचन किया गया है। मनु मन या मानव के प्रतीक

हैं, श्रद्धा विश्वास समन्वित रागात्मिका वृत्ति और इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि के रूप में चित्रित की गयी हैं। श्रद्धा या रागात्मिका वृत्ति ही मनु या मानव को कल्याण मार्ग का पथिक बनाती हुई आनन्द-धाम तक पहुँचाती है और इड़ा या व्यवसायात्मिका बुद्धि मनुष्य को कर्मजाल में फँसा कर जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचाने में बाधक होती है।

'कामायनी' का नायक मनु-महाप्रलय मे देव-सृष्टि के नाश के अनन्तर बच रहता है। प्राचीन देव सृष्टि क सस्कारो से युक्त मनु शीघ्र ही अपने एकाकी जीवन से घबरा उठते हैं। उसी समय काम गोत्रजा श्रद्धासे उनका परिणय हो जाता है। श्रद्धा गर्भवती होती है और वह अपनी भावी सन्तान की सरक्षण सम्बन्धी चिन्ता में लग्न हो जाती है। परन्तु मनु कामायनी (श्रद्धा) की चिन्तायुक्त सलग्नता को पसन्द न कर भावी सन्तान के प्रति ईर्ष्यायुक्त हो जाते हैं। इससे पूर्व भी यज्ञ में पशु-बलि देने के फलस्वरूप मनु तथा कामायनी में मन-मुटाव हो चुका था। परिणाम स्वरूप अविभाजित प्रेम के इच्छुक मनु श्रद्धा को नवागन्तुक की चिन्ता में सलग्न देख उसे छोड़ भटकते हुए सारस्वत देश पहुँच जाते हैं। सारस्वत देश की रानी इड़ा के अनुरोध से मनु वहाँ नवीन यन्त्रमयी संस्कृति को जन्म देते हैं। शीघ्र ही मनु अपने चचल मन के वशीभूत हो इडा को अपनी काम वासनाओं की तृप्ति का साधन बनाना चाहते हैं। जब इड़ा की प्रजा को इसका ज्ञान होता है तो वह मनु के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है। भयकर संघर्ष के अनन्तर मनु आहत हो मूर्छित हो जाते हैं। इधर कामायनी—श्रद्धा—इस सम्पूर्ण वृत्तान्त से स्वप्न में अवगत हो जाती है, और वह अपने पुत्र मानव को साथ ले मनु की खोज करती हुई सारस्वत देश पहुँच जाती है। श्रद्धा तथा मनु का पुनर्मिलन होता है, और वे दोनों मानव को इड़ा के हाथ सौंप कर कैलाश की ओर चले जाते हैं। वहीं पर श्रद्धा ज्ञान, इच्छा और क्रिया के स्वर्ण, रजत और लोहमय तीन विन्दुओं की पृथक सत्ता को दिखा उन्हें अपनी स्मिति रेखा से एक कर ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया के सामंजस्य पूर्ण सम्मिलन की ओर संकेत करती है। श्रद्धा द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर ही मनु आनन्द धाम मे पहुँचते हैं। कामायनी' एक विशिष्ट

दार्शनिक तथा आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि के आधार पर आधारित है। 'प्रसाद' शैव मत के आनन्दवाद के सिद्धान्त से प्रभावित हैं, और (कामायनी) में समरसता के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उन्होंने शवदर्शन का प्रतिपादन किया है। वर्तमान युग के विरुद्ध 'प्रसाद' ने आध्यात्मवाद को प्रस्तुत किया है क्योंकि यंत्र-युग को वे मानवीय आनन्द का प्राप्ति में बाधक समझते है, और वर्तमान भौतिकतावादी प्रवृत्तियों को भी वे यंत्र-युग की ही उपज मानते हैं।

कर्म, बुद्धि तथा श्रद्धा के सामजस्यपूर्ण सम्मिलन में ही चिर शान्ति प्राप्ति हो सकती है, यह ठीक है कि बुद्धिवाद को उन्होंने तर्क-वितर्क में फँसाकर पथभ्रष्ट करने वाला चित्रित किया है, और हृदयवाद को प्रमुखता प्रदान की है परन्तु विश्व कल्याण के लिए तो उन्होंने बुद्धि, श्रद्धा तथा कर्म के समन्वय में ही माना है। मानव को इड़ा के साथ रहने का आदेश देती हुई श्रद्धा कहती है—

"हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा भार;
वह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कर्म अभय।"

इच्छा, ज्ञान तथा कर्म की धाराएँ जब पृथक-पृथक चलती हैं तो व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन में असफलता तथा सघर्ष का प्राधान्य हो जाता है। 'कामायनी' का 'संघर्ष' सर्ग इसी विभेद का ही परिणाम है।

'कामायनी' वास्तव में विराट् कल्पना, अगाध दार्शनिकता तथा अत्यन्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का महाकाव्य है। कवि ने जीवन की भावनाओं का विशद् विश्लेषण कर मानव जीवन की एक निश्चित मर्यादा स्थापित करने का प्रयत्न किया है। आधुनिक हिन्दी काव्य में महान् दार्शनिक तथा आध्यात्मिक आधार पर आधारित 'कामायनी' सर्वप्रथम महाकाव्य है। चित्तवृत्तियों के वर्णन की सूक्ष्मता, अलंकारिक विधान और रूप चित्रण में 'कामायनी' अनुपम है; परन्तु चिन्ता, आशा, काम आदि सूक्ष्म भावनाओं के विवेचन के कारण

कथा प्रवाह में शैथिल्य आगया है, अनेक स्थानों पर रहस्यवादी प्रवृत्तियों की अधिकता के कारण अस्पष्टता भी है।

श्रद्धा के साथ प्रथम मिलन के समय मनु ने जिस माधुर्य पूर्ण वाणी का गुञ्जार सुना उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"कौन तुम ? संसृति-जलनिधि नीर
तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?
मधुर विश्रान्त और एकान्त—
जगत का सुलझा हुआ रहस्य,
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य !"
सुना यह मनुने मधु गुंजार
मधुकरी का सा जब सानन्द,
किए मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यो सुन्दर छंद;
एक झिटका-सा लगा सहर्ष,
निरखने लगे लुटेसे, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन !

इड़ा के प्रथम दर्शन के समय कवि ने उसका चित्र इस प्रकार खींचा है—

बिखरीं अलकें ज्यों तर्क-जाल
वह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वल तन शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुञ्जरित मधुप से मुकल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिए
दूसरा विचारो के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिए।

त्रिवली थी त्रिगुण तरङ्गमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल।

भारतीय साहित्य में 'प्रसाद' रूप चित्रण में निश्चय ही बेजोड़ हैं। विशेष रूप से नारी-रूप तथा भाव के वर्णन में 'प्रसाद' ने बहुत सहृदयता प्रदर्शित की है। हृदय की प्रणयानुभूति की व्यञ्जना सुन्दर और चित्रमयी है, परन्तु स्वभाव से गम्भीर, संयत तथा बुद्धिवादी होने के कारण 'प्रसाद' ने लौकिक भावनाओं को आध्यात्मवाद से प्रभावित रहस्यवाद के आवरण में दुरारूढ़ बना दिया है।

प्रसाद की भाषा संस्कृतनिष्ठ है, उसमे ओज तथा प्रसाद गुण की प्रधानता है। खड़ी बोली के काव्योपयोगी प्राञ्जल रूप के दर्शन हमें प्रसाद की भाषा में होते हैं।

प्रसाद का काव्य चिर मंगल का सन्देश देता है, और दुःख-सुख-प्रधान मानव जीवन में कल्याणकारी आनन्दवाद की प्रतिष्ठा करता है। 'प्रसाद' का स्थान हिन्दी साहित्य के उत्कृष्टतम कलाकारों मे है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला':—हिन्दी के विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं। छंद-क्षेत्र में क्रान्ति करने के अनन्तर उन्होंने भाषा और भावों में भी नवीनता का समावेश कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'निराला' जी स्वतन्त्र प्रकृति के कवि हैं, यही कारण है कि उन्होंने काव्य क्षेत्र में भी बंधनों को स्वीकार न कर मुक्त-छंद को अपनाया। भिन्न-तुकान्त कवितायें तो निरालाजी से पूर्व ही न केवल हिन्दी काव्य में ही अपितु संस्कृत साहित्य में भी होती आ रही थी, परन्तु मुक्त-छंद में सफलता पूर्वक रचना कर 'निराला' जी ने अपने अद्भुत साहस और विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। परन्तु मुक्त-छंद में की हुई 'निराला' जी की रचनाएँ लय या नाद सौन्दर्य से हीन नहीं, उनकी अपनी गति है और उनमें स्वाभाविक नाद सौन्दर्य है। नीचे मुक्त-छंद की निरालाजी की रचना का सौन्दर्य देखिए—

दिवावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे-धीरे-धीरे,

तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किंतु गम्भीर—नहीं है उनमे हास विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुंथा हुआ उन घुँघराले काले काले बालो से
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।

निराला जी के मुक्त-छन्द के दो मुख्य भेद हैं, एक में तो तुक के नियम का पालन किया गया है, दूसरे में तुक का भी पालन नहीं है और ऊपर नीचे की पंक्तियों में मात्राएँ भी समान नहीं हैं। प्रत्येक पक्ति अपने में पूर्ण है, और भावो की आवश्यकता के अनुसार लम्बी या छोटी है। सगीत और लय के कारण प्रत्येक पक्ति एक विशिष्ठ अनुशासन में है, और वह अनुशासन छन्द के अनुशासन से किसी प्रकार भी कम नहीं है। मुक्त छन्द में जबतक लय का प्रतिबन्ध माना जायगा तब तक उसे मुक्त - सब बन्धनों से मुक्त—नही कहा जा सकता। हॉ, पुराने बन्धनो का नवीन संस्करण अवश्य हो जाता है।

'निराला' जी भावुक दार्शनिक कवि हैं, सैद्धान्तिक दृष्टि से वे अद्वैतवादी हैं, परन्तु हृदय से वह एक भावुक, भक्त और प्रेमी हैं। कविताओं में उन्होंने यत्र-तत्र द्वैतवाद का ही निरूपण किया है। 'जागरण' 'मै और तुम' और 'कण' आदि रचनाएँ इनके दार्शनिक विचारो का निरूपण करती है। पचवटी प्रसंग में निराला जी ने रामचन्द्रजी द्वारा ब्रह्म-जीव का विवेचन करवाते हुए अपने दार्शनिक विचार का इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

पर, क्या है
सब माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम
बाधा—विहीन—बंध छंद ज्यों,
डूबे आनन्द मे सच्चिदानन्द-रूप।
महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओ में फूँका हुआ—

'तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, काम परता,
ब्रह्म हो तुम"

ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, और जीव भी ब्रह्म होकर आनन्दस्वरूप हो जाएगा, परन्तु इस प्रकार जीव जीवन की रसात्मक सार्थकता को प्राप्त नहीं कर सकेगा। गुड़ बन जाने से गुड़ की मधुरता का रसास्वादन नहीं किया जा सकता। इसी कारण निराला जी उपासक ही रहना अधिक पसन्द करते हुए अपने एतद्विषयक विचारों को लक्ष्मण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

सुधाधर की कला में अंशु यदि बनकर रहूँ
तो अधिक आनन्द है
अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैश गंध
पीता रहूँ सुधा इंदु-सिन्धु से बरसती हुई
तो सुख मुझे अधिक होगा ?
इसमें सन्देह नही,
आनन्द बन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनन्द पाना है,

भावुक तथा भक्त हृदय होने के कारण निराला जी की कविताएँ शुष्क नहीं होने पायीं, परन्तु जहाँ कही इन्होंने केवल दार्शनिक तथ्य-निरूपण का प्रयत्न किया है वहाँ कविता हृदयग्राह्य नहीं बन पड़ी, परन्तु ऐसे स्थल बहुत कम ही हैं।

'निराला' जी के गीतों में रहस्यात्मक भावनाओं की प्रधानता है। आध्यात्मिक चिन्तन की बहुलता के कारण उनके साधारण गीत भी रहस्यात्मक भावनाओं से अनुप्राणित प्रतीत होते हैं, परन्तु सब गीतो मे ऐसी बात नहीं, बहुत से गीत परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष जीवन से अधिक सम्बन्धित हैं। गीतो के आलम्बन भी रहस्यात्मकता के कारण अस्पष्ट हैं। कुछ गीत तो प्रार्थना परक हैं, और उनके आलम्बन स्पष्ट हैं; परन्तु अन्य गीतों के आलम्बन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों ही हैं।

निराला जी शब्द-चित्र प्रस्तुत करने में बहुत निपुण हैं। मानवीय जीवन से सम्बन्धित उनके शब्द-चित्र बहुत मार्मिक बन पड़े हैं। चित्रकार की तूलिका की सी कुशलता उनके शब्द में आ गयी है; निराला जी द्वारा प्रस्तुत भिखारी के निम्नलिखित मार्मिक शब्द-चित्र की सजीवता देखिए—

> 'वह आता—
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
> पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
> चल रहा लकुटिया टेक,
> मुट्ठी भर दाने को—भूक मिटाने को
> मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
> साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
> बाँए से वे मलते हुए पेट को चलते
> और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।"

प्राकृतिक सौन्दर्य के शब्द-चित्र उतारने में भी निराला जी को बहुत सफलता मिली है। 'सध्या' नामक कविता की कुछ पंक्ति भी हम पीछे दे चुके हैं, इसी प्रकार 'शरत्पूर्णिमा की विदाई' तथा 'जुही की कली' में भी उन्होंने मानवीय भावनाओं का आरोप कर अत्यन्त कुशलता पूर्वक शब्दो में उन्हें चित्रित किया है। 'जुही की कली' की कुछ पक्तियाँ देखिए—

> "विजन-वन-वल्लरी पर
> सोती थी सुहाग-भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न—
> अमल कोमल-तनु तरुणी-जुही की कली,
> दृग बन्द किए, शिथिल पत्रांक मे,
> वासन्ती निशा थी,"

'निराला' जी में प्रकृति निरीक्षण की सूक्ष्मता और सहृदयता विद्यमान है, परन्तु वे मानवीय भावनाओं की परिधि से बाहर हो उसे स्वतन्त्र रूप में न देख सके।

कवि, जीवन को केवल आध्यात्मिक रहस्यवाद के रूप में देख कर सन्तुष्ट नहीं हो गया, उसने जीवन के वर्तमान रूप को भी उसकी वास्तविकता में देखा है। पीड़ित तथा शोषितवर्ग के प्रति उसे विशेष सहानुभूति है। कवि ने विधवा के करुणापूर्ण जीवन से व्यथित हो निम्नलिखित शब्दों में अपनी करुणा को व्यक्त किया है—

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीपशिखा-सी शांत, भाव में लीन,
वह क्रूरकाल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

पीछे हम 'निराला' जी द्वारा प्रस्तुत 'भिक्षुक' नामक कविता की कुछ पक्तियाँ दे चुके हैं, इनके अतिरिक्त बहुत सी अन्य कविताएँ भी इन्होंने उपेक्षित और दलित वर्ग पर लिखी हैं। हाल में ही प्रकाशित 'कुकुरमुत्ता' में इन्होंने अपनी वर्ग संघर्ष सम्बन्धी भावनाओं को ध्वनित किया है। इसमें तीखे व्यंग्य की प्रधानता है।

'निराला' जी की भावों को जागृत करने की शक्ति अत्यन्त वक्रतापूर्ण है। प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित इनकी रचनाएँ अत्यन्त सजीव और भावपूर्ण बन पड़ी हैं, 'दिल्ली' नामक कविता में कवि अतीत की याद दिलाता हुआ अत्यन्त मार्मिकता से लिखता है—

निःस्तब्ध मीनार,
मौन है मकबरे—
भय से आशा को जहाँ मिलते थे समाचार।
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं से सच्चा प्यार॥

इसी प्रकार 'यमुना के प्रति' कविता में निराला जी ने अपनी भावुकता का अच्छा परिचय दिया है, कविता की कुछ मार्मिक पक्तियाँ देखिए—

बता, कहाँ अब वह बंशीवट?
कहाँ गये नट नागर श्याम?

चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछती वे दृग नीर?
कहाँ छलकते अब वैसे ही
व्रज नागरियों के गागर?"

निराला जी की प्रतिभा वास्तव में सर्वतोमुखी है, उन्होंने विभिन्न विषयों पर विभिन्न ढङ्ग से कवितायें लिखी हैं। देशभक्ति-पूर्ण रचनाओं की भी कमी नहीं रही। 'जलद के प्रति' 'महाराज शिवाजी का पत्र' तथा 'जागो फिर एक बार' इस विषय की बहुत ही उत्कृष्ट और भावपूर्ण रचनायें हैं। 'निराला' जी के ओजपूर्ण व्यक्तित्व का ऐसी ही कविताओं में दर्शन होता है, 'जागो फिर एक बार' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

जागो फिर एक बार।
समर में अमर कर प्राण,
गान गाए महासिंधु-से
सिंधु-नद-तीरवासी!
सैंधव तरंगों पर
चतुरंग चमूसंग—
'सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।"
किसने सुनाया यह
वीर-जन मोहन अति
दुर्जय संग्राम राग"

अलङ्कारिक-विधान में कहीं-कहीं चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति लक्षित होती है। साधारणतः अलङ्कारों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार ही किया गया है। प्राचीन उपमानों के प्रयोग के साथ नवीन उपमानों की उद्भावना भी की गई है जैसे विधवा के लिए प्रयुक्त 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी' इत्यादि।

'निरालाजी' की भाषा संस्कृतनिष्ठ है, उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिल जाता है। अनेक स्थानों पर भाषा में क्लिष्टता भी आ गई है, कहीं कहीं बंगला की व्याकरण प्रवृत्ति का भी प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। दार्शनिक विषयों पर लिखते हुए भाषा की दुरूहता और भी अधिक हो जाती है, जिस कारण विषय अस्पष्ट हो जाता है।

निराला जी की कविता 'परिमल', 'अनामिका' तथा 'गीतिका' में संग्रहीत हैं। 'तुलसीदास' में गोस्वामी तुलसीदास का चरित्र प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखने का प्रयत्न किया गया है; 'कुकुरमुत्ता' स्वतन्त्र कविता पुस्तक है।

'निरालाजी' वास्तव में हिन्दी-साहित्य के नवयुग निर्माताओं में से प्रमुख हैं। अपने व्यक्तित्व और प्रतिभा से निरालाजी ने साहित्य की विभिन्न धाराओं को समान रूप से प्रभावित किया है।

सुमित्रानन्दन 'पन्त':—हिन्दी के सुकुमार कवि कहे जाते हैं। कल्पना की कोमलता, और प्रकृति की स्वच्छन्दता ने उन्हें सच्चे अर्थों में रोमांटिक कवि बना दिया है। वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, गुञ्जन, युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या पन्त जी के मुख्य काव्य ग्रंथ हैं और उनके क्रमिक विकास के इतिहास को उपस्थित करते हैं।

बचपन से ही हिमालय के प्राकृतिक सौन्दर्य के सम्पर्क में रहने के कारण पन्तजी में प्रकृति के प्रति स्वाभाविक अनुराग है। हिन्दी कवियों में प्रकृति के सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाले पन्तजी सबसे अधिक भावुक कवि हैं। प्रकृति निरीक्षण की सूक्ष्म दृष्टि इन्हें स्वभावतयः ही प्राप्त है, परन्तु रहस्यात्मक-भावनाएँ सर्वत्र ओत प्रोत हैं। प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति पन्तजी में भी प्राप्य है परन्तु जहा कहीं पन्तजी ने प्रकृति को मानवी करण से निरपेक्ष

हो चित्रित किया है, वहाँ रमणीयता तो आ ही गयी है; नवीन उपमाओं और चित्रमयी भाषा ने तो सम्पूर्ण वर्णन को साकार बना दिया है। प्रकृति के रमणीय दृश्य विधान को उपस्थित करने वाला निम्न पद्य देखिए—

गिरि का गौरव गाकर झर झर
मद सेनस-नस उत्तेजित कर,
मोती की लड़ियों से , सुन्दर
झरते झाग भरे है निर्झर।

गिरिवर के उर से उठ उठ कर
उच्चाकांक्षाओं से तरूवर
हैं झांक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल कुछ चिन्ता पर।

—उड़ गया, अचानक, लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर।
रव-शेष रह गए है निर्झर।
है टूट पड़ा भू पर अम्बर।

घंस गये धरा में सभय शाल।
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल।
—यों जलद्-यान मे विचर-विचर,
था इन्द्र खेलता इन्द्र जाल।

'वीणा' तथा 'पल्लव' में कवि ने प्राकृतिक सौन्दर्य के अनेक शब्द चित्र उपस्थित किए हैं। 'वीणा' की कविताओं पर 'गीताजलि' का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है, परन्तु बाद कीर चनाएँ धीरे धीरे इस प्रभाव से मुक्त होती गयी हैं और 'पल्लव' तक पहुंचते पहुँचते २ यह प्रभाव विलुप्त हो गया है। पन्तजी जब प्रकृति का मानवीकरण कर अपने प्रणय सम्बन्धी उद्‌गारों को उसी के रूप में प्रगट करने का प्रयत्न करते हैं तो निश्चय ही उन्हें कला सम्बन्धी सफलता तो अवश्य मिल जाती है परन्तु वहाँ दुरुहता आ जाती है। प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में पन्तजी निश्चय ही पर्याप्त सफल हुए हैं।

'पल्लव' में 'परिवर्तन' शीर्षक कविता की बहुत प्रशंसा की गयी है। वास्तव में चित्रमयी भाषा और नाद सौन्दर्य के कारण यह कविता हिन्दी साहित्य में बेजोड़ बन पड़ी है, रूपक तथा लाक्षणिक भाषा का बहुत सफल प्रयोग किया गया है—

अहे वासुकि सहस्र फन
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती को अम्बर
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त कंचुक कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर. वक्र कुन्डल दिङ् मंडल

× × ×

तुम नृशस-नृप-से जगती पर चढ़ अनियंत्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद-मर्दित;
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित
हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिर संचित।
आधि-व्याधि, बहु वृष्टि, वात-उत्पात अमंगल।
वह्नि, बाढ़, भूकम्प—तुम्हारे विपुल सैन्यदल।

'ग्रन्थी' पन्तजी का प्रेम-प्रधान दुखान्त खण्ड काव्य है, इसमें असफल प्रेमका अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया गया है। प्रेम-विषयक पन्तजी की अनुभूतियाँ सच्ची हैं इसी कारण वे बहुत मार्मिक बन पड़ी हैं, प्रेम के अन्तर्गत आने वाले सूक्ष्म मनोभावों का चित्रण भी सुन्दर बन पड़ा है। 'ग्रन्थी' में अलाङ्कारिक विधान भी सुन्दर, प्राचीन तथा नवीन ढंगके अलङ्कारों का प्रशंसनीय प्रयोग किया है—

इन्दुपर, उस इन्दु मुखपर, साथही
थे पड़े मेरे नयन जो उदय से
लाजसे रक्तिम हुए थे, पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।

वियोग से उत्पन्न व्याकुलता के प्रभाव स्वरूप ही कवि ने कहा है—

वियोगी होगा पहिला-कवि आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आंखो से चुप चाप, वही होगी कविता अनजान।

'गुञ्जन' में कवि की प्रतिभा का विकास एक विभिन्न दशा में प्रारम्भ होता है। वैसे यह विकास-क्रम 'पल्लव' से ही जारी है; परन्तु इसमें कवि प्रकृति के उन्मुक्त दृश्यों को छोड़ जीवन के अधिक निकट आता है, और मानव जीवन से सम्बन्धित जीवन-मरण जैसे चिरन्तन सत्यों की ओर अग्रसर होता है, तथा अपने दृष्टिकोण के अनुसार उनके रहस्य का उद्घाटन करने का प्रयत्न करता है। परन्तु विषय, भाषा और अभिव्यंजन की दृष्टि से कवि 'पल्लव' से आगे नहीं बढ़ सका। किन्तु मानव-जीवन के निकट आ वह उसका अध्ययन कर उसमें सुख-दुख की मात्रा के असन्तुलन से असन्तुष्ट हो कहता है—

जग पीडित है अति दुख से
जग पीडित रे अति सुख से

'युगान्त' तथा 'युगवाणी' में विकसित होने वाली समाज की भावना कवि में 'गुञ्जन' मे उत्पन्न हो चुकी थी—

मानव जग मे बँट जावे
दुख-सुख से औ सुख दुख से
अविरत दुख है उत्पीड़न
अविरत सुख भी उत्पीडन
दुख सुख की निशा-दिवा मे
सोता जगता जग-जीवन

परन्तु कविका मानसिक विकास 'गुञ्जन' में काफी हो चुका है, और वह जीवन के सुख-दुख मय रूप से अपने हृदय का सामञ्जस्य बिठाता है—

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि से ओझल हो घन

'पल्लव' में कवि ने प्राकृतिक सौन्दर्य में कुतूहलपूर्ण दृष्टि से एक रहस्य को खोजने का प्रयत्न किया है, परन्तु उसकी दृष्टि प्रकृति के वाह्य विधान पर हो रही, और वह वाह्य जगत् के सौन्दर्य पर ही मुग्ध रहा। 'गुञ्जन' में कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी हो गयी है और उसमें आत्म-चिन्तन की प्रधानता आ गयी है। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उसका पुराना स्नेह अब भी वैसा ही है, परन्तु उसकी दृष्टि अब कवि की दृष्टि न रह दार्शनिक की दृष्टि हो गयी है। अब पन्तजी कविता और दर्शन में साम्य की भावना को ले अग्रसर होते हैं। आचार्य शुक्ल जी 'गुंजन' के विषय में लिखते हैं" गुंजन में हम कवि के जीवन क्षेत्र के भीतर अधिक प्रवेश ही नहीं, उसकी काव्य शैली को भी अधिक सयत तथा व्यवस्थित पाते हैं। प्रतिक्रिया की झोंक में अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि के अतिशय प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति हम 'पल्लव' में पाते हैं वह 'गुंजन' में नहीं है। उसमें काव्य शैली अधिक संगत, संयत और गंभीर हो गयी है।" [१]

'युगान्त' में कवि कला तथा सौन्दर्य की दृष्टि से 'पल्लव' से आगे नहीं बढ़ा, परन्तु कवि वास्तव में अब जीवन की समग्र अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल है, वह जीवन के अधिक निकट आ उसे विभिन्न रूप से देखने का प्रयत्न करता है। कवि की दृष्टि अब दीन-हीन कृषक समाज तथा श्रमजीवियों तक पहुँचती है, और वह उनके जीवन के सन्ताप से दुःखी हो उनके प्रति अपनी साहनुभूति को प्रदर्शित करता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में वह केवल उसके राग-रजित और माधुर्यपूर्ण पक्ष पर ही मुग्ध हो ऐसी बात नहीं वह उसके साधरण पक्ष में भी सौन्दर्य का अनुभव करता है, बाँसों के झुरमुट और उनमें से गुजरते हुए श्रमजीवियों का यह चित्र देखिए—

बाँसो का झुरमुट,
सध्या का झुटपुट
× × ×
ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन, भारी पग।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ७१२

'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में पन्त जी मानवतावादी के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं, उन्होंने साम्यवाद से निश्चय ही कुछ प्रेरणा प्राप्त की है, परन्तु वे वास्तव में विभिन्नवादों से दूर हैं। उनका आध्यात्मवाद उन्हें साम्यवाद के भौतिक आदर्शों की ओर आकर्षित होने से रोकता है; परन्तु मानवता में वे साम्य का प्रवेश अवश्य चाहते हैं—

गूँजे जय ध्वनि से आसमान
सब मानव-मानव, हैं समान!

किन्तु भौतिक साम्य की अपेक्षा वह आध्यात्मिक दृष्टिकोण से आन्तरिक साम्य के अधिक इच्छुक हैं—

बाह्य नहीं आन्तरिक साम्य,
जीवन में मानव को प्रकाम्य।

पन्त प्रगतिशील कवि अवश्य हैं, यद्यपि प्रगतिवादी कवियों की सी साम्प्रदायकता उनमें नहीं है। अपने समय के अनुकूल अपने काव्य तथा उसके सन्देश को उपस्थित करते हुए वे युग धर्म के पालन में पीछे नहीं। मानवीय-जीवन में परम्परागत रूढ़ियों से जो पक्ष सौन्दर्य-हीन और जीर्ण-शीर्ण हो चुका है, वे उसका संहार चाहते हैं—

द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र!
हे स्रस्त ध्वस्त! हे शुष्क जीर्ण!
हिम ताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन!!
निष्प्राण विगत युग! मृत विहंग!
जग नीड़ शब्द औ' श्वास हीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पंखों से तुम
झर-झर अनन्त मे हो विलीन।

उनका भावना क्षेत्र स्वाभाविक रूप से ही विकसित होता हुआ प्रगतिशील हो गया है।

मानव-मात्र के प्रेम की भावनाओं से प्रेरित हो कवि ने, अनेक स्थलों पर अपने आपको एक मानवोपासक के रूप में चित्रित किया है, उनकी 'मानव' शीर्षक कविता की कुछ पक्तियाँ देखिए—

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सब से सुन्दरतम,
निर्मित सबकी तिल सुषमा से,
तुम निखिल सृष्टि मे चिर निरुपम।

'ग्राम्या' में गाँवों की स्थिति का अत्यन्त करुणापूर्ण चित्रण किया है—

झाँड़ फूँस के विवर यही क्या जीवन शिल्पी के घर,
कीड़ों से रेंगते कौन ये? बुद्धिप्राण नारी नर,
अकथनीय क्षुद्रता विवशता भरी यहाँ जग में,
गृह गृह में है कलह, खेत मे कलह, कलह है जग में।

ग्रामीण स्थिति के प्रति उन्हें हार्दिक सहानुभूति न हो केवल बौद्धिक सहानुभूती ही है, कहीं कहीं उन्होंने ग्रामीणों के प्रति तिरस्कार भावना भी व्यक्त की है।

पन्तजी की रचनाओं में कल्पना की प्रधानता है, और अनुभूति की कमी है, इसी कारण उन्होंने बड़े विलक्षण ढग से क्षणिक अनुभूतियों को कल्पना के प्रसार द्वार रमणीय रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। परन्तु हार्दिक अनुभूति की कमी के कारण इस प्रकार की कल्पना प्रधान कविताएँ प्रायः नीरस हो गयी हैं। गीति-काव्य में सरसता तथा सौन्दर्य की सृष्टि के लिए हार्दिक अनुभूति तथा कल्पना दोनों की ही समान आवश्यकता है।

कोमलता के आग्रह और नारी-सौन्दर्य के प्रति स्वाभाविक आकर्षण से पन्तजी में स्त्रैण भावनाओं की प्रधानता हो गयी है। कवि ने विभिन्न प्रकार से काव्य में अपने आपको स्त्री-सौन्दर्य के संसर्ग में ला जहाँ अपनी कल्पना को कोमल बना लिया वहाँ उन्होंने अपनी प्रकृति को भी स्त्रैण बना लिया है।

पन्तजी की बहुत सी रचनाएँ 'रहस्यवाद' के अन्तर्गत भी गृहीत की जाती है, परन्तु 'प्रसाद' या महादेवी के से साम्प्रदायक रहस्यवाद का उनमें अभाव

है। पन्तजी की रहस्यवादी कविताएँ बहुत ही स्वाभाविक बन पड़ी हैं, उनमें रहस्यवादी कवियो की सी दुरूहता नहीं आने पायी। उनके एतद्विषयक भावों में जटिलता नहीं, प्रत्युत वे सरल, सरस तथा स्वाभाविक हैं।

पन्तजी की भाषा माधुर्य सम्पन्न तथा कोमल है। शब्द-चयन में पन्तजी आधुनिक काव्य में बे-जोड़ हैं। सगीतज्ञ होने के कारण उनके गीत सगीत की दृष्टि से भी गेय बन पड़े हैं; शब्द की प्रकृति तथा अर्थ की शक्ति पहचानने में उन्होंने विशिष्ट विवेक का परिचय दिया है। प्रारम्भिक कविताएँ अग्रेजी साहित्य से बहुत प्रभावित हैं। इधर भाषा के क्षेत्र में पन्तजी ने अग्रेजी काव्य के लाक्षणिक प्रयोग तथा चित्रमयी शैली का भी समावेश किया है। कलावाद से प्रभावित होने के कारण शब्द-विन्यास में विशेष ध्यान दिया है, इसी कारण ये हिन्दी काव्य के शब्द-शिल्पी भी कहलाते हैं।

आधुनिक हिन्दी काव्य में पन्त जी निश्चय ही विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं।

महादेवी वर्मा (जन्म स० १९६४):—हिन्दी के रहस्यवादी कवियो मे सर्व प्रमुख है। 'प्रसाद' के देहावसान और पन्त के दिशान्तर प्रस्थान से आज केवल महादेवी जी ही हिन्दी काव्य के इस क्षेत्र मे साधना-सलग्न हैं। इनकी कविताओं में वेदना की तीव्र अनुभूति व्याप्त है। हृदय का सूनापन और वेदना सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त प्रतीत होती है, और इसी विश्व-व्याप्त पीड़ा को ही इन्होंने अपने काव्य का विषय बनाया है। दुःखवाद तथा नैराश्य की छाप जितनी महादेवी जी की कविताओं पर है इतनी अन्य किसी भी हिन्दी कवि पर नहीं है। परन्तु इनका दुःख विश्लेषण की परिधि से बाहर है, क्योंकि वह इस दुःख की ही साधिका बन चुकी हैं, और दुःख ही इनका सर्वस्व हो चुका है—

> पर शेष नहीं होगी यह
> मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
> तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
> तुम में ढूढ़ूँगी पीड़ा।

इसी प्रकार—

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में।
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में।"

परन्तु यह वेदना किसी व्यक्ति से सम्बन्धित नहीं। उनकी पीड़ा सदा ही एक अज्ञात भावना से ही प्रेरित होती है, और उसी असीम के विरह में ही वे तड़पती हैं। उनका असीम विश्व के कण-कण में व्याप्त है, वे उसका विराट् रूप इस विराट् प्रकृति में पाती हैं—

रवि-शशि तेरे अवतंस लोल
सीमान्त-जटित तारक अमोल,
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र धनुष
हिमकर बन झरते स्वेद निकर
अप्सरि! तेरा नर्तन सुन्दर।

महादेवी जी उस विराट से एकता का अनुभव करती है, और अपना उससे सम्बन्ध इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

बीन भी हूँ मै तुम्हारी रागनी भी हूँ।
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ।

देवी जी मृत्यु में ही जीवन का चरम विकास समझती हुई अमर जीवन की आकांक्षा नहीं करती—

बिखर कर कन कन के लघु प्रान,
गुनगुनाते रहते यह तान
अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

महादेवीजी को यह सूनापन और वेदना अप्रिय नहीं, वे तो इस पीड़ाकी ज्वाला को सदा ही जाग्रत किए रखना चाहती हैं। उन्हें मिलन-सुख की आकांक्षा नहीं—

मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूँ।"

वे तृप्ति को नहीं चाहती, एक साधिका की भाँति अपनी प्यास को जागृत रख यह विरह में ही सुख अनुभव करती हुई कहती हैं—

चिर तृप्ति कामनाओं का
कर निष्फल जीवन,
बुझते ही प्यास हमारी
पल में विरक्ति जाती बन!

पूर्णता यहीं मरने की।
ढुलकर देना सूने घन;
सुखकी चिर पूर्ति यही है
उस मधु से फिर जाए मन

चिरध्येय यही जलने का
ठंडी विभूति बन जाना;
है पीड़ा की सीमा यह
दुख का चिर सुख हो जाना।

मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर;
रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर।

अपने अस्तित्व की समाप्ति ही मुख्य भावना है—

मैं नीर भरी दुख की बदली!
× × ×
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही—
उमड़ी कल थी मिट आज चली।

देवी जी ने प्रकृति का मानवीकरण कर सुन्दर छायावादी गीत भी रचे हैं। इनका 'आ वसन्त रजनी' वाला गीत बहुत प्रसिद्ध है, कुछ पंक्तियां देखिए—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी !
तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीश-फूलकर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछादे चितवनसे अपनी।
पुलकती आ वसन्त रजनी।

बंगाल के अकाल पर लिखी हुई इनकी 'बंग भू शत वन्दना ले' नामक कविता बहुत ही मार्मिक बन पड़ी है।

महादेवी जी की कविताओं में एकरसता अवश्य है। गीत लिखने में जितनी सफलता सुश्री महादेवी को प्राप्त हुई है, उतनी अन्य किसी को नहीं। आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्राञ्जल प्रवाह और कहीं मिलता है, और न हृदय की ऐसी भाव-भंगी। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।"

देवीजी की रचनाओं पर अंग्रेजी काव्य की अलंकार शैली, भाव धारा तथा भाषा शैली का विशेष प्रभाव है।

महादेवीजी की भाषा बहुत ललित तथा प्रसाद गुण युक्त है। संस्कृत शब्दों की बहुलता तथा विचारों की गम्भीरता के होते हुए भी कहीं जटिलता नहीं आने पायी। सुकुमार कल्पना के अनुरूप भाषा भी कोमल है।

महादेवीजी की कविताओं के संग्रह, 'नीहार' 'रश्मि' 'नीरजा' तथा 'दीपशिखा' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं, और अपनी कविता की उत्कृष्टता के कारण वे 'मंगलाप्रसाद पारितोषक' द्वारा पुरस्कृत भी की जा चुकी हैं।

स्फुट कवि

छायावाद के उपर्युक्त कवियों में छायावाद की सब प्रकार की विशेषताएँ किसी न किसी रूप में प्राप्य है, इन प्रमुख कवियों के अतिरिक्त

अनेक अन्य उल्लेखनीय कवि भी हैं जिन्होंने छायावाद काव्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रवृत्तियों का अनुसरण कर काव्य रचना की। श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'[1], इन कवियों में प्रमुख हैं। वियोगीजी रवीन्द्रनाथ ठाकुर से विशेष रूप से प्रभावित हैं, और उन्हीं की 'गीताञ्जलि' से विशिष्ट रूप से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। श्री रामकुमार वर्मा[2] आध्यात्मिक दुखवाद को अपने काव्य का विषय बनाते हैं। नैराश्य की तीव्रता इनकी कविताओं से स्पष्ट व्यक्त होती है। परन्तु नैराश्य के कारण वे अनीश्वरवादी नहीं हुए, प्रत्युत एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण को लेकर चले हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा[3], भी दुखवाद के कवियों में विशिष्ट स्थान ग्रहण करते हैं। इनका प्रेम वर्णन अलौकिक भावनाओ से परिचालित न हो लौकिक ही अधिक बन पड़ा है। इनकी अभिव्यक्ति में एक विशिष्ट प्रकार की मार्मिकता आ गयी है। भाषा माधुर्य तथा ओज पूर्ण है, परन्तु अनेक स्थान पर अंग्रेजी मुहावरे ज्यों के त्यों रख लिये गये हैं। श्री रायकृष्णदास[4] ने गद्य काव्य लेखन में विशेष ख्याति प्राप्त की है ये गद्य गीत छायावाद काव्यके अन्तर्गत ही हैं, और रवीन्द्र-साहित्य से विशेष रूप से प्रभावित है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी[5] छायावाद के रूप गढ़ने वालों में प्रमुख हैं। इनकी छायावादी कविताएँ अधिकतर छायावादी शैली से ही सम्बन्धित हैं, उसकी विशिष्ट प्रकार की भावधारा से दूर हैं। चतुर्वेदी जी ने राष्ट्रीय कविताएँ भी बहुत सुन्दर लिखी हैं। इनकी 'पुष्प की अभिलाषा' कविता देखिए कितनो भावुकतापूर्ण तथा सुन्दर बन पडी है—

चाह नहीं, मै सुरबाला के गहनो में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिध, प्यारी को ललचाऊँ
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ
चाह नहीं, देवो के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ

---

[1] 'निर्माल्य' 'एकतारा' और 'कल्पना' [2] 'अञ्जली' 'अभिशाप' 'रूपराशि' 'चित्ररेखा' [3] 'मधुकण' 'प्रेम सगीत' तथा 'मानव' [4] 'साधना' 'छायापथ' 'सलाप' तथा 'प्रवाह' [5] 'हिमकिरीटिनी'।

मुझे तोड़ लेना बनमाली।
उस पथ में देना तुम फैंक॥
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने।
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

श्री बालकृष्ण 'नवीन', श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'; पण्डित जनार्दनप्रसाद झा द्विज, श्री गुरुभक्त सिंह, श्री गोपालशरण सिंह, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि ने भी उत्कृष्ट छायावादी रचनाएँ रची हैं। श्री सियाराम शरण गुप्त[1] महात्मा गांधी से विशेष रूप से प्रभावित हैं, और इनकी रचनाओं पर गांधीवाद का पर्याप्त प्रभाव है। गुप्तजी जीवन की साधारण से साधारण घटनाओं का भी अत्यन्त मार्मिक ढंग से वर्णन करते हैं।

श्री ठाकुर गोपालसिंह नैपाली[2] की प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ बहुत उत्कृष्ट बन पड़ी हैं।

श्री ठाकुर गोपालशरणसिंह[3] भी हिन्दी के उत्कृष्ट कवि हैं। आपकी रचनाएँ अत्यन्त सरस तथा मधुर बन पड़ी हैं। भाषा अत्यन्त मधुर तथा सरल है।

राष्ट्रीय विषयों पर रचना करने वाले कवियों में श्री रामधारीप्रसाद सिंह 'दिनकर'[4] विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। 'दिनकर' जी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से विशेष रूप से क्षुब्ध हैं, इसी कारण इनकी बहुत-सी रचनाएँ प्रगतिवाद के अन्तर्गत गृहीत हैं।

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान, श्री सोहनलाल द्विवेदी, श्री अनूप शर्मा, श्री उदयशंकर भट्ट, गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री मिलिन्द इत्यादि अनेक अन्य प्रसिद्ध कवियों ने इसी काल में विभिन्न प्रवृत्तियों पर रचना कर अपनी काव्य कुशलता का परिचय दिया है।

श्री हरवंशराय 'बच्चन' हिन्दी के बहुत ही लोकप्रिय कवि हैं। इन्होंने

---

[1] 'आर्द्रा' 'विषाद' 'पाथेय' उन्मुक्त' 'नकुल' 'नोआखली', [2] 'नवीन', [3] 'माधवी' 'कादम्बनी' 'सुमना', [4] 'रेणुका' 'हुंकार' 'रसवन्ती'।

'मधुबाला', 'मधुकलश', 'निशा निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' तथा 'आकुल अन्तर' आदि अनेक पुस्तकें रची हैं। 'बच्चन' जी ने अधिकांश में हाला का गुणगान अलंकारिक रूप से ही किया है, परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं रह सका। फिर भी भावाभिव्यक्ति की मौलिकता तथा प्रभावोत्पादकता ने कवि को हिन्दी के उत्कृष्ट कवियो की पंक्ति में ला खड़ा किया है। 'बच्चन जी' की नवीन कविताओं में पलायनवादी वृत्ति विलुप्त हो रही है, और वे जीवन को निराशामय दृष्टिकोण से देखना छोड़ पुरुषार्थ के क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं। 'सतरंगिणी' में कवि नवीन सन्देश ले हमारे सम्मुख आता है।

प्रगतिवाद :—छायावादी काव्य परम्परा की श्रृंखला की अन्तिम कड़ी 'कामायनी' मानी जाती है, तत्पश्चात् हिन्दी काव्य-क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों का जागरण प्रारम्भ होता है। 'छायावादी' कवियों की आन्तरिकता और वैयक्तिता के प्रति सन् १६३७ से ही विद्रोह की भावना फैल रही थी। इधर पन्त जी के युगान्त के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी काव्य-क्षेत्र में नवीन शैली और विचारधारा को प्रोत्साहन मिला। छायावादी कवियों की अलंकार प्रियता और कलात्मक भाषा के विपरीत गद्यात्मक भाषा और व्यंग्यात्मक लाक्षणिक शैली का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। काव्य में व्यक्तिवादी कविताओं के स्थान पर निर्वैयक्तिक (Impersonal) कविताओं की प्रधानता होने लगी। सामाजिक समस्याओं को व्यक्ति की समस्याओं से अधिक महत्त्व मिलने लगा। इस प्रकार समसामायिक युग में हिन्दी काव्य एक बार फिर परिवर्तन में से गुजर रहा है। अभी निश्चित रूप रेखा के अभाव में हम समासामायिक-काव्य को किसी भी वाद के अन्तर्गत बाँध देना उचित नहीं समझते, किन्तु समसामायिक काव्य की विभिन्न विशेषताओं को दृष्टिकोण में रखते हुए हम उसकी गतिविधि की दिशाओं का अनुमान लगा सकते हैं।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि अत्यन्त आधुनिक कवि जीवन की समस्याओं को अनासक्त भाव से देखने का प्रयत्न कर रहा है, छायावादी काव्य का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण विलुप्त हो रहा है। किसान, मज़दूर, पीड़ित तथा शोषित वर्ग का काव्य में प्रवेश हो रहा है और कविता में बुद्धितत्व की प्रधानता होती जा रही है। छायावाद में आध्यात्मिकता की प्रधानता रही

है, परन्तु अत्याधिक आधुनिक कवि जीवन तथा समाज की भौतिक समस्याओं पर ही अधिक विचार करता है। समासामायिक कवि पर मार्क्स और फ्रायड का विशेष प्रभाव है। डा० श्रीकृष्णलाल ने इस विशिष्ट प्रवृत्ति की विशेषताओं को संक्षेप से इस प्रकार बतलाया है—

१. भाषा में गद्यात्मकता।

२. नये छन्दों की ओर विशेष आग्रह नहीं। परन्तु भाववाहक छन्दों के निर्माण की ओर प्रवृत्ति।

३. निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण। बाह्य जगत् को तद्‌गत और अनासक्तभाव से देखने का प्रयत्न।

४. समाजवादी सिद्धान्तों का बहुल प्रचार।

५. किसानों तथा मजदूरों का स्तवगान।

६. यौन के प्रति तीव्र आकर्षण, फ्रायड का प्रभाव।

७. शोषितों तथा पीड़ितों के प्रति सहानुभूति।

८. बुद्धितत्त्व की प्रधानता।

९. मानवता (Humanism) और अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism)

१०. प्रभाववाद (Impressionism)

११. व्यंग्यात्मक लाक्षणिक शैली का प्रयोग। डी० ऐच० लारेन्स और टी० ऐस० इलियट की रचनाओं का प्रभाव। इससे कविता में ध्वनि-प्राणता बढ़ी है।

इन विशेषताओं से युक्त काव्य-धारा का नामकरण ही प्रगतिवाद किया गया है।

प्रगतिवाद का प्रादुर्भाव वास्तव में छायावाद की सूक्ष्मता तथा पलायनवादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही हुआ है। प्रगतिवादी कवि कविता को स्वप्नलोक की वस्तु न बना जीवन के निकट सम्पर्क में लाना चाहता है। पूंजिवाद का तीव्र शब्दों में विरोध तथा वर्ग-संघर्ष और मानवतावाद का समर्थन इस वर्ग के कवियों का मुख्य धर्म है। 'रूपाभ' तथा 'हंस' ने इस काव्य धारा के निर्माण में विशेष भाग लिया है।

प्रगतिवादी काव्य धारा के प्रमुख कवि और उनके काव्य ग्रन्थ हैं—निराला (कुकुरमुत्ता, वेला नये पत्ते तथा अणिमा) शिवमंगलसिंह चौहान (जीवन के गान) श्री मन्नारायण अग्रवाल (मानव) अज्ञेय (चिन्ता) पन्तजी की ग्राम्या तथा युगवाणी में भी मार्क्स का प्रभाव स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है, इनके अतिरिक्त स्फुट प्रगतिवादी रचनाएँ करने वाले कवियों में अचल, नरेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, त्रिलोचन, गजानन-मुक्तिबोध रांगेयराघव, गिरजाकुमार 'माथुर', शील तथा प्रभाकर माचवे हैं। भगवती चरण वर्मा तो काफी समय से ही प्रगतिवादी रचनाएँ लिख रहे हैं, इधर उदयशंकर भट्ट और श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' भी इस क्षेत्र में अवतरित हो रहे हैं, परन्तु पन्तजी पुनः नवीन पथ को प्रशस्त करने के लिए उद्यत हैं।

बहुत चर्चा होने पर प्रगतिवादी काव्य अभी तक जन-सम्पर्क में नहीं आ सका, क्योंकि इन कवियों की प्रेरणा अधिकाश रूप में विदेशी माध्यम द्वारा आती है, और जिन शास्त्रों और सिद्धान्तों का इनपर प्रभाव है वे अधिकतर हिन्दी-क्षेत्र में सर्वथा अपरिचित हैं।

हिन्दी-काव्यक्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियाँ अभी विकसित हो रही हैं, अतः इनसे भविष्य में उच्च कोटि के काव्य की आशाएँ की जा सकती हैं।

———

गद्य-खण्ड

हिन्दी-गद्य का विकाश

हिन्दी का सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य पद्य में ही है, प्रायः वह एक नियम-सा ही है कि गद्य-साहित्य के विकास से पूर्व भाषाएँ पद्य-साहित्य में पूर्ण समृद्धि प्राप्त कर लेती हैं। हिन्दी-साहित्य में भी गद्य-साहित्य के इतिहास में नवयुग की सबसे बड़ी घटना गद्य साहित्य का प्रादुर्भाव है। बृटिश शासन की स्थापना से पूर्व हिन्दी गद्य अवकसित अवस्था में था और उसमें नाम-मात्र के साहित्य की ही रचना हो सकी थी। ब्रजभाषा, राजस्थानी तथा खड़ी बोली तीनों ही विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न रूपों में गद्य साहित्य के लिए प्रयुक्त की जा चुकी हैं। अवधी में भी गद्य साहित्य उपलब्ध है, परन्तु उसका कोई विशेष ऐतिहासिक महत्व नहीं।

ब्रजभाषा गद्य साहित्य प्राचीन पत्रों, धार्मिक अनुवाद ग्रन्थों तथा कथा-वार्ताओं के रूप में उपलब्ध होता है। कुछ संस्कृत नाटक भी बृजभाषा में अनुवादित किए गए हैं। ब्रजभाषा गद्य का सबसे प्राचीन नमूना गोरखपथ से सम्बन्धित हठयोग तथा ब्रह्मज्ञान विषयक ग्रन्थों मे प्राप्त होता है। गोरख पंथ से सम्बन्धित ये पुस्तकें[1] गुरु गोरखनाथजी द्वारा लिखी हुई मानी जाती हैं, और इनका समय राहुल साकृत्यायन के अनुसार विक्रम की दसवीं शताब्दी है। इस प्रकार ब्रज-भाजा गद्य का प्राचीनतम लेखक गोरखनाथ माना जा सकता है। परन्तु इधर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल इत्यादि विद्वान गोरखपन्थ की इन प्राचीन पुस्तकों को गुरु गोरखनाथ की लिखी हुई न मान उनके शिष्यों की बतलाते हैं और उनका रचनाकाल सं० १४०० के लगभग मानते हैं।

---

[1] 'गोरख-गणेश गोष्ठी' 'महादेव-गोरख-संवाद' 'गोरखजी की सत्रहकला'

गोरख साहित्य के लगभग ३०० वर्ष के बाद ब्रजभाषा गद्य में विट्ठलनाथ जी का 'शृंगार रस मंडन', गोकुलनाथजी के शिष्य की 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्त्ता' लिखी गयी। इनमें से दोनो वार्त्ताओं की भाषा व्यवस्थित और परिमार्जित है। इन वार्त्ताओं का रचना काल १७ वीं शताब्दी माना जाता है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त अष्टयाम (संवत् १६६०) वैकुण्ठ मणिकृत (सं० १६८०) वैशाख माहात्म्य' और 'अगहन-माहात्म्य' भी उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थ लेखकों के अतिरिक्त अन्य लेखक भी ब्रज-भाषा गद्य मे रचना करते रहे।

१७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तथा १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध मे ब्रज-भाषा गद्य में अनेक पुस्तके लिखी गयीं, परन्तु उनमे से अधिकाश आज विलुप्त हो चुकी हैं। बिहारी सतसई की अनेक टीकाएँ भी ब्रजभाषा-गद्य में की गयी, इधर दादू-पंथी दामोदरदास ने 'मार्कण्डेयपुराण' सुरति मिश्र ने 'वैताल पच्चीसी' नारायणदास ने 'भक्तमाल' तथा हीरालाल ने 'आइने अकबरी की भाषा-वचनिका' लिखी। ब्रजभाषा-गद्य में लिखे गये नाटक प्रायः संस्कृत नाटकों के ही अनुवाद हैं इनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

१. देवकृत देवमाया प्रपंच
२. रामकविकृत 'हनुमत नाटक'
३. नेवाजकृत 'शकुन्तला नाटक'
४. रावा नरेश महाराज विश्वनाथसिंह कृत 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक
 (हिन्दी का यह सर्व प्रथम सर्वागपूर्ण नाटक माना जाता है।)
५. भारतेन्दु बाबू के पिता गोपालचन्द्रकृत 'नहुष नाटक'

सस्कृत से अनुवादित ग्रन्थों की भाषा अत्यन्त जटिल तथा सस्कृत गर्भित है, इसी कारण स्थान स्थान पर अर्थों मे अस्पष्टता तथा वाक्यों की अव्यवस्था प्राप्य है। नवयुग के प्रारम्भ के साथ ही खडी बोली गद्य का विकास प्रारम्भ हुआ, और धीरे-धीरे ब्रजभाषा-गद्य का विकास बन्द हो गया। आज हिन्दी गद्य का साहित्यिक रूप खडी बोली में ही उपलब्ध होता है।

राजस्थानी गद्य के प्रारम्भिक रूप प्राप्य हैं। राजस्थानी में लिखित पृथ्वीराज की कुछ सनदें प्राप्त हुई हैं, उनका प्रकाशन भी हो गया है।

ये सनदें तथा पत्र राजस्थानी गद्य के प्रारम्भिक प्रमाणों के रूप में उपस्थित किए जाते हैं; परन्तु सुप्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इन सनदों की सत्यता में सन्देह प्रगट करते हैं; और उन्हें कल्पित बतलाते हैं। राजस्थानी गद्य का साहित्यिक विकास नहीं हो सका।

खड़ी बोली का अस्तित्व तो बहुत प्राचीन है, परन्तु उसका साहित्यिक रूप में विकास हाल ही में हुआ है।

खड़ी बोली-गद्य का विकास

खड़ी बोली का अस्तित्व बहुत पुराना है। जैसा कि हम पीछे खड़ी बोली-काव्य के प्रकरण में बतला चुके हैं कि खड़ी बोली का प्रारम्भिक रूप मियाँ खुसरो की कविताओं में प्राप्य है; परन्तु उसका साहित्यिक विकास आधुनिक युग में ही प्रारम्भ हुआ है। गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली उर्दू रूप में काफी समय से प्रचलित चली आ रही थी, और साहित्यिक प्रयोग के लिए काफी मँज चुकी थी। उर्दू वास्तव में खड़ी बोली के आधार पर आधारित हो, अरबी, फारसी के शब्दों के प्रचुर मिश्रण से ही निर्मित हुई थी। परन्तु खड़ी बोली स्वतन्त्र रूप में जनभाषा के रूप में प्रचलित रही। हिन्दी गद्य के ब्रजभाषा तथा राजस्थानी रूप साहित्यिक गद्य के लिए उपयुक्त नहीं समझे गये थे, अतः अंग्रेजी शासन के प्रारम्भ के साथ नवयुग की माँग के फल-स्वरूप खड़ी बोली हिन्दी साहित्य के गद्य के लिए अपना ली गयी। यह एक सौभाग्य की ही बात है कि ब्रजभाषा गद्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था, अन्यथा नवयुग में हिन्दी गद्य तथा पद्य दो विभिन्न विभिन्न रूपों में प्रचलित होता।

पद्य की भाँति गद्य में भी खड़ी बोली प्राचीन काल से ही प्रयुक्त होती आ रही थी। खड़ी बोली-गद्य का प्रारम्भिक लेखक अकबर बादशाह का दरबारी कवि गंग भाट कहा जा सकता है। गंग का समय सं० १६२० के लगभग माना जाता है, और उसने अकबर के दरबार से सम्बन्धित होते हुए ही अपनी 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक पुस्तक लिखी थी। गंग कवि से पूर्व के खड़ी बोली गद्य का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं। इसके

पश्चात् 'मंडोवर का वर्णन' तथा 'चकत्ता की पादशाही की परम्परा' नामक दो पुस्तकें प्राप्य हैं, परन्तु खड़ी बोली गद्य का विकास अप्रतिहत गति से न हो सका।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने पटियाला निवासी रामप्रसाद 'निरंजनी' को हिन्दी गद्य का प्रथम प्रौढ़ लेखक माना है। इस प्रकार मुन्शी सदासुख और लल्लूलाल से लगभग ६२ वर्ष पूर्व ही हिन्दी गद्य पर्याप्त परिमार्जित हो चुका था। 'निरंजनी' जी का सर्व प्राचीन ग्रन्थ 'योगवाशिष्ठ' है, इसकी भाषा मँजी हुई साफ-सुथरी खड़ी बोली है। 'योगवासिष्ठ' का एक उद्धरण देखिए—

"अगस्त के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप सब तत्त्वो तथा शास्त्रो के जाननेहारे हैं, मेरे एक सन्देह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों, समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है।"

पं० दौलतराम:—ने जैन 'पद्मपुराण' का सं० १८१८ के लगभग हिन्दी में अनुवाद किया है। यह अनुवाद ७०० पृष्ठों में हुआ है। इस ग्रन्थ की भाषा 'योगवासिष्ठ' सी परिमार्जित नहीं, परन्तु मध्य-प्रदेश में व्यवहृत खड़ी बोली के रूप को प्रदर्शित करती है; इस पर उर्दू तथा फारसी के शब्दों का कोई प्रभाव नहीं। 'पद्मपुराण' में प्रयुक्त भाषा का स्वरूप देखिए—

"जम्बू द्वीप के भारत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत के समान ढेर हो रहे हैं।"

सदासुखलाल (स० १८०३-८१):—ने उर्दू तथा फारसी में भी रचनाएँ की हैं। इनका उपनाम 'नियाज' था। मुन्शी जी कम्पनी की नोकरी में थे,

और चुनार में उच्च पद पर कार्य करते थे। इन्होंने उर्दू में भागवत, रामायण तथा प्रबोधचन्द्रोदय का छन्दोबद्ध अनुवाद किया है। मुन्शी जी परम भगवद्भक्त थे, और नौकरी छोड़ने के अनन्तर प्रयाग में आकर बस गए, यहीं इन्होंने भक्तिभावना से प्रेरित हो अत्यन्त सरल हिन्दी में श्री मद्भागवत का अनुवाद किया। मुन्शी जी की भाषा 'योगवासिष्ठ' की भाषा के सदृश परिमार्जित और मँजी हुई है। संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया गया है, पूर्वी प्रान्त के निवासी शिष्ट हिन्दुओं की भाषा का परिमार्जित रूप इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। फारसी व्याकरण का प्रभाव भी कहीं कहीं लक्षित किया जाता सकता है। मुन्शीजी ने किसी की प्रेरणा से ग्रन्थ रचना नहीं की थी। नीचे इनके गद्य का एक उदाहरण देखिए—

"विद्या इस लिए पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइये फुसलाइये……"

इन्शा अल्लाखाँ:—ने मुन्शी सदासुखलाल की भाँति स्वान्तःसुखाय ही लिखा है। सैयद साहब मुर्शिदाबाद में उत्पन्न हुए थे। इनके पूर्वजों का सम्बन्ध मुग़ल दरबार से था। मुगल राज्य के पतन के पश्चात् ये मुर्शिदाबाद चले गए थे। इंशाअल्ला पर्याप्त शिक्षित और सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति थे। अल्पायु में ही इन्होने उर्दू तथा फारसी में रचना कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का प्रदर्शन किया। मुन्शी सदासुख लाल की धार्मिक कथा के विपरीत सैयद साहब ने ठेठ तथा मुहाविरेदार भाषा मे 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' नामक प्रेम कथा लिखी। इस प्रेम कथा लिखने का उद्देश्य सैयद साहब के शब्दो में इस प्रकार है—"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले"……"हिन्दीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो।" इस प्रकार खाँ साहब की इच्छा ऐसी हिन्दी लिखने की थी जिसमें न तो भाषापन हो अर्थात् संस्कृत-निष्ठ भाषा का प्रयोग हो, न बाहर की बोली (अरबी, फारसी) के शब्द हों और न गँवारी (अवधी तथा ब्रज) के ही शब्द प्रयुक्त हों।

खाँ साहब की भाषा चुलबुली और चंचल है। तद्भव शब्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया गया है। भाषा कौशल के प्रदर्शन के हेतु अलकार तथा मुहावरों से भाषा को आलंकृत करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुप्रास का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिल जाता है, जैसे पुराने-धुराने, डाँग, धाग, खटराग इत्यादि।

यद्यपि खा साहब ने भाषा को सरल बनाने का प्रयत्न किया है, तथापि फारसी ढंग के वाक्यों के प्रयोग के कारण कुछ वक्रता आ गयी है। गद्य में तुकबन्दी भी दिखाई देती है जैसी 'बरसने लगे' 'तरसने लगे' 'पुट न मिले' 'कली के रूप में खिले' परन्तु घरेलु कहावतों तथा मुहावरों का प्रयोग सैयद साहब की अपनी विशेषता है। नीचे दिये वाक्यों को देखिये—

(१) चूल्हे और भाड़ में जाए.......

(२) मैं कुछ ऐसा बडबोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ और बेसिर बेठिकाने की उलझी सुलझी बातें बताऊँ।

(३) जिसका जी हाथ में न हो, उसे ऐसी लाखो सूझती है।

(४) कुछ दाल में काला है।

(५) सिर मुड़ाते ही ओले पड़े।

इंशाअल्लाखा की भाषा स्वाभाविक नहीं; वह गढ़ी गयी हैं; इसी कारण उसमें लचक नहीं। फारसी वाक्य शैली का प्रभाव ऊपर दिखलाया जा चुका है, परन्तु ठेठ घरेलु प्रयोगों और मुहावरों तथा लोकोक्तियों को प्रयुक्त कर खा साहब ने एक विशिष्ट आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न किया है।

लल्लूलाल (सं० १८०२-८२):— ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी के अध्यापक थे, और कालेज के प्रधानाध्यापक जान गिल क्राइस्ट की आज्ञा से इन्होंने हिन्दी पाठ्य पुस्तकों की रचना प्रारम्भ की। 'प्रेमसागर' इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है, इसमें इन्होंने भागवत के दशम स्कन्ध की कथा का वर्णन किया है।

लल्लूलालजी की भाषा कथा के अनुरूप अवश्य ही सरस तथा रोचक है परन्तु कथावाचकों की कथक्कडी भाषा के निकट है। आगरा निवासी

होने के कारण व्रजभाषा के शब्दों का अत्याधिक मिश्रण किया गया है, पूर्व कालिक क्रियाओं के रूप, संज्ञाओं के बहु वचन, संकेत वाचक सर्वनाम आदि सभी व्रजभाषा के ही अनुरूप हैं। सैयद इंशा अल्ला की और लल्लूलाल की भाषा में बहुत अन्तर है, जहाँ इंशाआल्ला की भाषा में फारसी शब्दों के प्रचलित रूप प्राप्त हो जाते हैं, वहाँ इनकी भाषा में अरबी तथा फारसी शब्दों का सर्वथा बहिष्कार किया गया है। इनकी हिन्दी इशाअल्ला की भाँति अनुभावित आधार को लेकर चल रही थी, परन्तु इन दोनों के सामने उर्दू का आदर्श अवश्य था। खा साहब ने इस आदर्श का अनुसरण किया जब कि लल्लूलालजी उसका परित्याग कर अपने पृथक ढग पर चले। 'प्रेम-सागर' की भाषा भी सानुप्रास है, और उसमें तुक का भी बाहुल्य है। कहीं-कहीं वाक्य आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गए हैं, मुहावरों का प्रयोग भी बहुत कम किया गया है। विशुद्ध संस्कृत तथा व्रजभाषा के शब्दों के आधार पर लल्लूलालजी ने खडी बोली को एक ऐसा रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया जो कि सैयद इंशाअल्ला और मुन्शी सुखलाल की भाषा के विपरीत था। परन्तु उनकी भाषा साधारण व्यवहार तथा मार्मिक विचारों के प्रगटिकरण में असमर्थ हो कथावाचकों की भाषा ही बनकर रह गयी। नीचे 'प्रेमसागर' का एक उद्धरण देखिए—

> "तब नृप ने पडितों को बोला दिन विचार बड़ी प्रसन्नता से सब राजा वो ऋषियों को नेवत बुलाया। लगन के समय सबों के साथ ले मंडप में जहाँ सोनन्ह के थम्भ पर मानिक दीप जलते थे जा पहुंचे।"

सदल मिश्रः—लल्लूलाल के सहयोगी थे और उन्हीं के साथ फोर्ट-विलियम कालेज में अध्यापन कार्य करते थे। कालेज अधिकारियों के अनुरोध से इन्होने भी हिन्दी में पाठ्य ग्रंथों की रचना की प्रारम्भ की थी। सदल मिश्र का नासके तोपाख्यान' सर्व प्रमुख ग्रन्थ है।

लल्लूलाल तथा सदल मिश्र की भाषा में भी पर्याप्त अन्तर है। लल्लूलाल की अपेक्षा इनकी भाषा व्यवहारोपयोगी और सरल है। इसमें व्रजभाषा के प्रयोग भी कम हैं, किन्तु बोली के शब्द जैसे जोन, इहाँ, जुबाई, इत्यादि

यत्र-तत्र प्रयुक्त किए गए हैं। कहीं कहीं वाक्य भी अव्यवस्थित हैं। खड़ीबोली को प्रयोग में लाने का पर्याप्त प्रयत्न किया गया है। तुकबन्दी तथा अनुप्रास का बाहुल्य भी नहीं। 'नासकेतोपाख्यान' की भाषा का नमूना देखिए—

"तब हर्ष से दूनो हो वहीं लडके को गोदी में उठा लिया और वेदमंत्र से नहलाय बाहर आए। बार बार विधि की स्तुत करने लगे कि धन्य हो पितामह, तुम्हारा कहा क्योंकर झूठ होय। चलो पुत्र की चिन्ता तो गई अब भली भाँति से तपस्या करूंगा। जो स्वर्ग से न टलूंगा।"

सदासुखलाल तथा सदल मिश्र की भाषा आधुनिक हिन्दी गद्य के अधिक निकट है परन्तु जहाँ सदलमिश्र के गद्य में वाक्यों की अव्यवस्था तथा पूर्वी शब्दों के प्रयोग मिलते हैं, वहाँ सदासुखलाल की भाषा इन दोषों से मुक्त है। अतः मुन्शी सदासुखलाल आधुनिक गद्य के प्रवर्त्तकों में प्रमुख स्थान के अधिकारी हैं।

उपर्युक्त महानुभावों के अतिरिक्त खड़ीबोली-गद्य के विभाग में ईसाई पादरियों ने विशेष योग दिया है। जन साधारण में अपने धर्म प्रचार के लिए यह आवश्यक ही था कि वे लोग खडी बोली को अपना उसमें अपने धार्मिक साहित्य का अनुवाद करते, क्योंकि उर्दू यद्यपि कचहरी की भाषा अवश्य थी तथापि वह जनसामान्य की भाषा नहीं थी। इसाई पादरी इस तथ्य को समझ चुके थे, अतः उन्होंने अपने धर्म ग्रन्थों का खडी बोली में अनुवाद कर तथा हिन्दी के मुद्रणालयों को स्थापित कर हिन्दी प्रचार में विशेष सहयोग दिया।

गद्य-साहित्य का निर्माण

देश में विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों के फलस्वरूप हिन्दी गद्य का विकास विभिन्न विचारधाराओं के प्रचार तथा समर्थन के निमित्त प्रारम्भ हुआ। यद्यपि कुछ भ्रमवश और कुछ जानबूझ कर भारत में अंग्रेजी सरकार ने हिन्दी के अभ्युदय को रोकने का प्रयत्न किया और उर्दू को कचहरियों तथा शिक्षा विभाग में स्थान देकर उसे प्रोत्साहित करने का प्रयत्न

किया, तथापि जनभाषा होने के कारण तथा भारतीय विचार परम्परा तथा सस्कृति से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के कारण हिन्दी का विकास न रुक सका। अनेक भारतीय मुसलमान तथा अंग्रेज अधिकारीजन हिन्दी को केवल हिन्दुओं की धार्मिक भाषा कह उसके महत्त्व को कम करने का प्रयत्न करते रहे, परन्तु हिन्दी-प्रेमियो की जागरुकता के फलस्वरूप उनकी घातक प्रवृत्तियाँ सफल न हो सकीं।

स्वामी दयानन्द :—ने हिन्दी गद्य के निर्माण तथा उसके प्रचार में विशिष्ट सहयोग दिया है। भारतीय इतिहास के संक्रान्तिकाल में जन्म ले स्वामीजी ने हिन्दु समाज में बढ़ती हुई दीनता की भावना को दूर कर उसे वैदिक धर्म का एक विशिष्ट रूप में सन्देश दिया। अंग्रेजी विचारधारा तथा ईसाई धर्म के प्रचारको के प्रचारस्वरूप हिन्दु-समाज में एक ऐसे महान् व्यक्ति की आवश्यकता थी जो कि हिन्दु समाज की सस्कृति तथा सभ्यता को बचा सकता, स्वामी दयानन्द का प्रादुर्भाव ऐसी आवश्यकता के समय में ही हुआ, और उन्होंने ईसाई धर्म के फैले हुए विचारो तथा अपने समाज के मिथ्याचारों के विरुद्ध आर्य धर्म के महत्त्व का झण्डा ऊँचा उठाया। उन्होंने अपने प्रचार-कार्य के लिए जनभाषा हिन्दी को ही अपनाया और उसका नामकरण अपनी विशिष्ट धारा के अनुरूप आर्यभाषा रखा। स्वामी जी ने आर्यसमाज की स्थापना कर उसका प्रचार उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में खूब किया। फलस्वरूप स्थान-स्थान पर आर्यसमाज स्थापित किए गए और हिन्दी का प्रचार किया गया। निश्चय ही आर्यसमाज ने और स्वामी दयानन्द ने हिन्दी के प्रचार में प्रशसनीय कार्य किया है।

परन्तु स्वामी जी ने केवल हिन्दी का प्रचार ही नहीं किया, उन्होंने बहुत से ग्रन्थ भी हिन्दी में लिखे हैं। जन्म से गुजराती होते हुए भी स्वामी जी ने हिन्दी गद्य के लिखने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। गद्य लिखने की अपनी विशिष्ट शैली को आदर्शस्वरूप उपस्थित किया। स्वामी जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं :—सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका तथा वेदों के भाष्य इत्यादि। इनकी भाषा सस्कृतनिष्ठ है, और उसमें तत्सम शब्दों की प्रचुरता है। भाषा में पंडिताऊपन भी लक्षित किया जा सकता है। सरलता,

मधुरता तथा प्रसाद इत्यादि गुणों की खोज स्वामी जी की भाषा में व्यर्थ होगी, क्योंकि उनके विषय प्रायः शुष्क तथा वादग्रस्त थे, साहित्यिक नहीं थे : अतएव यदि उनकी भाषा कर्कश तथा रूखी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। स्वामी जी की भाषा का एक उदाहरण लीजिए—

"राजा भोज के राज्य में और समीप ऐसे शिल्पी लोग थे कि जिन्होंने घोड़े के आकार का एक मान यत्र कलायुक्त बनाया था कि जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोस और एक घण्टे में सत्ताईस कोस जाता था। वह भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था और दूसरा पंख ऐसा बनाया था कि विना मनुष्य के चलाये कला-यन्त्र के बल से नित्य चला करता और पुष्कल वायु देता था'। जो ये दोनों पदार्थ आज तक बने रहते तो यूरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते।"

राजा शिवप्रसाद (सं० १८८०-१९२०):—के प्रयत्नो के फलस्वरूप ही हिन्दी को शिक्षा विभाग में स्थान मिला। इससे पूर्व उर्दू कचहरियों की भाषा तो बन ही चुकी थी, साथ ही शिक्षा का माध्यम भी बनादी गयी थी। फलस्वरूप हिन्दी साधारण जनता की बोलचाल की ही भाषा रह गयी और राजकीय आश्रय से वंचित हो गयी। परन्तु राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग में उच्च-अधिकारी नियुक्त हुए और उन्होंने अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी को स्कूलों में स्थान दिलवाया। पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के लिए राजा साहब ने जहाँ अपने अन्य सहयोगियों को उत्साहित किया वहाँ स्वयं भी अनेक पाठ्यग्रन्थ लिखे। परन्तु राजा शिवप्रसाद 'आम फहम' भाषा को पसन्द करते थे, और उसी का प्रचार करते थे। यह 'आम फहम' भाषा कही उर्दू-मिश्रित हिन्दी बन गयी है तो कहीं हिन्दी लिपि में उर्दू ही होकर रह गयी है। उनकी भाषा में उर्दू शब्दों की बहुलता दो कारणों से थी—प्रथम तो वे समझौतावादी प्रवृत्ति के अनुसार चलते हुए हिन्दी में संस्कृत शब्दों के आधिक्य के विरुद्ध थे, दूसरा कचहरियों की भाषा उर्दू थी, और यदि हिन्दुओं को उर्दू से अपरिचित रखा जाता तो सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से काफी हानि उठानी पड़ती। राजा शिवप्रसाद हिन्दु-समाज के उस वर्ग में से थे जो कि उर्दू पढ़ा लिखा था और उर्दू को शिष्ट भाषा

मानता था वैसे भी अदालती भाषा होने के कारण उर्दू जन सामान्य में शिष्ट भाषा के रूप में ही गृहीत की जाती थी, और हिन्दी ग्रामीण या हिन्दुओं की धार्मिक भाषा के रूप में। हिन्दी गद्य का अभी साहित्यिक रूप स्थापित भी नहीं हो सका था, और उसमें अवधी तथा ब्रज आदि भाषाओं के अनेक शब्द भी मिल चुके थे, जिन्हें कि राजा साहब ग्रामीण मनोवृत्ति का द्योतक समझे थे। फलतः राजा शिवप्रसाद हिन्दी को ग्रामीण बोलियों के शब्दोंके मिश्रण से बचाने के लिए और उससे संस्कृत मिश्रत 'भाषापन' को दूर करने के लिए अरबी फारसी के शब्दों से मिश्रित हिन्दी की ओर झुके। परन्तु राजा साहब की हिन्दी शीघ्र ही रूप परिवर्तित करती हुई अरबी फारसी के शब्दों के मिश्रण के परिणामस्वरूप ठेठ उर्दू के निकट जा पड़ी। उनका, इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप हिन्दी प्रेमियों द्वारा तीव्र विरोध हुआ, शायद इसी विरोध के परिणामस्वरूप वे हिन्दी प्रेमियों को मानो जवाब देने के लिए नागरी लिपि मे ठेठ उर्दू लिखने लगे। निश्चय ही राजा साहब की धारणा गलत थी, और वे व्यर्थ में ही उर्दू को आदर्श भाषा मान हिन्दी के स्वाभाविक विकास को रोक उसमें अरबी फारसी के शब्दों को घुसेड़ने का प्रयत्न कर रहे थे। सस्कृत हिन्दी की जननी है, और यदि हिन्दी संस्कृत शब्दों का आश्रय ग्रहण करती है तो यह कोई पाप नहीं करती। परन्तु अरबी फारसी आदि भाषाएँ विदेशी हैं, वे हमारी भाषाओं की प्रकृति के अनुकूल नहीं पडती, वे दासता की परिचायक हैं, ऐसी अवस्था में अपने शब्दकोश का निर्माण इन भाषाओं से कहाँ तक युक्ति-संगत हो सकता है, इसका विचार पाठक स्वयं कर सकते हैं। जब बंगला, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाएँ संस्कृत शब्दकोष का परित्याग न करती हुई साहित्यिक भाषाएँ रह सकती हैं और पूर्ण उन्नति कर सकती हैं तो हिन्दी में से ही संस्कृत शब्दों को निकाल अरबी फारसी के शब्दों को अनावश्यक रूप से घुसेड़ने की क्या आवश्यकता? इसी प्रवृत्ति तथा विचारधारा के फलस्वरूप राजा शिवप्रसाद को तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा, और वे हिन्दी को ठेठ उर्दू बनाने में असफल रहे।

परन्तु राजा साहब के हिन्दी प्रेम में किसी प्रकार का संशय नहीं किया

जा सकता। राजा शिवप्रसाद की हिन्दी दो रूपों में उपलब्ध होती है, एक तो संस्कृत प्रधान धार्मिक विषयों से संबन्धित हिन्दी, दूसरी साधारण बोल-चाल की हिन्दी। 'योगवासिष्ठ' तथा 'मानव धर्मसार' की भाषा प्रथम रूप के अन्तर्गत है, और 'राजा भोज का सपना' दूसरे रूप के अन्तर्गत। 'वैताल-पच्चीसी' की भाषा को देवनागरी लिपि में लिखित उर्दू ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

राजा साहब की भाषा में भी अनुप्रास-प्रियता की भावना लक्षित ह जाती है, कहीं-कहीं तुकबन्दी भी है। इस प्रकार तत्कालीन गद्य अभी पद्य के प्रभाव से मुक्त नहीं हुआ था। नीचे राजा साहब के विविध प्रकार की भाषा के उदाहरण दिए जाते हैं—

१. 'मानव धर्मसार' में अपनायी गयी संस्कृत-प्रधान शैली—

"तप और वेद से रहित है, प्रतिग्रह में रुचि रखता है ऐसा ब्राह्मण दाता सहित डूबता है जैसे जल में पत्थर की नौका।"

२. 'राजा भोज का सपना से—

"यह सुन कर सारा दरबार पुकार उठा कि धन्य महाराज! क्यों न हो? जब ऐसे हों तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया मानो धर्म का उद्धार करने को इस जगत् में अवतार लिया। आज आपसे बढ़ कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले से आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है।"

३. अरबी फारसी शब्दों से युक्त हिन्दी का रूप—

"दरख्त सायादार और मेवों के इस इफरात से हैं कि सारे इलाके को क्या पहाड़ और क्या मैदान; कोई ऐसी जगह नहीं जो सब्जी और फूलों से खाली हो—सब्ज़ी कैसी मानों अभी इस पर मेह बरस गया है पर जमीन ऐसी सूखी कि उस पर बेशक बैठिए, सोइए, मजाल क्या जो कपड़े में कहीं दाग़ लग जावे।"

राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८६-१६५६):—की भाषा राजा शिव-प्रसाद की भाषा के ठीक विरोध मे उपस्थित की जा सकती है। जहाँ राजा

शिवप्रसाद ने अरबी फारसी से युक्त हिन्दी को उपस्थित किया वहाँ इन्होंने अरबी फारसी के शब्दों का सर्वथा बहिष्कार कर संस्कृत गर्भित हिन्दी को हमारे सामने उपस्थित किया। वास्तव में राजा लक्ष्मणसिंह ने हिन्दी गद्य के प्राकृत स्वरूप की पुनर्स्थापना की, और उन्होंने राजा शिवप्रसाद की दोगली भाषा के विपरीत शुद्ध, प्रॉजल और सुसंस्कृत भाषा को उपस्थित किया। राजा लक्ष्मणसिंह ने अपनी शैली के प्रचार के लिए 'प्रजाहितैषी' नामक एक पत्रिका भी निकाली थी। इन्होंने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का बहुत ही सरस और विशुद्ध हिन्दी में अनुवाद किया। आगरा निवासी होने के कारण इनकी हिन्दी पर व्रजभाषा की छाप स्पष्ट लक्षित की जा सकती है। वास्तव में राजा लक्ष्मणसिंह ने सस्कृत मिश्रित हिन्दी गद्य के रूप की स्थापना कर हिन्दी गद्य में नवजीवन का संचार किया—

राजा साहब की भाषा शैली का उदाहरण देखिए—

> "तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ कर पधारे हो? क्या कारण है जिससे तुमने अपने कोमलगात को कठिन तपोवन में आकर पीडित किया है।"

यह ठीक है कि राजा शिवप्रसाद की भाषा हिन्दू-समाज के सास्कृतिक संस्कारों के प्रतिकूल थी, परन्तु राजा लक्ष्मणसिंह ने भी इस तथ्य को भुला दिया था कि जीवित भाषाओं के लिए आदान-प्रदान की भावना अत्यावश्यक है। वास्तव में राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृतनिष्ठ भाषा राजा शिवप्रसाद की फारसी व उर्दू के रंग में रंगी हिन्दी के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप ही थी।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र:—ने हिन्दी गद्य के रूप को स्थिरता प्रदान की। इनसे पूर्व जैसा कि हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं, स्वामी दयानन्द, राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी गद्य की तीन प्रकार की विभिन्न शैलियों को हिन्दी-जगत के सम्मुख आदर्श स्वरूप उपस्थित कर चुके थे। परन्तु उपर्युक्त तीनों लेखकों की शैली विभिन्न दृष्टिकोणों के उपयुक्त होती हुई भी हिन्दी गद्य के उपयुक्त न बन सकी। राजा शिवप्रसाद की हिन्दी

में उर्दू शब्द अति को पहुँच चुके थे तो स्वामी दयानन्द और राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा में संस्कृत शब्द।

भारतेन्दु बाबू ने मध्यमार्ग का अनुकरण किया, न तो उन्होंने लल्लूलाल की तथा स्वामी दयानन्द की भाँति प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का बहिष्कार ही किया और न संस्कृत शब्दों का ही अधिक ठूँसने का प्रयत्न किया जिस प्रकार भारतेन्दु बाबू ने पद्य के क्षेत्र में नेतृत्व कर उसमें नवीन विचारों तथा शैलियों का समावेश किया था, उसी प्रकार गद्य-क्षेत्र में भी भारतेन्दु बाबू ने न केवल अपनी शक्तिशाली लेखनी द्वारा ही अपितु अपने प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व द्वारा भी लेखकों के ऐसे समुदाय को उत्पन्न कर लिया। जिसने कि उनकी शैली का अनुसरण कर हिन्दी-गद्य के रूप निर्धारण में उन्हें पूर्ण सहयोग दिया।

जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं कि भारतेन्दु बाबू ने गद्य-क्षेत्र में मध्य मार्ग का अवलम्बन कर न तो हिन्दी को उर्दू ही बनने दिया और न संस्कृत ही, इसके विपरीत उन्होंने हिन्दी को निजि रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। परन्तु तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक पुनरुत्थान के आन्दोलनों के फलस्वरूप संस्कृत शब्दों के प्रचुर प्रयोग की प्रवृत्ति से वे अछूते नहीं रहे। इसी कारण भारतेन्दु बाबू के गद्य की शैली दो प्रकार की है, प्रथम प्रकार की शैली भावावेश पूर्ण थी जिसमें कि तद्भव शब्दों के साथ छोटे छोटे वाक्यों का प्रचुर प्रयोग किया जाता था, दूसरी शैली तथ्य निरूपण तथा गम्भीर विवेचन की थी और इसमें आवश्यकतानुसार संस्कृत शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। वास्तव में भारतेन्दु बाबू की भाषा मुख्य रूप से भावानुसारिणी ही रही है।

भारतेन्दु बाबू ने उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग तो किया ही, साथ ही अनेक पारिवारिक शब्दों को अपनी भाषा में उचित स्थान दिया। आवश्यकतानुसार उचित स्थान पर मुहावरे भी प्रयुक्त किए गए हैं। 'आँखें भर आना' 'जी से उतरना' 'आँख लगाना' 'नीचा दिखाना' 'नजर चुराना' 'पाले पड़ना' इत्यादि मुहावरे उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र मिल जाते

हैं। भारतेन्दु बाबू का गद्य यद्यपि अपने समय में आदर्श स्वरूप समझा जाता था, तथापि वह आज जैसा परिमार्जित नहीं, उस पर ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्टरूप से लक्षित किया जा सकता है। कहीं कहीं खड़ी बोली की विशेषताओं से अपरिचित होने के परिणामस्वरूप वाक्य भी अव्यवस्थित हो गए हैं तथापि भारतेन्दु बाबू का गद्य पर्याप्त परिष्कृत और परिमार्जित था।

भाषा के भावानुकूल होने के कारण उसमें अद्भुत माधुर्य तथा मार्मिकता आ गयी है। पाठकों से अपनत्व स्थापित करने की इच्छा के परिणामस्वरूप भारतेन्दु जी की भाषा में उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रतिफल न हुआ है। चमत्कार विधान तथा अलंकारिक शैली की ओर ध्यान न होने के कारण भाषा में स्वाभाविक प्रवाह आ गया है। भारतेन्दु बाबू के संस्कृतनिष्ठ हिन्दी गद्य का एक उदाहरण लीजिए—

> "जब मुझे अंगरेज़ी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिमकुन्तल जूट, मिथ्या रत्नाभरण विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि देश कसे, निज-निज पति-गण के साथ प्रसन्न बदन इधर से उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फरती हुई दिखलाई पड़ती हैं, तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है।"

'माधुरी' में प्रयुक्त निम्न लिखित गद्य का रूप देखिये—

> "मेरी लाडली मैं सब भुगते बैठी हूँ, दुख नहीं है तो आँखें क्यों भर आईं? मैंने तो उसी दिन जान ली थी कि तू किसी की कनौड़ी हो रही है, प्रेम भी कभी छिपा है? क्यों? जब मैं फूल बीनती दूर निकल गई थी और तू उधर से चूर सरसार चली आती थी, मेरे पास से निकल गई पर तैंने मुझे नहीं देखा कि तू किसे देखै थी, तुझे मेरी कसम जो सच न कहै; उस बेला तुझे कुछ भी याद थी कि तू किसी की टहलनी है?"

भारतेन्दु बाबू की भावावेश में लिखी हिन्दी का भी उदाहरण देखिये—

> "नाम बिके, लोग झूठा कहैं, अपने मारे मारे फिरें, पर वाहरे शुद्ध 'बेहयाई'—पूरी निल्लज्जता! लाज को जूतों मार के पीट पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं लाज की हवा भी

वहाँ नहीं जाती। हाय, एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मतवाले बने क्यों लड़ लड़कर सिर फोड़ते ? काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे ?"

भारतेन्दु बाबू ने अपने विचारों के समर्थन के लिए अपनी गद्य-शैली के प्रचार के लिए पत्रिकाओं की स्थापना की। 'कवि-वचन सुधा' नामक पत्रिका में कविताओं का संग्रह होता था, 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' भी जो कि बाद में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुई-भारतेन्दु बाबू द्वारा स्थापित की गई थी। इसी पत्रिका में ही हिन्दी गद्य की नवीन शैली का रूप रहता था। स्त्री-शिक्षा के लिए भारतेन्दु बाबू ने एक पृथक मासिक पत्रिका 'बाल-बोधनी' नाम से निकाली। इन पत्रिकाओं में विभिन्न विषयों पर विचार किया जाता था परिणाम स्वरूप हिन्दी गद्य की नवीन शैली का प्रचार दिन प्रतिदिन बढ़ने लगा। भारतेन्दु बाबू ने अपने अनेक सहयोगी उत्पन्न कर लिए, और उन्हें प्रेरित कर वे हिन्दी गद्य की अभिवृद्ध करने लगे। भारतेन्दु की मित्र मंडली में से ये प्रसिद्ध लेखक थे—पं० बद्रीनारायण चोधरी 'प्रेमघन' पं० प्रतापनरायण मिश्र, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० बालकृष्णभट्ट, लाला श्री निवास और पण्डित राधाचरण गोस्वामी। यद्यपि इन सब लेखकों ने विभिन्न शैलियों को अपनाया, परन्तु गद्य-लेखन की मुख्य शैली को एक ही रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। जिन्दादिली स्फूर्ति तथा हास्य विनोद की भावना इन लेखकों की विशेषता थी।

भारतेन्दु के समकालीन लेखकों ने मुख्यरूप से भारतीय इतिहास के प्राचीन काल की ओर अपना ध्यान केन्द्रित रखा; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने तत्कालीन सामाजिक या राजनैतिक विषयों पर नहीं लिखा। विषयों की दृष्टि से वैभिन्य अवश्य था, परन्तु तत्कालीन समाज-सुधार के आन्दोलनो के फलस्वरूप उनका ध्यान भारत के अतीत की ओर अधिक रहा।

पं० प्रतापनारायण तथा पं० बालकृष्ण भट्ट की गद्य-शैली हास्य-व्यग पूर्ण होती थी। सामाजिक तथा राजनैतिक विषयों पर उन्होंने पर्याप्त मात्रा में लिखा है। मिश्रजी ने अपनी भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है, परन्तु उर्दू शब्दों का सर्वथा बहिष्कार नहीं किया। विनोद प्रिय तथा

स्वतंत्र प्रकृति के होने के कारण मिश्रजी ने अनेक स्थानों पर पूर्वी शब्द तथा बैसवारे की ग्रामीण कहावतों का भी यथेष्ठ प्रयोग किया है। किन्तु भाषा अवश्य ही चलती और प्रवाहमयी है।

भट्टजी की शैली मिश्रजी से मिलती ही है। बोल चाल के शब्दों के साथ मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग किया गया है। इनके गद्य में उद्धरणों की बहुतायत होती है, बीच बीच में अंग्रेजी शब्द भी कोष्ठक में रख दिये जाते हैं। गम्भीर अध्ययन तथा पाण्डित्य के कारण इनके निबन्ध उत्कृष्ठ बन पड़े हैं।

'प्रेमघन' की गद्य-शैली मिश्रजी तथा भट्टजी से सर्वथा विभिन्न है। इनके गद्य में संस्कृत तत्सम शब्दों की प्रचुरता है, तथा भाषा के कलात्मक ढंग से लिखने की प्रवृत्ति के परिणाम स्वरूप अनुप्रास तथा तुकबन्दी का बाहुल्य है। लाला श्रीनिवासदास विषय के अनुरूप भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा शैलियों का प्रयोगकर सकते थे। पं० राधाचरण गोस्वामी की भाषा मंजीहुई थी, इन्होने अधिकतर उपन्यास ही लिखे हैं। सामाजिक तथा धार्मिक सुधार प्रकट किए गये हैं।

उपर्युक्त महानुभावों के अतिरिक्त इसी काल में बाबू बालमुकन्द गुप्त बा० तोताराम, पण्डित केशवराम भट्ट, पण्डित भीमसेन शर्मा, पं० सदानन्द मिश्र, पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पाण्डया तथा पं० दुर्गाप्रसाद मिश्र आदि ने भी विविध प्रकार से हिन्दी गद्य की श्रीवृद्धि की।

हिन्दी गद्य

आधुनिक काल

हिन्दी गद्य का जो रूप भारतेन्दु बाबू तथा उनके सहयोगियों ने स्थिर किया था उसमें विभिन्नता अवश्य थी, परन्तु एकता के सूत्र विद्यमान थे। उनके पश्चात् उसी आधार पर हिन्दी गद्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ और देखते ही देखते हिन्दी का प्रचार देश भर में फैल गया। भारतेन्दु बाबू के पश्चात् हिन्दी में अनेक मासिक साप्ताहिक तथा दैनिक समाचारो का जन्म हुआ,

और अनेक विद्वान देश तथा जाति के प्रेम से प्रेरित हो हिन्दी-गद्य निर्माण में सहयोग देने लगे। बंगला तथा अंग्रेजी से भी अनुवाद किए गए, और अन्य प्रान्तीय भाषाओं के रोचक ग्रन्थों के अनुवाद करने की प्रवृत्ति बढ़ी।

इधर राष्ट्रीय तथा जातीय प्रेम के जागरण के साथ हिन्दी का प्रचार भी जन साधारण में होने लगा। नगरों तथा ग्रामों में अनेक सभा सोसाइटियाँ स्थापित की गयी, और हिन्दी के पढ़ने-पढ़ाने की व्यवस्था की गयी। आर्य समाज आदि सुधारवादी आन्दोलनों ने भी हिन्दी-प्रचार में विशेष सहयोग दिया, स्त्री-शिक्षा के प्रचलन के फलस्वरूप स्त्रियों में भी हिन्दी का प्रचार हुआ। इधर प० मदनमोहन मालवीय भी हिन्दी को अदालतों में स्थान दिलाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। काशी में बाबू श्यामसुन्दरदास ने नागरी प्रचारणी सभा की स्थापना कर हिन्दी के प्राचीन साहित्य के अनुसंधान के लिए विशेष प्रयत्न किया, साथ ही नवीन गद्य-साहित्य के विकास के लिए अनेक पुस्तक-मालाएँ निकाली गयी। हिन्दी साहित्य के इतिहास को भी व्यवस्थित रूप प्रदान करने का प्रयत्न इसी काल में किया गया। इस प्रकार भारतेन्दु युग की समाप्ति के साथ ही हिन्दी-गद्य की परम्परा का पर्याप्त प्रचार और विकास हो चुका था।

भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने हिन्दी साहित्य के स्वतन्त्र अस्तित्व के प्रतिपादन के लिए और गद्य के लिए एक निश्चित रूप को स्थिर करने के लिए रचनाएँ की थीं, परन्तु उनका ध्यान व्याकरण के अनुशासन की ओर नहीं था। उनके पास इस विषय पर ध्यान देने को समय भी नहीं था। परिणामस्वरूप गद्य के प्रयोग में अव्यवस्था फैलने लगी। अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दी प्रेमियों ने जब हिन्दी साहित्य में प्रवेश किया तो उन्होंने भाषा के व्याकरण या प्रकृति का विचार न करते हुए हिन्दी का मनमाना प्रयोग प्रारम्भ किया, और यही लोग इस अव्यवस्था के कारण बने। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी जो हिन्दी की प्रकृति से परिचित थे, परन्तु इन लेखकों की शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम द्वारा हुई थी, वे हिन्दी के व्याकरण, वाक्य-निर्माण शैली तथा उसकी प्रकृति से सर्वथा अपरिचित थे। अतः इन लेखकों की भाषा अंग्रेजी के प्रभाव के कारण दूषित तथा विकृत होने लगी।

इधर बंगला आदि भाषाओं के ग्रन्थो के अनुवाद के कारण अनेक बंगला मुहावरे तथा प्रयोग हिन्दी में ज्यो के त्यो प्रयुक्त होने लगे। अनेक बंगला शब्द भी हिन्दी की प्रकृति के विरुद्ध उसमें घुसेड दिए गए। हिन्दी की प्राकृत विशेषताओं को ध्यान में रखे बिना इस प्रकार का संमिश्रण हिन्दी के निजि रूप के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकता था। इस प्रकार हिन्दी के निजि स्वरूप की रक्षा के लिए और उसकी प्रकृनि को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए व्याकरण के अनुशासन की उस समय अत्यन्त आवश्यकता थी।

भाषा में फैली इस अव्यवस्था तथा अराजकता के समय में ही प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य में प्रवेश हुआ। 'सरस्वती' सम्पादक के रूप में आचार्य महावीरप्रसाद ने हिन्दी भाषा के प्रयोगों को शुद्ध, परिमार्जित तथा व्याकरण संगत बनाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार इस क्षेत्र में व्यवस्था स्थापित करने का घोर परिश्रम किया। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आए लेखों को द्विवेदीजी काँट-छाँट कर शुद्ध रूप मे छापते, और साथ ही व्याकरण तथा भाषा सम्बन्धी त्रुटियों को भी बतलाते। कुछ लेखक द्विवेदीजी के इस नियंत्रण से असन्तुष्ट भी हुए, परन्तु वे अपने कार्य में संलग्न रहे। भाषा में प्रचलित वि-प्रान्तीय तथा प्रादेशिक शब्दों तथा मुहावरों का मूलोच्छेदन कर द्विवेदीजी ने व्याकरण-सम्मत शुद्ध हिन्दी को एक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया। नवीन लेखक, जो कि अब तक हिन्दी का मनमाना प्रयोग करते थे, अब सतर्क हो गए, इस प्रकार द्विवेदीजी ने हिन्दी को व्याकरण-सम्मत परिमार्जित बना नवीन लेखकों का सफल पथ-प्रदर्शन किया।

द्विवेदीजी का कार्य-क्षेत्र केवल भाषा-संशोधन तक ही सीमित नहीं था, उन्होंने अनेक नवीन लेखको को हिन्दी लिखने के लिए प्रोत्साहित किया साथ ही उन्होंने नवीन विषयो पर खोज पूर्ण लेख लिखने के लिए पुराने लेखकों से विशेष अनुरोध किया। इस प्रकार हिन्दी में नवीन विषयों तथा समस्याओं का समावेश हुआ। परन्तु हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के अभाव के कारण इन नवीन विषयों पर समुचित रूप से प्रकाश नही डल सकता था। द्विवेदीजी की दृष्टि भी शब्दकोष के अभाव की ओर गयी, उन्होंने संस्कृत शब्दों के प्रचुर प्रयोग की सम्मति दी। इस प्रकार हिन्दी शब्द-

का विस्तार प्रारम्भ हुआ, परन्तु इसके विस्तार के कुछ अन्य कारण भी जिन्हें संक्षेप से इस प्रकार रखा जा सकता है—

द्विवेदीजी ने संस्कृत शब्दों के ग्रहण करने की सम्मति तो दी ही थी इसके अतिरिक्त अनेक संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद हिन्दी में हुए जिसका परिणाम यह हुआ कि अनेक संस्कृत शब्द हिन्दी में स्वाभाविक रूप से ही प्रविष्ट हो गए।

हिन्दी में आलोचना साहित्य संस्कृत के आधार को लेकर चलता है; संस्कृत साहित्य के रस, ध्वनि, अलंकार इत्यादि विषयक सिद्धान्त हिन्दी में ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए गए हैं; फलतः एतद्विषयक सम्पूर्ण पारिभाषिक तथा सैद्धान्तिक शब्द हिन्दी में स्वभाविक रूप से ही प्रयुक्त होने लगे।

यह सामाजिक तथा धार्मिक पुनरुत्थान का समय था, धार्मिक तथा सामाजिक नेता प्राचीन वेद, शास्त्र आदि के अध्ययन पर विशेषता दे रहे थे। धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद करते समय संस्कृत शब्दों को ही प्रयुक्त किया जाता था। यह वाद-विवाद प्रायः हिन्दी में ही होते थे, अतः दार्शनिक तथा धार्मिक विवेचन के अनेक शब्द हिन्दी में प्रविष्ट हो गए। हिन्दी संस्कृत की पुत्री है, अतः संस्कृत से शब्द निर्माण का इसे पूर्ण अधिकार है।

(२) अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों के हिन्दी साहित्य में प्रवेश के साथ अंग्रेजी साहित्य के अनेक शब्द कुछ मूल रूप में और कुछ अनुवादित रूप में तथा अनेक मुहावरे—अनुवादित रूप में—हिन्दी भाषा में ग्रहण कर लिए गए।

(३) कुछ उत्कृष्ट उर्दू लेखकों ने भी हिन्दी लिखना प्रारम्भ किया और उनके साथ अनेक उर्दू फारसी के शब्द भी हिन्दी में आ गए। कुछ शब्द तो प्रचीन काल से ही सन्तों तथा भक्तोंके साहित्य में तद्भव रूप में प्रयुक्त होते आ रहे थे, परन्तु इन नवीन लेखकों ने इन तद्भव शब्दों को तत्सम रूप परिवर्तित कर दिया।

(४) बंगला आदि प्रान्तीय भाषाओं के अनेक ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया गया था, अतः उन भाषाओं के अनेक शब्द भी हिन्दी में प्रविष्ट हो गए।

(५) हिन्दी में छायावादी काव्य के प्रचलन के फलस्वरूप अंग्रेजी के रोमाटिक कवियों के अनेक वाक्यांश, विशेषण और शब्द समूह हिन्दी में अनुवादित हो प्रचलित हो गए।

(६) नागरी-प्रचारणी सभा ने 'हिन्दी-शब्द-सागर' के रूप में हिन्दी-शब्दावली का शुद्ध तथा वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत कर हिन्दी-शब्दकोष के निर्माण में विशेष सहायता दी।

गद्य-शैली की दृष्टि से भी हिन्दी में अनेक शैलियां का प्रचलन हो गया। हिन्दी शैली पर व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। द्विवेदी जी की गद्य लेखन शैली डा० श्यामसुन्दरदास की शैली से विभिन्न है, इसी प्रकार जयशङ्करप्रसाद और मुन्शी प्रेमचन्द की भाषा-शैली में पर्याप्त अन्तर है। उर्दू साहित्य की भाँति हिन्दी में स्थान भेद के अनुसार शैलो भेद भी थोड़ा बहुत हो गया है, जैसे काशी के लेखक सस्कृत प्रधान हिन्दी लिखते हैं तो दिल्ली के लेखक—पं० पद्मसिंह आदि—उर्दू मिश्रित चटपटी हिन्दी; परन्तु हिन्दी गद्य-शैली की विभिन्नता व्यक्तिगत प्रभाव के कारण ही अधिक है।

हिन्दी में नवीन शैलीकार जयशङ्करप्रसाद, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, चतुरसेन शास्त्री 'उग्र', 'अज्ञेय', 'निराला', हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं।

इस प्रकार नवयुग में हिन्दी गद्य विभिन्न शैलियों में प्रयुक्त होता हुआ भी एक स्थिर और परिमार्जित रूप को बनाए हुए है। नीचे हम गद्य के विविध अङ्गों—नाटक, उपन्यास, निबन्ध, कथा कहानी इत्यादि—की विकास परम्परा को क्रम से प्रदर्शित करते हैं—

नाटक

संस्कृत की विस्तृत नाटक परम्परा को उत्तराधिकार में प्राप्त करने पर भी हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास आधुनिक काल में ही हुआ है। प्रथम

तो हिन्दी का जन्म ही ऐसी परिस्थितियों में हुआ जिसमें कि राजनैतिक अशान्ति व्याप्त थी, और मनोरंजक साहित्य की रचना करना सर्वथा असम्भव था। मुगल राज्य के समृद्धि-पूर्ण दिनों में भी कुछ विशिष्ट कारणों से हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास न हो सका।

आधुनिक काल में यद्यपि हिन्दी नाटकों का समुचित विकास प्रारम्भ हो चुका है, परन्तु हिन्दी का अपना स्वतन्त्र रंगमंच अब भी नहीं है। हिन्दी-क्षेत्र पर पारसी रंगमंच का एकाधिकार है; परन्तु पारसी रंगमंच न तो आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल ही है और न हिन्दी की आवश्यकताओं के ही। शिष्ट-समाज में नटों के कार्य को तुच्छ समझा जाता है, और यही कारण है कि हिन्दी-क्षेत्र में रंगमंच का उचित विकास न हो सका। जब तक हम लोग अपने मन से नाटक खेलने वालों के प्रति अपनी तुच्छता की भावना को दूर नहीं कर देते तब तक हिन्दी रंगमंच का विकास नहीं हो सकता। हिन्दी में रंगमंच के विकास के बिना नाट्य-साहित्य का विकास भी समुचित ढंग से नहीं हो सकेगा।

हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास

यूँ तो हिन्दी में नाटक पुस्तक काफी समय पूर्व ही लिखी जाती थी, परन्तु उनमें नाट्य शास्त्र के तत्वों का सर्वथा अभाव ही है और वे नाटक कहलाने के सर्वथा अयोग्य हैं। देव कवि का लिखा हुआ 'देव-माया-प्रपञ्च' ब्रजवासीदास कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय' तथा बनारसीदास जैन लिखित 'समय-सार' इत्यादि अनेक नाटक रीतिकाल में ही लिखे जा चुके थे, परन्तु वे न तो रंगमंच के ही योग्य हैं, और न नाट्य साहित्य कहलाने के अधिकारी ही। हरिश्चन्द्र बाबू के प्रादुर्भाव से पूर्व निवाज कृत 'शकुन्तला', हृदयराम कृत 'हनुमान्नाटक' और 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' भी विशेष उल्लेखनीय है, परन्तु इनमें भी नाटकीय नियमों का सर्वथा अभाव है। ये नाटक प्रायः संस्कृत से ही अनूदित है। इनका विषय धार्मिक है और ये प्रायः पौराणिक कथानकों से ही सम्बन्धित हैं। गद्य के प्रादुर्भाव न होने के कारण ये सब नाटक पद्य मे ही लिखे गए हैं।

आधुनिक काल में अंग्रेजी नाट्य साहित्य के अध्ययन के परिणामस्वरूप विद्वानों की दृष्टि प्राचीन सस्कृत नाटकों की ओर गयी, और अनेक प्राचीन नाटकों का रगमच पर अभिनय किया गया। संस्कृत प्रेमी यूरोपीय विद्वानों ने भी सस्कृत नाटकों के अध्ययन मे विशेष रुचि प्रदर्शित की। बगला नाट्य साहित्य का विकास अंग्रेजी नाट्य साहित्य के सम्पर्क से, हिन्दी नाट्य साहित्य के विकास से पूर्व ही हो चुका था।

बंगला नाटकों के अध्ययन के फलस्वरूप और आधुनिक काल की विशिष्ट प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास नवयुग में समुचित रूप से प्रारम्भ हो गया।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र:—हिन्दी के सर्व प्रथम सफल नाटककार हैं। इनसे पूर्व इनके पिता बाबू गोपालचन्द्र भी हिन्दी में 'नहुष' नाम का एक सुन्दर नाटक लिख चुके थे। वास्तव मे 'नहुष' हिन्दी का सर्व प्रथम नाटक कहा जा सकता है। 'नहुष' मे इन्द्र तथा नहुष की कथा को बहुत ही सुन्दर ढग से वर्णित किया गया है। भारतेन्दु बाबू अपने पिता के वास्तव मे योग्य उत्तराधिकारी थे।

भारतेन्दु बाबूके नाटक.—भारतेन्दुबाबू का सर्व प्रथम नाटक 'विद्या-सुन्दर' है जोकि उन्होंने जगन्नाथ पुरी की यात्रा के अनन्तर लिखा था। ये भारतेन्दु का मौलिक नाटक न हो कर अनुवाद था। भाषा सरल है कथा रोचक है, पद्य भी सुन्दर बन पड़े हैं।

स० १६२६ में भारतेन्दुबाबू ने कृष्णमिश्र द्वारा लिखित 'प्रवोध चन्द्रोदय नाटक' के तृतीय अंक का 'पाखण्ड-विडंबन' नाम से अनुवाद किया। सं० १६३० में भारतेन्दु ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक एक मौलिक नाटक लिखा। इसकी कथा सामाजिक आधार पर आधारित है। धर्म की ओट में लोग किस प्रकार अनाचार तथा अत्याचार करते हैं। ये ही इस नाटक मे अत्यन्त सफलता पूर्वक दिखलाया गया है। स०१६३२ में भारतेन्दुबाबू ने 'प्रेमयोगिनी' नामक नाटक लिखा जिसमें कि इन्होने तत्कालीन काशी की स्थिति का वर्णन किया है। इसमें तत्कालीन समाज के धार्मिक पाखण्डों का अच्छा भण्डा-फोड़ किया गया है। 'चन्द्रावली' नाटक एक प्रेम-प्रधान नाटक है,

इसमें भारतेन्दुजी ने श्री चन्द्रावली जी का प्रेम, विरह तथा अन्त में मिलन दिखलाया है। 'विषयस्य विषमौषधम' बड़ौदा नरेश मल्हारराव के सं० १९३३ में गद्दी पर से उतारे जाने पर लिखा गया था, इसमें देशी रियासतों की प्रजा पर किए गए अत्याचारों का बड़ा मार्मिक वर्णन कर बड़ौदा नरेश के दण्डित होने पर हर्ष प्रगट किया गया है।

स० १९३३ में ही 'भारत दुर्दशा' का निर्माण हुआ, इसमे भारतेन्दु बाबू ने भारत के अतीत की गौरवपूर्ण स्थिति को प्रदर्शित करते हुए वर्तमानकाल के अधःपतन का अत्यत मार्मिक चित्रण किया है।

सं० १९३७ में 'नीला देवी' का प्रणयन हुआ, यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें पजाब के एक हिन्दु राजा पर मुसलमानो के आक्रमण के वृतान्त के आधार पर कथानक की रचना की गयी है। यह अत्यन्त मनो-रंजक तथा अभिनय के योग्य नाटक है।

स० १९३८ मे 'अन्धेर नगरी' नामक एक प्रहसन लिखा गया सं० १९४१ में 'सती प्रताप' नामक नाटक की रचना प्रारम्भ की परन्तु वह अधूरा ही रहा।

इस प्रकार भारतेन्दु के मौलिक नाटकों की संख्या ८ है—

(१) वैदिकी हिन्दी हिंसा न भवति (सं १९३०)

(२) 'प्रेम योगिनी' (स० १९३२)

(३) चन्द्रावली (सं० १९३३)

(४) विषस्य विषमौधम (सं० १९३३)

(५) भारत दुर्दशा (सं० १९३३)

(६) नीला देवी (स० १९३७)

(७) अंधेर नगरी (स० १९३२)

(८) सती प्रताप (स० १९४१)

भारतेन्दुबाबू के अनुवादित नाटकों के नाम ये हैं—(१) विद्यासुन्दर (बंगला से, सं० १९२५), (२) 'पाखण्ड-विडम्बन' (प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के आधार पर, सं० १९२९), (३) 'धनञ्जय विजय' (कवि कांचनकृत 'धनञ्जय विजय' का अनुवाद-सं० १९३०), (४) कर्पूर-मंजरी (प्राकृत से सं० १९३३),

(५) सत्यहरिश्चन्द्र (बगला से स० १६३२), (६) मुद्राराक्षस (संस्कृत से सं० १६३२), (७) भारत-जननी (बगला से-सं० १६३४) ।

'सती प्रताप' को भारतेन्दुबाबू पूर्ण न कर सके, इसी प्रकार प्रवास नामक स्वतंत्र नाटक भी अपूर्ण ही रहा । शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट आव वेनिस' का अनुवाद 'दुर्लभबन्धु' के नाम से प्रारम्भ किया था, परन्तु वह भी अपूर्ण ही रहा।

विषय के दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों को पौराणिक, ऐतिहासिक तथा सामाजिक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। सती प्रताप पौराणिक, नीला देवी ऐतिहासिक तथा चन्द्रावली, भारतदुर्दशा आदि सामाजिक वर्ग में रखे जा सकते हैं ।

भारतेन्दुबाबू ने नाट्य शास्त्र का विस्तृत अध्ययन किया था, यह हमें उनके नाटकों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने भारतीय नाट्य शास्त्र और यूरोपीय काव्य शास्त्र के मध्य मार्ग का अवलम्बन किया है, न तो उन्होंने प्राचीनता को पुराना मान छोड़ दिया है और न नवीनता के प्रकाश पर मुग्ध हो नवीन मार्ग का अन्धाधुन्ध अनुसरण किया है। समयानुसार नवीन प्रवृत्ति का आश्रय ग्रहण करते हुए उन्होंने अंग्रेजी तथा संस्कृत नाटकों को एक स्थान पर लाने का प्रयत्न कर एक नवीन शैली का सृजन किया। भारतेन्दु के बाद नाटककारों ने भी थोड़े बहुत परिवर्तन के अनन्तर इसी शैली का अनुसरण किया है ।

भारतेन्दुबाबू ने अपने नाटकों को केवल पाठ्य पुस्तक के रूप में ही प्रयुक्त करने के लिए ही नहीं लिखा था, उन्होंने जहाँ अपने नाटको को साहित्यिक गुणों से युक्त बनाने का प्रयत्न किया है वहा रग मच का भी पूर्ण ध्यान रखा।

नाटकीय तत्वों की दृष्टि से भी भारतेन्दुबाबू को नाटक-रचना में विशेष सफलता प्राप्त हुई है। नाटको में देश प्रेम, जाति प्रेम, तथा सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को स्थान दे, भारतेन्दुबाबू ने नव युग के नाटककारो का इस विषय में नेतृत्व किया। साथ ही नाटकों में जनता की रुचि को जागृत कर उसे जन-साधारण के जीवन के निकट लाने का प्रयत्न किया।

भारतेन्दुबाबू ने अपने नाटकों में शुद्ध साहित्यिक गीतों को स्थान तो दिया ही, साथ ही गद्य की भाषा को परिमार्जित कर नाटकों के साहित्यिक

रूप के अनुरूप बना दिया। प्राचीन परिपाटी का आधार लेते हुए भी भारतेन्दुबाबू ने नाटकों में नवीन शैली का पूर्ण अनुसरण किया और उन्हें आडम्बर हीन बना दिया। सुखान्त, दुखान्त तथा प्रहसन आदि की रचना कर उन्होंने हिन्दी नाट्य क्षेत्र को पर्याप्त विस्तृत किया।

भारतेन्दु वास्तव में हिन्दी के सर्व प्रथम सफल नाकटकार हैं, और वे इस क्षेत्र में नवीन लेखकों का कल्याणकारी नेतृत्व करने में पूर्ण सफल हुए हैं।

भारतेन्दु के समकालीन तथा परवर्ती नाटककार

भारतेन्दु के पश्चात् हिन्दी नाटक भी ह्रासोन्मुख हो गया है। नाटककारों की तो कमी नहीं, परन्तु नाट्य शास्त्र के गुणों से युक्त नाटकों की कमी अवश्य रही। भारतेन्दु बाबू ने अपने नाटकों के लिए विविध विषयों का निर्वाचन किया था, और ये विषय प्रायः सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते थे, परन्तु भारतेन्दु के परवर्ती नाटककारों ने सामाजिक समस्याओं की ओर अधिक ध्यान न दे प्रेम तथा रोमास को ही अपने नाटकों का मुख्य विषय बनाया। जहा भारतेन्दुबाबू ने पारसा रगमच को परवाह न करते हुए अपने स्वतंत्र पथ का अनुसरण किया वहाँ उनके पश्चात् के नाटककारों ने पारसी रङ्ग-मंच का ध्यान रख अपनी शैली का निर्माण किया। इस प्रकार नाटककार अपने स्वतन्त्र पथ का अनुसरण न कर जनता की रुचि के अनुगामी होते हुए पारसी थियेटर की शैली पर नाटक रचना करने लगे।

ला० श्रीनिवासः—भारतेन्दुबाबू के समकालीन नाटककारों में सर्व प्रमुख हैं। इनके प्रमुख नाटक हैं—प्रह्लाद चरित्र, तप्ता-सेवरण; संयोगिता-स्वयंवर और रणधीर-प्रेममोहिनी।

'रणधीर-प्रेम मोहिनो' के अतिरिक्त शेष सब नाटक कलात्मक दृष्टि से असफल हैं। 'रणधीर-प्रेममोहनी' लालाजी की एक सफल और सुन्दर रचना है। यह हिन्दी का सर्व प्रथम दुखान्त नाटक है, इसकी कथा पर्याप्त मार्मिक बन पड़ी है।

राधाचरण गोस्वामी (सन् १८५८—१६२५):— ने कोई पूर्ण नाटक नहीं लिखा, सब छोटे छोटे रूपक हैं जिन्हें एकांकी कहना ही अधिक

उपयुक्त होगा। कथानक भी शिथिल होता है, दृश्य बहुत शीघ्र परिवर्तित होते हैं। चरित्र-चित्रण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। वार्तालाप भी रोचक नहीं, अधिकतर उपदेशात्मक बन पड़े हैं। इनके नाटकों के नाम ये हैं—सती चन्द्रावली, अमरसिंह राठौड़, श्रीदामा, बूढ़े मुँह मुहासे, तन मन धन गोसाईंजी के अर्पण और भंग तरंग। अन्तिम तीन प्रहसन हैं।

पं० किशोरीलाल गोस्वामीः—के लिखे हुए दो नाटक हैं, (१) मयंक मंजरी, तथा (२) चौपट चपेट। दूसरा प्रहसन है, और इसमें चरित्र हीन वर्ग का अत्यन्त नग्न चित्रण किया गया है। 'मयंक-मंजरी' में शृंगार-रस का अच्छा परिचय हुआ है।

इन लेखकों के अतिरिक्त हरिश्चन्द्रजी की शैली का अनुसरण करने वाले ये लेखक प्रमुख हैं–देवकीनन्दन त्रिपाठी[१], दामोदर शास्त्री[२], श्रीकृष्णतरू[३], लाला खड्गबहादुर मल्ल[४], प्रतापनारायण मिश्र,[५], ज्वालाप्रसाद मिश्र[६], दुर्गाप्रसाद मिश्र, बल्देवप्रसासाद मिश्र[७], तथा तोताराम वर्मा[८]।

राधाकृष्णदास ने भी दुखनी बाला, पद्मावती, धर्मालाप महाराणा प्रताप, आदि तथा राव कृष्णदेवशरणसिंह ने माधुरी-रूपक नाम सुन्दर नाटक लिखे हैं। इसी काल में पं० बालकृष्ण भट्ट ने सुन्दर प्रहसन भी लिखे हैं। भारतेन्दु के अनन्य मित्र चौधरी बद्री नारायण 'प्रेमघन' द्वारा लिखित विरंगा रहस्य नामक नाटक भी विशेष उल्लेखनीय है।

---

१. सीताहरण नाटक, रुक्मणी-हरण नाटक, कंसवध नाटक नन्दोत्सव आदि आठ नाटक इनके लिखे हुए हैं।

२. रामलीला

३. विद्या विलासिनी और सुख सम्बन्धिनी

४. हरतालिका नाटक

५ कलि कौतुक रूपक,

६. सीता वनवास, वेनी संहार नाटक, विचित्र कवि, गोस्वामी कामनार्थ।

७ मीराबाई, नन्द विदा,

८. विवाह–विडम्बना नाटक

धार्मिक नाटककारों में पं० राधेश्याम तथा पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' विशेष उल्लेखनीय हैं। प० राधेश्याम के नाटको में श्रीकृष्ण अवतार, रुक्मिणी मंगल, तथा वीर अभिमन्यु सफल नाटक समझे जाते हैं श्री बेताब के नाटकों में 'रामायण' तथा 'महाभारत' प्रसिद्ध हैं। इन नाटकों पर पारसी रंग मंच और इनकी भाषा पर उर्दू का विशेष प्रभाव है।

अनुवाद:—भारतेन्दुबाबू ने स्वयं भी कुछ नाटकों का बंगला तथा संस्कृत के सफलता पूर्वक अनुवाद किया था। इन नाटकों के नाम हम पीछे दे आए हैं राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनुवादित 'शकुन्तला नाटक' बहुत प्रसिद्ध है, भावों के अनुरूप भाषा तथा कोमल-कान्त-पदावली से युक्त पद्य बहुत ही सरस तथा सुन्दर बन पड़े हैं। पद्यों के अनुवाद में तो मूल का सा आनन्द आता है। भाव, भाषा तथा पद्य सभी दृष्टि से यह अनुवाद पूर्ण सफल बन पड़ा है।

राजा लक्ष्मणसिंह से संस्कृत अनुवाद की परम्परा विकसित हुई है, और उनके पश्चात् भारतेन्दुबाबू तथा ला० तोताराम को इस क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त हुई। ला० तोताराम ने 'महावीर चरित्र', 'उत्तर रामचरित्र', 'मालती माधव', 'मालविकाग्नि मित्र', 'मृच्छकटिक' और 'नागानन्द' का अनुवाद किया। बा० बालमुकुन्द गुप्त, ज्वालाप्रसाद मिश्र आदि ने इस परंपरा को जारी रखा। इधर नवयुग के आरम्भ में पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने भवभूति के 'उत्तर रामचरित्र' तथा 'मालती माधव' का बहुत सुन्दर तथा सरस अनुवाद किया। अंग्रेजी नाटककारों में से शेक्सपीयर तथा एडिसन के नाटकों के ही अधिक अनुवाद हुए। भारतेन्दु के पश्चात् बंगला नाटकों के अनुवाद की तो मानों बाढ़ सी ही आ गयी। अनेक बंगला नाटको के हिन्दी में अनुवाद किए गए। पं० रूपनारायण पाण्डेय को इस क्षेत्र में विशेष सफलता प्राप्त हुई। पाण्डेयजी ने बाबू द्विजेन्द्रलाल राय के कई उत्कृष्ट नाटको का हिन्दी में अनुवाद किया। राय महोदय बंगला के उत्कृष्ट नाटककार हैं और उनका प्रभाव हिन्दी नाट्य साहित्य पर अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुआ।

वर्तमान युग के प्रमुख नाटककार

वर्तमान युग के प्रारम्भ के साथ ही हिन्दी नाटकों के रूप में बहुत परिवर्तन हो गया, पाश्चात्य नाट्यसाहित्य का प्रभाव बंगला नाटकों द्वारा हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त रूप से पड़ा। स्वगत, कथन, आकाश भाषित, प्रस्तावना, मंगलाचरण आदि सभी अस्वाभाविक अंशों को निकाल कर नवीन शैली पर नाट्य साहित्य का सृजन प्रारम्भ हुआ।

जयशंकर 'प्रसाद':—वर्तमान युग के सर्व श्रेष्ठ नाटककार हैं। यह ठीक है कि रंगमंच तथा अन्य नाटकीय तत्वों के अनुसार उनके नाटकों मे कुछ दोष हो सकते हैं, परन्तु भाषा, भाव तथा साहित्यिकता की दृष्टि से उनके नाटक हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है, और वे पश्चिम के श्रेष्ठतम नाटककार के समकक्ष हो सकते हैं।

'प्रसाद' के नाटकों के नाम ये हैं:—(१) ध्रुव स्वामिनी (२) एक घूंट (३) राज्यश्री (४) चन्द्रगुप्त मौर्य (५) विशाख (६) करुणालय (७) जनमेजय का नाग यज्ञ (८) कामना (९) स्कन्दगुप्त (१०) अजात शत्रु।

'प्रसाद' ने अपने नाटकों का कथानक भारत के प्राचीन अतीत से चुनने का प्रयत्न किया है और हिन्दु तथा बौद्ध युग के उस काल को हमारे सामने उपस्थित किया है, जिसे कि इतिहासज्ञ भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहते हैं। इतिहास के इस काल का 'प्रसाद' ने विशेष अध्ययन किया था परन्तु अतीत के इन अस्पष्ट चित्रों को इन्होंने अपनी कल्पना तथा चित्रमयी भाषा द्वारा साकार बना दिया। इतिहास के इस काल में अपनी सूक्ष्म दृष्टि से कथा वस्तु के लिए नवीन सामग्री को चुन 'प्रसाद' ने तत्कालीन वातावरण के चित्रण में अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है। प्राचीन आर्य-जीवन के प्रति 'प्रसाद' को विशेष ममत्व था, उन्होंने अपनी कल्पना तथा खोज के बल पर साहित्य में आर्यों के इस अतीत का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया। आर्य-सभ्यता की नैतिक श्रेष्ठता के वे कायल थे, वर्तमान भौतिकवादी युग में उन्होंने भारतीय सभ्यता की इसी नैतिक उच्चता को चित्रित करने का सफल प्रयास किया है।

'प्रसाद' के नाटकों की कथा वस्तु की योजना अधिकाश में रोमाटिक है, और इसी कारण डा० इन्द्रनाथ मदान ने इनके नाटकों को रोमाटिक धारा के अन्तर्गत रखा है। नाटकीय तत्वों का ध्यान न रखते हुए 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में वर्षों की दीर्घकालीन घटना को एकत्रित करने का प्रयत्न किया है; बीच में अनेक उपकथाएँ या अन्तर्कथाएँ भी चलती रहती हैं। यद्यपि यह अन्तर्कथाएँ मूल कथा से सम्बधित नहीं होतीं, तथापि वे मूल कथा के और प्रमुख पात्रों के स्वाभाविक विकास में बाधा डालती हैं। इन्हीं कारणों से इनके नाटको की कथाएँ घटनाओं की सघनता के फलस्वरूप दोषयुक्त हो—सुष्ठु नहीं बन पड़ी। 'चन्द्रगुप्त' में २५ वर्ष के अन्तर की घटनाओं को एक स्थान पर रखने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु 'प्रसाद' का मुख्य उद्देश्य सास्कृतिक उच्चता को सिद्ध करना था, इसी कारण वे चाहते हुए भी कथा-वस्तु की ओर अधिक ध्यान न दे सके।

'प्रसाद' के नाटको के कथोपकन लम्बे, रहस्यमयी युक्तियों तथा दार्शनिक भावनाओं से पूर्ण हैं। उनके पात्र दार्शनिक तथा भाव प्रधान होते हैं, भाषा की कठिनता के कारण अस्पष्टता और दुरुहता आ गयी है। 'प्रसाद' मुख्य रूप से कवि थे; अतः वे अपने कवित्व से प्रत्येक स्थान पर दब जाते हैं। निश्चय ही उन्होंने पात्रों के मन की सूक्ष्म मनोवृत्तियों का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, परन्तु अनेक स्थानों पर वे कवि सुलभ भावुकता में रहस्यमयी उक्तियों का कथन करवाते हुए अपने कथोपकथन को नाटकीय दृष्टि से अनुपयुक्त बना लेते हैं। भाषा की एकरूपता भी कथोपकथन के स्वाभाविक विकास को रोकती है।

नाटकों के चरित्र चित्रण में 'प्रसाद' ने अवश्य सफलता प्राप्त की है। अनेक स्थानों पर उन्होंने परम्परागत चरित्रों के रूप को भी परिवर्तित कर दिया है, 'चन्द्रगुप्त' नाटक का चन्द्रगुप्त केवल एक कठपुतला न रह कर नाटक में विशिष्ट भाग लेता है, इसी प्रकार चाणक्य के चरित्र-चित्रण में कवि ने हमारे सम्मुख उसके हृदय-पक्ष को अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

' नाटकों में प्रयुक्त गीत भावभिव्यक्ति और सरसता की दृष्टि से निश्चय ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं। साहित्यिकता की दृष्टि से निम्नलिखित गीत देखिए—

तुम कनक किरण के अन्तराल मे
लुक छिप कर चलते हो क्यो ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के घन, रसकन ढरते,

'चन्द्रगुप्त' में आये 'हे लाज भरे सौन्दर्य ! बतादो मौन बने रहते हो क्यों ?' शीर्षक गीत की ऊपर दी गई पंक्तियो में सौन्दर्य तथा यौवन का कितना भावपूर्ण तथा मादक वर्णन है ? परन्तु 'ध्रुव स्वामिनी' तथा 'चन्द्रगुप्त' के अतिरिक्त शेष नाटकों में ये गीत प्राय: स्वतंत्र मुक्तक गीत के सदृश ही प्रयुक्त किए गए हैं, क्योंकि वे न तो प्रकरण के अनुकूल हैं और न पात्र की भावनाओं के ही।

स्वाभाविक गम्भीरता के कारण 'प्रसाद' के नाटको में हास्य के विनोद की भावना की कमी है। प्राचीन परम्परा के पालन के निमित्त जो हास्य-विनोद की सामग्री प्रस्तुत की गयी है, वह अधिक उपयुक्त नहीं बन पड़ी।

वर्तमान सामाजिक तथा राजनैतिक आन्दोलनों, परिस्थितियों और समस्याओं का प्रभाव 'प्रसाद' जी के नाटकों पर स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। स्वदेश प्रेम, विश्व प्रेम तथा आध्यात्मवाद आदि की भावनाएँ रूप परिवर्तित कर 'चन्द्रगुप्त' तथा 'स्कन्दगुप्त' मे प्रविष्ट हो गयी हैं।

अनेक कारणों से 'प्रसाद' के नाटकों का रगमंच पर अभिनय नहीं किया जा सकता, यह एक बहुत बड़ी त्रुटि है। क्योंकि नाटक पाठ्य साहित्य न होकर दृश्य-काव्य है। यदि उसमें स्टेज पर खेले जाने की क्षमता नहीं तो वह नाटक कहलाने के सर्वथा अनुपयुक्त होगा। 'प्रसाद' जी की भाषा सस्कृत गर्भित है, और नाटकों के कथोपकथन लम्बे भावपूर्ण और रहस्यवादी उक्तियों से पूर्ण है, इस कारण वे जन साधारण के लिए अर्थ गम्य नहीं हो सकते। युद्ध, मृत्यु आदि रगमंच पर न दिखाने योग्य दृश्यों का भी समावेश किया गया है इन दृश्यों को रंगमंच पर दिखाना यदि असम्भव नहीं तो कठिन

अवश्य है। परन्तु प्रसाद जी का यह कथन कि रंगमंच को नाटक का अनुसरण करना चाहिए नाटक को रंगमंच का नहीं, उनकी प्रवृत्ति का परिचायक है, और उनकी रंगमंच के प्रति उपेक्षा की सबसे बड़ी सफाई है।

इन त्रुटि के होते हुए भी 'प्रसाद' के नाटकों का बहुत महत्व है, वे हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं, और 'प्रसाद' निस्संकोच हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ नाटककार कहे जा सकते हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' :—'प्रसाद' के अनतर द्वितीय सफल ऐतिहासिक नाटककार हैं। जितनी सफलता 'प्रेमी' जी को इस क्षेत्र में प्राप्त हुई है, उतनी 'प्रसाद' के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं। 'प्रसाद' के विपरीत 'प्रेमीजी' ने अपने नाटकों के कथानक की सामग्री मुग़ल काल से चुनी है, और वर्तमान हिन्दु-मुसलिम समस्या के सुलझाव को मध्यकालीन हिन्दु-मुसलिम सम्पर्क में ढूँढने का प्रयत्न किया है। नाटकीय तत्वों की दृष्टि से प्रेमीजी के नाटक अधिक सफल हैं, परन्तु संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि और साहित्य-सम्पन्नता की दृष्टि 'प्रसाद' के।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' के मुख्य नाटक ये हैं—(१) 'शिवा-साधना' (२) प्रतिशोध (३) रक्षा-बन्धन (४) स्वप्न-भंग (५) आहुति तथा (६) मन्दिर।

'प्रेमी' जी ने रंगमच का विशेष विचार रखा है, साहित्यिक दृष्टि से भी ये नाटक पूर्ण और सफल हैं। वर्तमानकाल की राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित हो 'रक्षा-बन्धन' में प्रेमीजी ने हिन्दु,मुसलिम ऐक्य की स्थापना का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। वस्तु विन्यास, चरित्र-चित्रण आदि के दृष्टि से यूँ तो प्रेमीजी के सम्पूर्ण नाटक ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं, परतु 'रक्षा-बंधन' उनमें सर्व श्रेष्ठ है। प्रेमी जी के नाटकों का कथोपकथन तथा कथानक 'प्रसाद' के नाटकों की अपेक्षा अधिक नाटकीय है, भाषा भी इनकी स्वाभाविक तथा प्रसगानुकूल है।

वर्तमान काल के राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप अनेक स्थानों पर लेखक ने अपनी वर्तमान भावनाओं को तत्कालीन पात्रों में अभिव्यक्त किया है जो कि कुछ असगत सा प्रतीत होता है। फिर भी उनके नाटकों में भारतीय आदर्शवाद की परम्परा का अच्छा निर्वाह हो पाया है।

हाल ही में प्रेमजी ने सामाजिक नाटकों की रचना भी प्रारम्भ की है। इनमें वर्गवाद की भावना का कुछ आभास मिल सकता है। मजदूर तथा शोषित वर्ग के प्रति वर्तमान कलाकार की सहानुभूति स्वाभाविक ही है।

सेठ गोविन्ददासः—आधुनिक नाटककारों में प्रमुख हैं। ऐतिहासिक नाटकों में उनका 'हर्ष' तथा 'कर्त्तव्य' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'कर्तव्य' में सेठजी ने राम तथा कृष्ण के चरित्र को दो खण्डों में विभक्त करके रखा है, दोनों सर्वथा स्वतंत्र हैं परन्तु लेखक ने अत्यन्त कुशलता पूर्वक दोनों को एक कर दिया है। 'हर्ष' में सम्राट हर्ष वर्द्धन की कथा को अत्यन्त रोचक ढग से रखा गया है। प्राचीन वास्तुकला तथा वेषभूषा का विशेष ध्यान रखा गया है। इनके अतिरिक्त उषा, नवरस, प्रकाश, शशिगुप्त, कुलीनता, सप्तरश्मि आदि कई नाटक लिखे हैं। 'प्रकाश' के आरम्भ में प्रतीकवाद (Symbolism) का भी थोड़ा बहुत प्रयोग किया गया है। शशिगुप्त सेठजी की नवीन रचना है। सेठजी का शशिगुप्त तथा 'प्रसाद' का चन्द्रगुप्त एक ही है परन्तु एतद् विषयक की खोजों का सेठजी ने सुन्दर प्रयोग किया है। सेठजी ने एकांकी नाटक भी बहुत सुन्दर लिखे हैं। हाल ही मे प्रकाशित 'पाकिस्तान' नाटक बहुत सफल बन पड़ा है।

सेठजी के नाटक साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं बन पड़े, कथोपकथन तथा वस्तु विन्यास विशेष आकर्षक नहीं, परन्तु अपनी विशिष्ट शैली के कारण सेठजी के नाटक हिन्दी साहित्य में उत्कृष्ठ स्थान के अधिकारी हैं।

पं० उदयशंकर भट्ट.—को पौराणिक नाटक लिखने में विशेष सफलता प्राप्त हुई है। पौराणिक नाटकों मे भी 'अम्बा' सर्व श्रेष्ठ है। वियोगान्त नाटक को संयोगान्त की अपेक्षा वह अधिक महत्व देते हैं, और इसी कारण जन्म भर वेदना में गलने वाले इस नारी-हृदय की पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए ही भट्टजी ने अम्बा का चुनाव किया है। 'सागर-विजय' पुराण-प्रसिद्ध राजा सगर की कथा पर आधारित है। इस मे देश प्रेम की भावना की यत्र-तत्र बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। 'मत्स्यगंधा' भाषा नाट्य है। 'विश्वामित्र' भी इसी प्रकार की रचना है। पौराणिक नाटकों की रचना

में भट्टजी को वैसी ही सफलता प्राप्त हुई है जैसी कि 'प्रसाद' जी या 'प्रेमी' जी को ऐतिहासिक नाटक लिखने में। इनकी नाट्यकला बहुत मंजी हुई है, भाषा उत्कृष्ट है, नाटकोपयोगी भी पर्याप्त हैं। भट्टजी के ऐतिहासिक नाटकों में—दाहर या सिंध पतन, विक्रमादित्य, विशेष प्रसिद्ध हैं। भट्टजी के एकांकी नाटक भी सुन्दर बन पड़े हैं।

प० लक्ष्मीनारायण मिश्र:—का समसामायिक युग के नाटककारो में सर्वश्रेष्ठ स्थान है। क्या कला, क्या रंग-मंच सभी दृष्टियों से इनके नाटक ऊंचे बन पडे हैं। अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटककार इब्सन (Ibsen) तथा शा (B. Shaw) का इन पर विशेष प्रभाव है और उन्हीं की कला को इन्होंने हिन्दी में विशिष्ट रूप प्रदान किया है। एक विशिष्ट व्यग्य, शैली तथा विचार द्वारा मिश्रजी ने नाटक लिखने की इस विदेशी शैली को अपनी व्यक्तिगत शैली बना लिया है। इनके नाटक अधिकतर समस्या प्रधान हैं, इनमें न तो गीत ही हैं और न भावुकता-पूर्ण कथोपकथन ही, अत्यन्त सीधे सरल ढग से यथार्थ का वर्णन ही इन नाटकों की विशेषता है। इनके नाटकों का आकार छोटा होता है, और वे प्रायः वर्तमान समय से ही सम्बन्धित होते हैं। इनमें संकलन-त्रय (Three Unities का विशेष ध्यान रखा जाता है।

इनके नाटकों की सर्व प्रधान समस्या नारी ही है। वर्तमान भारतीय वातावरण में स्त्री-शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप निश्चय ही नारी एक समस्या बनी हुई है। मिश्रजी ने अपने नाटकों में इस नारी समस्या को विभिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, स्त्री प्रेम का स्वरूप क्या है? आत्म समर्पण अथवा सेवा। स्त्री की सबसे अमूल्य वस्तु क्या है? उसका चरित्र, उसकी शरीरिक पवित्रता अथवा मानसिक विकास? इस प्रकार की विभिन्न समस्याओं के विवेचन के लिए ही मिश्रजी के नारी-पात्रों का निर्माण हुआ है। नाटकों में बुद्धितत्व तथा शुद्ध कामसमस्या (Sex problem) का समावेश करने वाले मिश्रजी हिन्दी के सर्व प्रथम नाटककार हैं। शिक्षित वर्ग के लिए इनके नाटक एक विशिष्ट विचार-पद्धति प्रस्तुत करते हैं।

मिश्रजी ने प्रत्येक दृश्य के प्रारम्भ में पात्र की वेश भूषा तथा रंग-मंच सम्बन्धी संकेतों को बहुत सुन्दर ढंग से प्रारम्भ में ही कर दिया है। मिश्रजी के नाटकों

में 'सिन्दूर की होली' तथा 'राक्षस का मन्दिर' विशेष सफल बन पड़े हैं। इनके अतिरिक्त 'मुक्ति का रहस्य' और 'आधी रात' भी सुन्दर नाटक हैं। इधर 'गरुडध्वज' तथा 'नारद की बीणा' नामक दो ऐतिहासिक नाटक भी इन्होंने लिखे हैं, परन्तु शैली की नवीनता और मौलिकता से इन्होंने इस क्षेत्र में नवीन दिशा का संकेत किया है। दोनों नाटकों में आर्य-अनार्य संस्कृति संघर्ष और गुप्त-वंश के सुन्दर चित्र खेंचे गए हैं।

इन प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त सर्व श्री सुदर्शन[१], माखनलाल चतुर्वेदी[२], जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद[३], गोविन्द वल्लभ पन्त[४], रामकुमार वर्मा[५], सत्येन्द्र[६], उपेन्द्रनाथ अश्क[७], जनार्दनराय[८], वृन्दावनलाल वर्मा[९], चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार[१०], पं० पृथ्वीनाथ शर्मा[११] तथा मुरारिशरण मागलिक[१२] आदि वर्तमान युग के श्रेष्ठ नाटककार हैं।

श्री सुमित्रानन्दन पन्तका प्रतीक प्रधान 'ज्योत्स्ना' नाटक भी अपने ढंग का एक निराला नाटक है। मुंशी प्रेमचन्द ने भी एक दो नाटक लिखे हैं, परन्तु वे इस क्षेत्र मे सफल नहीं हो सके। बेचन शर्मा 'उग्र'[१३] समाज

---

१. अंजना, भाग्यचक्र, आनरेरी मजिस्ट्रेट (प्रहसन)

२ कृष्णार्जुन युद्ध

३. प्रताप प्रतिज्ञा

४. बरमाला, राजमुकुट अंगूर की बेटी

५. चारुमित्रा

६. मुक्ति यज्ञ, कुनाल, विक्रम का आत्ममेध, प्राश्चित

७. जयपराजय, स्वर्ग की झलक

८. आधीरात,

९. धीरे धीरे

१०. अशोक, रेवा

११. दुबिधा, अपराधी

१२. मीरा

१३. चुम्बन, चारबेचारे, डिक्टेटर, अवारा,

के कुत्सित तथा घृणित अङ्गों को अपने नाटकों का विषय बना उनका अत्यन्त चटकीली भाषा में वर्णन करते हैं।

एकांकी नाटककार

इधर हिन्दी में अनेक उत्कृष्ट एकांकी नाटक भी लिखे गए हैं। वैसे तो भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार रूपक की अनेक विधाओं के अन्तर्गत एकांकी नाटक आ जाते हैं, परंतु वर्तमान काल के एकांकी नाटकों की शैली तो पश्चिम की ही देन है। डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी के उत्कृष्ट एकांकी नाटककार हैं, इनके एकांकी नाटकों का संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' और 'रेशमी टाई' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इनके अतिरिक्त सर्व श्री भुवनेश्वर प्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', चद्रगुप्त विद्यालंकार, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास तथा पृथ्वीनाथ शर्मा हिन्दी के लोकप्रिय एकांकी नाटककार हैं।

आधुनिक काल में हिन्दी रंगमंचः—हम पीछे लिख चुके हैं कि हिन्दी रंगमंच के स्वतंत्र विकास न होने के फल स्वरूप हिन्दी नाटकों का समुचित विकास नहीं हो सका। नवयुग में भी यह कमी ज्यों की त्यों चली आ रही है। हिन्दी नाट्य साहित्य के रंगमंच के विकास न होने के फलस्वरूप अभी तक पाठ्य साहित्य ही बना हुआ है। कुछ साहित्य-समितियों ने इस दिशा में कुछ सफल प्रयास अवश्य किये है, परन्तु उनके प्रयत्न एकाङ्गी ही रहे हैं। नवयुग में जिस प्रकार नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि हो रही है उसी प्रकार हम आशा कर सकते हैं कि हिन्दी प्रेमी रंग-मंच की स्वतंत्र स्थापना में भी विशेष रुचि प्रदर्शित करेंगे।

हिन्दी-नाट्य साहित्य का भविष्य बहुत उज्वल, आशाप्रद है। स्वतंत्र भारत की राष्ट्र भाषा के इस पक्ष की पुष्टि के लिए ऐसे नाटककारों की आवश्यकता हैं जो कि जीवन की समस्याओं का विवेचन करते हुए रंगमंच के विकास में भी विशिष्ट सहयोग प्रदान कर सकें।

उपन्यास तथा कहानी

हिन्दी साहित्य में उपन्यास तथा कथा साहित्य का सूत्रपात भी भारतेन्दु-बाबू के समय में हुआ, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इससे पूर्व कथा

साहित्य का सर्वथा अभाव था, पर आधुनिक ढंग से पूर्ण विकसित कथा साहित्य का प्रारम्भ तो निश्चय ही भारतेन्दु के समय से माना जायगा। प्रारम्भिक युग में उपन्यास साहित्य का बंगला तथा अंग्रेजी से अनुवादित रूप में प्रवेश हुआ। अनुवाद अधिकतर बंगला उपन्यासों के हुए। प्रायः बंगला साहित्य के सम्पूर्ण मुख्य उपन्यासकारों—बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्रदत्त, चण्डिचरणसेन, शरच्चन्द्र और चारुचन्द्र आदि—के उपन्यास हिन्दी में अनुवादित किए गए। अंग्रेजी से अनूदित उपन्यास अधिकतर वासनापूर्ण तथा आश्चर्य प्रधान हैं। हिन्दी के सर्व प्रथम मौलिक उपन्याकार हैं ला० श्रीनिवास।

लाला श्रीनिवासः—का 'परीक्षागुरु' हिन्दी का सर्व प्रथम मौलिक उपन्यास है और अपने समय में इसकी बहुत ख्याति रही। इसमें 'हितोपदेश' तथा 'पचतंत्र' की सी उपदेशात्मक प्रवृत्ति का प्रधान्य है।

इसी समय और शैली पर पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान एक सुजान' लिखा।

बाबू देवकीनन्दन खत्री (सं० १९१७—१९७०):—के लिखे 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता सन्तति' नामक उपन्यास उस समय इतने प्रसिद्ध हुए कि अनेक उर्दू पढ़े लिखे शिक्षितों को इन्हें पढ़ने के लिए हिन्दी सीखनी पड़ी। रोमांस, तिलिस्म, अय्यारी तथा घटना बाहुल्य ही इन उपन्यासों की विशेषता है। तत्कालीन जन साधारण की रुचि कौतुहल और तिलिस्म की ओर अधिक झुकी हुई थी, इसी कारण तत्कालीन उपन्यास लेखक जनता की इस प्रवृत्ति की शान्ति के निमित्त रचनाएँ करते थे। देवकीनन्दन के उपन्यासों में कल्पना की प्रमुखता रहती थी और जादूगरी की कथाओं का 'अलफ लेला' के ढगपर वर्णन किया जाता था। चन्द्रकान्ता संतति' के अतिरिक्त इनके मुख्य उपन्यासों के नाम ये हैं:—'काजर की कोठरी' 'कुसुमकुमारी' 'नरेन्द्र मोहिनी' 'वीरेन्द्रवीर' इत्यादि।

किशोरीलाल गोस्वामीः—ने प्रेमरहस्यपूर्ण रोमांचक उपन्यासो की प्रचुर परिमाण में सृष्टि की है। अपने उपन्यासों में गोस्वामीजी ने सामाजिक

समस्याओं को भी ग्रहण करने का प्रयत्न किया है, परन्तु रोमांस की अधिकता के परिणाम स्वरूप इनके उपन्यास अधिकतर जन साधारण को कौतूहल वृत्ति की शान्ति से आगे न बढ़ सके, वे जनता की प्रवृत्ति के अनुसार बह गए, उसे उठा न सके। इनके उपन्यासों में प्रेम के विलासपूर्ण पक्ष का अत्यन्त नग्न चित्रण किया गया है, कहीं कहीं यह शिष्टता की सीमा को पार कर गया है; भाषा की शैली तथा भावों की दृष्टि से इनके उपन्यास अधिकतर भाव प्रधान (Sentimental Novel) बन पड़े है। गोस्वामीजी ने लगभग ६० उपन्यास लिखे हैं।

गोपालराम गहमरीः—ने हिन्दी में जासूसी उपन्यासों का समावेश किया, इन्होंने बहुत से मौलिक उपन्यास लिखे हैं और कुछ का हिन्दी में अनुवाद किया है। घटनाओं के आधिक्य के कारण चरित्र-चित्रणकी ओर ध्यान नहीं दिया गया· भाषा भी ग्रामीण हो गयी है। साहित्यिक दृष्टि से इसका कोई विशेष मूल्य नहीं।

प्रारम्भिक युग के इन विशष्टि उपन्यासकारों के अतिरिक्त हरिकृष्ण जौहर, प० लज्जाराम मेहता, बाबू ब्रजनन्दनसहाय आदि ने भी इसी शैली पर और लगभग इन्हीं विषयों पर उपन्यास लिखे हैं। बाबू ब्रजनन्दन सहायके उपन्यास अधिकतर भाव प्रधान (Sentimental) बन पडे हैं। इन लेखकों ने कहीं कहीं स्वतत्र शैली को विकसित करने का भी प्रयत्न किया है।

इधर गद्य-साहित्य मे द्विवेदीजी के आविर्भाव के साथ बंगला उपन्यासों की देखा देखी हिन्दी मे भी सामाजिक उपन्यासों की रचना प्रारम्भ हुई। हिन्दु समाज मे प्रचलित अनेक बुराइयों—वृद्ध विवाह· बाल विवाह, बहु विवाह आदि को लेखकों ने अपना विषय बनाया—तिलिस्मी, यौन प्रधान, ऐयारी तथा आश्चर्य पूर्ण उपन्यास उच्च वर्ग द्वारा गृहीत नहीं किए गए थे, उनका प्रचार जनसाधारण में ही था। उच्च वर्ग बंगला से अनुवादित सामाजिक उपन्यासों से विशेष रूप से प्रभावित हुआ, और कालान्तर में सामाजिक उपन्यासों की सर्जना मे इसी शैली का अनुसरण किया गया। कला की दृष्टि से इन सामाजिक उपन्यासों का पर्याप्त विकास हुआ, परन्तु फिर भी निम्नलिखित दोष उनमे प्राप्य हैं—

(१) उपदेशात्मक प्रवृत्ति का बाहुल्य। असम्बद्ध सामग्री का प्रवेश।
(२) गौण तथ्यों का विस्तार और मुख्य तथ्यों की अवहेलना।
(३) घटनाओं के विस्तार और कथा के विस्तार में असन्तुलन।
(४) वास्तविक स्थिति से अपरिचय के परिणाम स्वरूप कथा तथा घटनाओं का भ्रामक विस्तार।
(५) अप्राकृतिक घटनाओं का समावेश। चरित्र-चित्रण की कमी।
(६) भाषा की दृष्टि से भी स्थिति अभी असन्तोष जनक थी।

परन्तु प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के अनन्तर हिन्दी के उपन्यास साहित्य में मुन्शी प्रेमचन्द का प्रवेश होता है जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र में भाषा, भाव तथा शैली सभी दृष्टियों से क्रान्तिकारी परिवर्तन समुपस्थित हो जाते हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द (सं० १९३७-१९९३):—हिन्दी के उपन्यास-सम्राट कहलाते हैं, और वास्तव में वे इस आदर के अधिकारी भी हैं। उनके उपन्यास हमारे युग के 'महाकाव्य' हैं। उन्होंने जिस प्रकार अपने उपन्यासों में जनता के जीवन को चित्रित किया, और जिस प्रकार उन्होंने समाज की विवेचना कर उसके दोषों को प्रदर्शित कर आदर्श चरित्रों को हमारे सम्मुख उपस्थित किया, वह वास्तव में हिन्दी साहित्य मे अपूर्व था।

मुंशी जी के कथा-साहित्य में प्रवेश के साथ ही इस क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित हो गया, वे नवीन ढंग के चरित्र प्रधान उपन्यास लिखने वालों में सर्व प्रथम थे। प्रारम्भ में प्रेमचन्द उर्दू में लिखते थे, परन्तु शीघ्र ही उन्होंने अनुभव कर लिया कि जिस जीवन का वे चित्रण अपने उपन्यासो में करना चाहते हैं, उसके लिए उर्दू उपयुक्त नहीं, क्योंकि ग्रामीण समाज सम्मिलित रूप से उर्दू से बहुत दूर जा पड़ता है; फलतः उन्होंने हिन्दी को अपना उसमें अपनी रचनाएँ कीं।

प्रेमचन्द के उपन्यास :—(१) सेवा सदन' (२) निर्मला, (१) ग़बन, (४) प्रतिज्ञा, (५) वरदान, (६) प्रेमाश्रम, (७) रंगभूमि, (८) कायाकल्प, (९) कर्म भूमि, (१०) गोदान।

'सेवा सदन' 'निर्मला' तथा 'ग़बन' आदि उपन्यास सामाजिक हैं, हिन्दु समाज की विषम स्थिति का इनमे बहुत सूक्ष्म चित्रण किया गया है

'सेवासदन' में मुंशी जी ने सुमन को मुख्य केन्द्र मान कर कथा की सर्जना की है, पाठक का ध्यान सुमन की स्थिति पर केन्द्रित रहता है, परन्तु प्रेमचन्द सेवासदन में केवल सुमन की व्यक्तिगत समस्या को ही लेकर उपस्थित नहीं हुए उन्होंने उसके जीवन के पीछे समाज की वेश्यावृत्ति की समस्या को उपस्थित किया है। यह ठीक है कि सुमन का चरित्र बहुत सजीव बन पड़ा है, वह उपन्यासकार के हाथ की कठपुतली न हो कर अपने व्यक्तित्व का स्वतंत्र विकास करती है, परन्तु उसकी समस्या समाज की वृहत् समस्या में घुल मिलकर एक हो जाती है। 'सेवासदन' की सबसे बड़ी विशेषता परिस्थितियों, घटनाओं और विभिन्न चरित्रों का सामंजस्य है।

'निर्मला' में प्रेमचन्द जी ने वृद्ध विवाह का दुष्परिणाम दिखाया है, परन्तु उसके साथ ही समाज की विभिन्न समस्याएँ स्वय हमारे सम्मुख आ जाती हैं। इसी प्रकार 'गबन' में स्त्रियों के आभूषण-प्रेम से उत्पन्न स्थिति का वर्णन किया गया है। 'प्रतिज्ञा' में विधवा-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। 'रंगभूमि' 'प्रेमाश्रम' 'गोदान' तथा 'कायाकल्प' में प्रेमचन्द एक विशाल भूमि पर आ जाते हैं, वह समाज को दो विभिन्न वर्गों—शोषित और शोषिक—में बँटा देख उनके पारिस्परिक संघर्ष का चित्रण करते हैं। इन उपन्यासों में दो कथाएँ साथ-साथ चलती हैं, कहीं-कहीं तो ये दो कथाएँ इतनी विभिन्न क्षेत्रों में जा पड़ती हैं कि यदि उन्हें कुछ परिवर्तन के साथ पृथक उपन्यासों में बाँट दिया जाय तो बिना कथा में बाधा पड़े दो पृथक-पृथक उपन्यास बन सकते हैं। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से हम इन उपन्यासों की कथा की समीक्षा करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि इन उपन्यास में चल रही दो विभिन्न कथाएँ पृथक न हो कर न केवल परस्पर सम्बन्धित ही हैं, अपितु एक दूसरे पर आश्रित हैं। 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' तथा 'गोदान' इत्यादि उपन्यास गाँवों से सम्बन्धित हैं, और ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के दो विभिन्न वर्गों के चित्रण के लिए ऐसा आवश्यक ही था। 'निर्मला' 'सेवा-सदन' इत्यादि में वर्ग संघर्ष की भावना कहीं-कहीं पारिवारिक समस्या है परन्तु इन लम्बे उपन्यासों में ग्रामीण समाज दो विभिन्न वर्गों में विभाजित—जिमींदार तथा किसान के रूप में—चित्रित किया गया है। इन दोनों वर्गों से

प्रेमचन्द का घनिष्ट सम्बंध था, वे इन्हें निकट से जानते थे; अतः ये कथाएँ लम्बी बन पड़ी हैं।

प्रेमचन्द की कला :—कुछ आलोचको का यह विचार है कि प्रेमचन्द अपने उपन्यासों में मुख्य रूप से उपदेशक तथा समाज सुधारक के रूप मे ही आए हैं। यह बात काफी अशो मे ठीक हैं, प्रेमचन्द का मुख्य उद्देश्य समाज-सुधार था, और वे कला को कला के लिए मानने वाले नहीं थे। उनके युग मे उपयोगितावाद की प्रधानता थी। परन्तु उन्होंने कला की अवहेलना की या इस बारे मे कुछ सोचा ही नही, ऐसे निर्णय पर पहुँचना उनके प्रति अन्याय करना है। प्रेमचंद ने कलापक्ष पर विचार किया है, विशेष रूप से कला के उस पक्ष पर जिसका कि उनके क्षेत्र से विशेष सम्बन्ध था। यही कारण है कि उनका प्रचारक रूप भी अरुचिकर नहीं बन पड़ा, कला के तत्वों को अवश्य ही गौणरूप प्रदान किया गया, परन्तु सुधार का लक्ष्य प्रछन्न ही रहा, और उनकी रचनाओं में कथा-तत्व की अप्रधानता कहीं भी नहीं हो पायी। केवल कथा के आनद की प्राप्ति के लिए भी पाठक उसे पढ़ सकते हैं।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में चरित्र-चित्रण पर विशेष ध्यान दिया है, उनके पात्र व्यक्तित्वपूर्ण तथा सजीव बन पडे हैं। उनका स्वाभाविक तथा स्वतंत्र विकास होता है, वे उपन्यासकार के हाथ की कठपुतली मात्र नहीं रहते। वैयक्तिक विशेषताओं के प्रदर्शन के अतिरिक्त परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न चरित्रों का उत्थान-पतन अत्यंत स्वाभाविक बन पड़ा है। इसी प्रकार मानव हृदय के विभिन्न घात प्रतिघात, विभिन्न परिस्थतियां में उत्पन्न परस्पर विरोधी विचारों के चित्रण में प्रेमचन्द को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। मनुष्यों के भावों तथा विचारों में किस प्रकार उलझनें पड़ जाती हैं, और उन्हें सुलझाने में मनुष्य किस प्रकार असफल हो खीज उठता है, इत्यादि मानसिक चित्तवृत्तियों का प्रेमचन्द ने अत्यंत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। चरित्र-चित्रण में प्रेमचंद ने अनेक स्थलों पर केवल चित्र प्रस्तुत किये हैं, और थोड़े से शब्दो में सम्पूर्ण चरित्र को व्यंग्यात्मक ढग से स्पष्ट कर दिया है। थोड़े से शब्दों मे पात्र को सजीव बनाने में प्रेमचन्द

अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है। 'रंगभूमि' में राजा महेन्द्रप्रताप सिंह, ताहिर अली तथा नायकराम आदि के शब्द-चित्र इसी ढंग पर प्रस्तुत किये गए हैं। 'गोदान' में महाजनों के तथा 'प्रमाश्रम' के कारिंदों के चरित्र चंद शब्दों में अत्यंत कुशलता पूर्वक चित्रित कर दिए गए हैं।

उपन्यासों में वार्तालाप बहुत सुन्दर तथा स्वाभाविक बन पडे हैं। अनेक स्थलों पर प्रेमचन्द वार्तालाप द्वारा पात्रों की चारित्रिक विशेषता को अत्यंत कुशलता पूर्वक प्रदर्शित करते हैं, पात्रों के अनुसार भाषा का प्रयोग तो और भी अधिक स्पष्टता ला देता है। स्त्रियों की भाषा बहुत स्वाभाविक, और घरेलु मुहावरों से युक्त बन पडी है। पशुओं के मूक भाषण को भी प्रेमचन्द ने शब्दों में अत्यंत कुशलतापूर्वक बाँध दिया है।

प्रेमचन्द की भाषा:—प्रेमचन्द की भाषा उनकी बहुत बडी विशेषता है। जैसी चलती हुई, मुहावरेदार और स्वाभाविक भाषा प्रेमचन्द की है ऐसी किसी भी अन्य हिन्दी उपन्यासकार की नहीं। वास्तव में प्रेमचन्द की सफलता का बहुत कुछ रहस्य उनकी भाषा ही है। ग्रामीण जीवन के चित्रण को प्रस्तुत करने के कारण प्रेमचन्द ने अपनी भाषा की नींव देहाती मुहावरों तथा शब्दो पर रक्खी है। इसी कारण उनके वार्तालाप अत्यन्त स्वाभाविक बन पडे हैं। प्रेमचन्द की भाषा में साहित्यिकता तथा चमत्कार का अभाव नहीं परन्तु इस चमत्कार को उत्पन्न करने के लिये इन्हें प्रयत्न नहीं करना पडा। भाषा में स्वतः ही एक चमत्कार और वैचित्र्य आ गया है। यह विशेषता उनकी भाषा को और भी अधिक जन-सुलभ बना देती है। क्योंकि उनकी चमत्कार सामग्री—अलंकार, उपमाएँ मुहावरे इत्यादि—जन साधारण में प्रचलित हैं। उनकी उपमाएँ ग्रामीण जीवन की देन हैं जैसे—'गाय मन मारे उदास बैठी थी, जैसे कोई बधू ससुराल आई हो', तिलक-मंडप से अभी अभी तक आगकी ज्वाला निकल रही थी। राजा साहब और उनके साथ के कुछ गिने-गिनाये आदमी उनके सामने चुप चाप खडे थे, मानों श्मशान में खडे किसी मृतक की दाह क्रिया कर रहे हों। प्रेमचन्द के शहरी पात्रों की भाषा उर्दू होती है, परन्तु देहाती मुसलमान हिन्दी ही बोलते हैं।

वार्तालाप तथा प्रसंगानुकूल भाषा के प्रयोग करने में तो प्रेमचन्दजी को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। जिस क्षेत्र और जिस समाज का चित्र प्रेमचन्द जी ने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है, भाषा उनकी उनहीं के अनुरूप बन पड़ी है।

आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार:—प्रेमचन्द जी के कथनानुसार उन्होंने अपने उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का चित्रण किया है। आदर्श प्रधान युग में प्रेमचन्द में आदर्शवादी भावों की न्यूनता भला किस प्रकार हो सकती है? तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में आदर्शवाद का प्राधान्य था, परन्तु प्रेमचन्द इस आदर्शवाद से प्रभावित होते हुए भी अपनी अनेक रचनाओं में यथार्थ की ओर झुक रहे थे। उनके हृदय पर गान्धीवादी समझौता-प्रवृत्ति का प्रभाव अवश्य था, परन्तु उनका बुद्धिवाद कभी-कभी इस प्रवृत्ति की ओर से शंकायुक्त अवश्य हो जाता है। यही शंका उन्हें समाजवादी की, घृणित तथा कुत्सित अवस्थाओं के चित्रण में यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाने को प्रेरित करती है। जमींदारों द्वारा किए गए अत्याचार और शोषण का चित्रण प्रेमचन्द की यथार्थ प्रवृत्ति का ही फल है। यदि वे इस प्रवृत्ति से प्रभावित न होते तो उनके चित्र इतने नग्न और यथार्थ न बन सकते। वे अपनी आदर्शवादी भावना से प्रेरित हो किसी न किसी समझौते को खोजने का प्रयत्न करते और कुत्सित परिस्थितियों के चित्रण में इतना यथार्थ दृष्टिकोण न अपनाते। उनका यह दृष्टिकोण अनेक स्थानों पर आदर्शवादी विचार पद्धति से प्रभावित हो समझौतावादी हो जाता है, और वे किसी कल्पित समझौते की खोज के लिए बाध्य हो जाते हैं, परन्तु यह कल्पित समझौता उनकी यथार्थवादी बुद्धि के अनुकूल नहीं बैठता। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द न तो यथार्थवादी ही बन सके और न आदर्शवादी ही। उनकी सुधार तथा सामंजस्य की प्रवृत्ति ने उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी के रूप में ही उपस्थित किया। एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि आज के मार्क्स दर्शन से प्रभावित प्रगतिवादी लेखकों की अपेक्षा प्रेमचन्द अधिक यथार्थवादी हैं, और उनकी रचनाएँ भारतीय जीवन से अधिक सम्बन्धित हैं। वर्तमान प्रगतिवादी

लेखक न तो यथार्थवादी हो बन सके और न भारतीय जीवन की समस्याओं के ही अधिक निकट आ सके हैं। उनका साहित्य विदेशी भावनाओं और आदर्शों से प्रेरित होने के कारण जन साधारण के लिये दुर्बोध हो गया है।

प्रेमचन्द जन-साधारण के महान् कलाकारः—हिन्दी साहित्य में ही क्यों सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में प्रेमचन्द जनता के सर्व प्रथम प्रतिनि. कलाकार हैं। बंगला के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार शरतचन्द से प्रायः प्रेमचन्द की तुलना की जाती है परन्तु शरत बाबू और प्रेमचन्द के क्षेत्र में बहुत अन्तर है। शरत मध्य वर्ग के प्रतिनिधि हैं, उनकी समस्याएँ बंगाल के भद्रलोक से सम्बन्धित हैं, और उनके हल भी उन्होंने अपने समाज के दृष्टि-कोण के अनुसार प्रस्तुत किए हैं, परन्तु प्रेमचन्द जन समाज के कलाकार हैं, उन्होंने अपने वृहदाकार उपन्यासों में सामाजिक संघर्ष और उथल-पुथल का चित्रण किया है। उनके उपन्यास समाज के विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित हैं, उनका सा व्यापक सामाजिक ज्ञान ससार के बहुत कम साहित्यिकों को होता है। जन सामान्य की समस्याओं के कुशल चित्रण के नाते वे वास्तव में जनता के सर्व प्रथम प्रतिनिधि कलाकार हैं।

प्रेमचन्दकी कहानियाँ:—प्रेमचन्द ने बहुत सी कहानियाँ भी लिखी हैं जो कि बहुत लोकप्रिय हुई हैं। कुछ आलोचकों का विचार है कि प्रेमचन्दजी को उपन्यासों की अपेक्षा कहानियों में अधिक सफलता प्राप्त हुई है। 'मान-सरोवर' (५ भाग) 'नवनिधि' 'प्रेमद्वादशी' 'प्रेम पच्चीसी' आदि इनके कहानियों के संग्रह बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

जयशंकर प्रसादः—ने भी 'कंकाल' तथा 'तितली' लिख हिन्दी उपन्यासकारों में विशिष्ट स्थान बना लिया है। 'कंकाल' में 'प्रसाद' जी ने यथार्थ वादी दृष्टिकोण अपना समाज के नंगे चित्रण का उद्घाटन किया है। समा के पतित तथा घृणित वर्ग को उन्होंने एक ही स्थान पर एकत्रित करने का प्रयत्न किया है। समाज के इस घृणित अंग का यथार्थ नग्न चित्रण कुछ आलोचकों को पसन्द नहीं, उनके अनुसार यह समाज के प्रति तिरस्कार की भावना उत्पन्न करता है; परन्तु यदि हम इसके विपरीत यह सोचने का

प्रयत्न करें कि इसमे उपन्यासकार ने समाज की बुराइयों की ओर समाज सुधारकों का ध्यान आकर्षित कराया है, तो क्या अनुचित होगा? यथार्थ परिस्थितियो का चित्रण करते हुए भी आदर्शवादी प्रसाद गोस्वामी के भाषणों द्वारा आदर्श के प्रतिष्ठापन में पीछे नहीं रहते। संहार के साथ-साथ निर्माण का कार्य इन्होंने जारी रखा है, समाज के कुत्सित अवस्था के वर्णन के साथ उसके सुधार के लिए प्रयत्न अवश्य किया गया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास बहुत सफल रहा है। मगल, विजय, कृष्णशरण गोस्वामी तथा यमुना (तारा) का चरित्र बहुत कुशलता पूर्वक चित्रित किया गया है। कला की दृष्टि से 'कंकाल' हिन्दी के उत्कृष्ट उपन्यासो में गिना जाता है।

'तितली' मे ग्रामीण समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। इस उपन्यास में लेखक पूर्ण रूप से आदर्शवादी के रूप मे हमारे सन्मुख आता है। 'तितली' का चरित्र बहुत सफल और उत्कृष्ट बन पड़ा है। ग्रामीण जीवन और प्राकृतिक दृश्यों की बहुत सुन्दर झाकियॉ यत्र-तत्र दिखाई गयी हैं। आख्यायिका लिखने मे भी प्रसाद जी को विशेष सफलता प्राप्त हुई है, परन्तु इनमें कवित्व की प्रधानता है, और कथानक की कमी है। भावुकता पूर्ण होते हुए भी उनकी कहानियो में अनुभूति की विशिष्ट तीव्रता और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति प्राप्य है। अनेक कहानियॉ चरित्र प्रधान हैं, कुछ कहानियों में इन्होंने निम्न-वर्ग के चरित्र नायक भी लिए हैं। सामाजिक कहानियॉ भी सुन्दर बन पड़ी हैं, परन्तु वास्तविक सफलता तो इन्हें ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कहानियों के लिखने में ही प्राप्त हुई है। इतिहास के हिन्दु-काल और मुगल काल से अपने कथानकों को चुन कल्पना के रग से रग कर इन्होंने ऐतिहासिक कहानियों को अपूर्व बना दिया है। कहानियों में चरित्र-चित्रण भी पूर्ण मनोवैज्ञानिक बन पड़ा है।

'प्रसादजी' की भाषा सस्कृतगर्वित और एक रस है, प्रेमचन्द की सी चलती हुई और मुहावरेदार नहीं, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इनकी भाषा बहुत प्राजल, प्रसाद तथा माधुर्य गुण युक्त और चमत्कार पूर्ण है। नाटकीय तत्वों

की प्रचुरता रहती है। 'आँधी' 'आकाशदीप' 'प्रतिध्वनि' आदि इनके कहानी संग्रह बहुत प्रसिद्ध हैं।

'प्रसाद' जी हिन्दी के सर्व प्रथम मौलिक कहानीकार हैं।

प्रेमचन्द के विपरीत इनके उपन्यास और कहानियाँ भावुकता पूर्ण होती हैं और उनमें स्थान-स्थान पर कवित्व प्रस्फुटित हो पड़ता है तथापि शैली की मौलिकता और विशिष्टता के कारण 'प्रसाद' हिन्दी साहित्य में महत्व पूर्ण स्थान के अधिकारी हैं।

पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'—ने उपन्यास तथा कहानी लेखन दोनों क्षेत्रों में ही पर्याप्त रचना की है। 'भिखारिणी' तथा 'माँ' इनके दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं, और 'मणिमाला' तथा चित्रशाला' कहानियों के प्रसिद्ध सग्रह हैं। इनकी अधिकाश कहानियाँ सामाजिक हैं, और एक विशिष्ट नैतिक उद्देश्य का प्रतिपादन ही इनका उद्देश्य होता है। इनकी भाषा और वार्तालाप की स्वाभाविकता इनकी कथाओं की सबसे बडी विशेषता है। पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। 'कौशिक' जी के उपन्यास विशेष सफल नहीं बन पाये।

सुदर्शन, गोविन्दवल्लभ पन्त तथा हृदयेश:—तीनों हिन्दी के उत्कृष्ट कहानीकार हैं। सुदर्शन जी नागरिक वर्ग से विशिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं, और इनकी कहानियों में चरित्र की प्रधानता रहती है। मुहावरों के प्रयोग तथा भाषा के प्रवाह में प्रेमचन्द के पश्चात् सुदर्शन जी का ही स्थान है। सुदर्शन जी की कहानियो के अनेक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, और ये वर्तमान हिन्दी कहानीकारों में कौशिक तथा प्रेमचन्द जी के साथ रखे जाते हैं।

गोविन्दवल्लभ एक सफल नाटककार हैं। इधर इन्होंने ने कुछ कलापूर्ण छोटी-छोटी कहानियाँ भी लिखी हैं।

हृदयेश की रचनाओं में कवित्व की प्रधानता रहती है, भाषा पर आपने विशेष ध्यान दिया है, इसी कारण आपकी कहानियों की भाषा विशेष रूप से लालित्यपूर्ण हो गयी है। परन्तु भाषा के अलकार प्रियता के कारण पात्रों

के स्वतंत्र व्यक्तित्व का ह्रास हो गया है। आपने 'मगल प्रभात' तथा 'मनोरमा' नाम के दो उपन्यास भी लिखे हैं। 'नन्दननिकुञ्ज' तथा 'वनमाला' नामक इनके दो कहानी सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' :—हिन्दी के क्रान्तिकारी कहानीकार और उपन्यासकार गिने जाते हैं। भाषा की शक्ति, मूर्तिमत्ता तथा कलात्मकता के कारण ये हिन्दी के उत्कृष्ट कलाकारों में स्थान प्राप्त कर चुके हैं। इन्होंने अपने उपन्यास तथा कहानियों के विषय का चुनाव समाज के विकृत वर्ग से किया है, और अधिकतर वेश्याओं और दलालों को अपनी कहानियों का नायक बनाया है। 'कला कला के लिए अपना सिद्धान्त मान कर चले हैं,और सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं के चित्रण में इन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है। समाज के कुत्सित तथा पाषण्ड-पूर्ण पक्षों का नग्न चित्रण किया है, परन्तु यह यथार्थ किसी विशिष्ट उद्देश्य से परिचालित नहीं। जीवन के गम्भीर पहलुओं की ओर भी इनका ध्यान अधिक नहीं गया, नैतिकता को तो इन्होंने प्रश्रय ही नहीं दिया। यही कारण है कि समाज के कुत्सित पक्ष के नग्न और अनैतिकता पूर्ण चित्रण के विरुद्ध ही 'विशाल भारत' सम्पादक प० बनारसीदास चतुर्वेदी को आन्दोलन करना पड़ा।

'उग्र' जी की भाषा बहुत ही चटपटी और व्यग्यपूर्ण होती है। और आप की शैली सर्वथा मौलिक और चुभती हुई होती है। राजनैतिक तथा सामाजिक कहानियों के लिखने में प्रेमचन्द के पश्चात् इन्हीं का स्थान है। इनके 'चंद हसीनो की खतूत' 'दिल्ली का दलाल' 'बुधुआ की बेटी' और 'सरकार तुम्हारी आँखों में' नामक उपन्यास बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, इनकी कहानियाँ 'दोजख की आग', और 'इन्द्रधनुष' नामक सग्रहो में प्रकाशित हो चुकी हैं।

चतुरसेन शास्त्री :—भी 'उग्र' जी के सिद्धान्त के अनुगामी हैं, और उन्हीं के वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। आपका दृष्टिकोण अवश्य ही यथार्थवादी है, परन्तु कहीं कहीं यथार्थ की सनक में वह अनैतिक और कुरुचिपूर्ण हो गया है। आपके उपन्यासो के विरुद्ध भी काफी आन्दोलन किया गया था।

शास्त्री जी ने अनेक उपन्यास लिखे हैं, जिनमें से यह विशेष प्रसिद्ध हैं—(१) हृदय की प्यास, (२) हृदय की परख, (३) अमर अभिलाषा, (४) आत्म-दाह। शास्त्री जी का मुख्य विषय श्रृंगार है, परन्तु अनेक स्थानों पर वह श्रृंगार वर्णन सुरुचि की सीमा लाघ अमर्यादित हो गया है।

शस्त्री जी की ऐतिहासिक कहानियाँ वहुत कलापूर्ण बन पड़ी हैं, वर्णन वहुत चित्ताकर्षक होता है। भाषा भी बहुत सजीव, चलती हुई और प्रवाह-पूर्ण होती है, प्रेमचन्द की भाँति मुहावरो का यथेष्ठ प्रयोग किया गया है। 'अछूत' 'रजकण' 'सिंहगढ़ विजय' आपके प्रख्यात कहानी संग्रह हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा :—ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सर्व श्रेष्ठ हैं। ऐतिहासिकता के साथ साथ कल्पना का बहुत सुन्दर मिश्रण हुआ है। स्थानीय गौरव, प्रकृति चित्रण और स्थानीय रंगत (Local Colour) इनके उपन्यासों की मुख्य विशेषताएँ हैं। हिन्दी में उन्होंने इस क्षेत्र में वही कार्य किया है जो कि अंग्रेजी में वाल्टर स्काट (Walter Scott) ने। 'गढ़कुण्डार' इनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है, इसके अतिरिक्त 'विराटा की पद्मनी' 'कुण्डली चक्र' 'संगम' 'कभी न कभी' 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

जैनेन्द्र कुमार :—प्रेमचद के अनतर जैनेन्द्र कुमार ही हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ कहानीकार हैं। कहानी कथन की सर्वथा नवीन शैली और नवीन ढग का आपने हिन्दी कथा-साहित्य में समावेश किया है। जैनेन्द्र जी एक विचारक और बुद्धिवादी दार्शनिक हैं। इनका यही रूप कहानियों में प्रति-बिम्बित हुआ है। आपके वर्णन बहुत वास्तविक बन पडे हैं, पात्रों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन आपकी कथाओ की बड़ी विशेषता है। कहीं-कहीं जैनेन्द्र जी ने ऊपरी वर्णन पर अधिक बल दिया है, परिणामस्वरूप वहाँ शुष्कता तथा नीरसता आ गयी है। आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं—'तपोभूमि' 'परख' 'सुनीता' 'त्यागपत्र' तथा 'कल्याणी'। नवयुवकों की समाज के प्रति विद्रोह की भावना उपन्यासों में अनेक स्थानों पर प्रगट हुई है। कहानियों के क्षेत्र में जैनेन्द्र जी ने नवीन दृष्टिकोण और नवीन भाषा का समावेश किया है। आपकी कहानियो में करुणा मिश्रित भावुकता की अधिकता रहती है। भाषा

आपकी दार्शनिको की सी है, जो कि विचारशील चरित्रों के संघर्ष को हमारे सामने लाने के लिए विशेष उपयुक्त बन पड़ी है। जैनेन्द्र जी ने लगभग २०० कहानियाँ लिखी हैं, और ये 'वातायान' 'दो चिड़ियाँ' और 'एक दिन' नामक संग्रहो के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं।

इधर जैनेन्द्र जी विचारक और दार्शनिक के रूप में ही हमारे सम्मुख अधिक रहे हैं, कहानियों से वे धीरे-धीरे दूर हट रहे हैं। जो कहानियाँ हाल ही मे उनकी प्रकाशित हुई हैं वे अधिकतर शुष्क तथा नीरस हैं, और उनमें वे कथाकार न रह दार्शनिक ही बन गए हैं।

अज्ञेय :—समसामायिक युग के सर्वाधिक प्रतिभा-सम्पन्न कथाकार हैं। जैनेन्द्र जी की भाँति कहानी लिखने की आपकी अपनी सर्वथा मौलिक शैली है। आपकी सम्पूर्ण कहानियाँ एक विशिष्ट उद्देश्य को लेकर चलती हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इनकी कहानियों की सर्व प्रमुख विशेषता है, इस विश्लेषण के लिए प्रयुक्त भाषा जैनेन्द्र जी की भाषा से अधिक प्रौढ़ और उपयुक्त बन पडी है। राजनैतिक तथा सामाजिक कहानियों में अज्ञेय जी दीन, पीडित तथा शोषित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति को प्रदर्शित करते हैं, और उनके क्रन्दन और पीड़ा को अत्यन्त मार्मिकता से चित्रित करते हैं। स्फुट कहानियों के अतिरिक्त अज्ञेय जी ने 'शेखर एक जीवनी' नामक उत्कृष्ट उपन्यास भी लिखा है।

इन प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त सर्व श्री भगवतिचरण वर्मा, भगवति प्रसाद वाजपेयी, शिवपूजन सहाय, सियाराम शरण गुप्त, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उषादेवी मित्रा, श्रीनाथसिंह, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान, कमला देवी चोधरानी इत्यादि ने भी विभिन्न उपन्यासों तथा कथाओं की सृष्टि कर हिन्दी साहित्य के इस पक्ष की पर्याप्त अभिवृद्धि की है।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व और पश्चात् हिन्दी के कथा साहित्य में ऐसे अनेक उपन्यासकार तथा कथाकार हैं जो कि एक विभिन्न शैली, विभिन्न भावनाओं और उद्देश्यों को लेकर चल रहे हैं। ये लेखक प्रायः मार्क्स दर्शन और फ्रायड के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्रभावित हैं। सर्व श्री नरोत्तम प्रसाद

नागर, अमृतलाल, शिवदानसिंह चौहान, यशपाल, पहाड़ी, शंकरचरण श्रीवास्तव, भगवतिचरण वर्मा, निराला इत्यादि इनमें प्रमुख कथाकार हैं, और ये प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत आते हैं।

मार्क्सवाद के दृष्टिकोण के अनुसार प्राचीन इतिहास का कथात्मक ढंग पर विवेचन करने वालों में श्री राहुल सांकृत्यायन सर्व प्रमुख हैं, उनकी नौ कहानियाँ 'वोल्गा से गंगा' में संग्रहीत हैं, और उनका एक उपन्यास 'सिंह सेनापति' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी का कथा-साहित्य सर्वतोमुखी उन्नति कर रहा है। उपदेशात्मक तथा तिलस्मी कथाओं से प्रारम्भ हो हिन्दी कथा साहित्य अब सूक्ष्म मनोविश्लेषण से युक्त पाप पुण्य की व्याख्या करता हुआ, जीवन पर एक नवीन दृष्टिकोण को समुपस्थित कर रहा है। आज का कथाकार साम्यवाद के सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित है, वह व्यक्ति की त्रुटियों और भूलों को समाज में खोजता है, और व्यक्ति के अपराधों के लिए समाज को दोषी ठहराता है। नवयुग में हमारे नैतिक आदर्श परिवर्तित हो रहे हैं, कथाकार भी हमारे सम्मुख प्राचीन नैतिक आदर्शों की अर्थ हीनता और तुच्छता को प्रदर्शित कर नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा कर रहे हैं।

हमारे साहित्य के इस अङ्ग की पर्याप्त पुष्टि हो चुकी है, और भविष्य भी पर्याप्त आशामय है।

निबन्ध

गद्य के विकास के साथ ही हिन्दी में निबन्ध साहित्य की रचना भी प्रारम्भ हुई। भारतेन्दु जी के समय अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन प्राम्भ हो गया, और उनके साथ ही विविध विषयों पर विविध प्रकार के लेखों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, परन्तु प्रारम्भिक लेख अधिकांश में निबन्ध कहलाने के योग्य नहीं। ज्यों-ज्यों पत्र-पत्रिकाओं का विकास प्रारम्भ हुआ त्यों त्यों नवीन लेखक इस क्षेत्र मे आने लगे और विभिन्न विषयों पर विचारात्मक लेख प्रस्तुत करने लगे।

शायद भारतेन्दु ही हिन्दी के सर्व प्रथम निबन्धकार हैं। उनके युग के सर्व श्रेष्ठ निबन्धकार पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट थे। मिश्र जी 'ब्राह्मण' नामक पत्रिका को प्रकाशित करते थे, और उसी में वे अपने लेख लिखा करते। मिश्र जी की निबन्ध लेखन की सर्वथा अपनी मौलिक शैली है, उस पर उनके स्वतन्त्र और फक्कड़ व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। हास्य और व्यंग्यात्मकता मिश्र जी की शैली की सर्व प्रमुख विशेषता है। चटपटी भाषा में व्यग्यात्मक शैली द्वारा वे जिस किसी भी विषय पर लिखते उसमें जान डाल देते। वह युग समाज सुधार का था अतः उनके विषय प्रायः समाज सुधार से ही सम्बन्धित हैं। हिन्दु सभ्यता की भी बहुत सुन्दर विवेचना मिश्र जी के निबन्धों में मिल जाती है। मिश्र जी ने अपने निबन्धो में दो प्रकार की भाषा प्रयुक्त की है, विनोद तथा व्यंग्यपूर्ण लेखों में उनकी भाषा प्रान्तीयता से प्रभावित और बैसवाड़ी मुहावरों तथा कहावतों से युक्त है, परन्तु गम्भीर विषयों पर लिखते हुए मिश्र जी ने संयम से काम लिया है, और विषय की गम्भीरता के अनुरूप ही उनकी भाषा भी गम्भीर हो गयी है।

पण्डित बालकृष्ण भट्ट 'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन करते थे। भट्ट जी और मिश्र जी की शैली में पर्याप्त साम्य है, परन्तु भट्ट जी अलंकारिक शैली के विशेष पक्षपाती प्रतीत होते हैं, अनेक स्थलों पर उन्होंने अपनी भाषा को अलंकारो से लाद दिया है। भाषा शैली की दृष्टि से उनकी भाषा तीन स्वतंत्र रूपों में निबन्धों में विकसित हुई है; गम्भीर विषयों पर लिखते हुए उनकी भाषा में संस्कृत शब्दो की प्रधानता है और उसमें अलंकारिकता का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया है। साधारण विषयों पर लिखते हुए उन्होंने उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया है, जिसमें कि मुहावरों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। निबन्धों में स्थान-स्थान पर हिन्दी, संस्कृत तथा उर्दू आदि भाषाओं की अनेक सूक्तियाँ उद्धृत रहती हैं। भट्ट जी ने राजनैतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक आदि सभी विषयों पर लिखा है, परन्तु उनके निबन्ध कभी भी दीर्घाकार नहीं बन पडे। 'आँख' 'कान' 'नाक' आदि शीर्षको से भी उन्होंने छोटे छोटे मुहावरों से युक्त निबन्ध लिखे हैं।

इन दो प्रमुख निबन्ध लेखकों के अतिरिक्त भारतेन्दु युग के पं० बद्री-नारायण 'प्रेमघन', प० अम्बिकादत्त व्यास, स्वामी दयानन्द तथा बालमुकुन्द महत्त्वपूर्ण निबन्ध लेखक हैं। इन निबन्धकारों की अपनी-अपनी स्वतत्र शैलियाँ हैं, जो कि निबन्ध साहित्य में शैली की दृष्टि से विशेष विचारणीय हैं। तत्कालीन समाज सुधार के युग में इन लेखकों ने प्रायः राजनैतिक और सामाजिक विषयों पर ही अधिक लिखा है।

पं महावीरप्रसाद द्विवेदी :—के पूर्व हिन्दी निबन्ध-साहित्य व्यक्तित्व और हास्य-विनोद से पूर्ण था। व्यक्तित्व का प्रतिफलन इन निबन्धों की मुख्य विशेषता थी। द्विवेदी जी के प्रवेश के साथ हिन्दी निबन्ध-साहित्य विभिन्न प्रकार से विकसित हुआ। द्विवेदी जी का मुख्य कार्य तो पाठकों को नवीन विषयो से परिचित कराना रहा, परन्तु इस परिचय की भी उनकी अपनी ही शैली थी। भाषा को अनावश्यक रूप से जटिल बनाए बिना सरलता पूर्वक विषय का प्रतिपादन करना द्विवेदी जी की मुख्य विशेषता है। उन्होंने बडे ही सुलभ और सरल ढग से अपने विषय को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उनके निबन्ध विभिन्न विषयो से सम्बन्धित रहे हैं, और इनमें अनेक विषय अत्यन्त गम्भीर हैं, परन्तु यह विशेषता सब प्रकार के निबन्धों में बराबर प्राप्य है। आवश्यक शब्दों में बड़ी ही सतर्कता के साथ उन्होंने अपने भावों की अभिव्यञ्जना की है। सूक्ष्म तथा गम्भीर बातों को थोड़े से शब्दो में पाठकों को समझा देना द्विवेदी जी की ही विशेषता थी।

विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबन्धों में बहुत विभिन्नता है, विषय की विभिन्नता के साथ शैली मे भी अन्तर पड जाता है। गम्भीर विषयों पर लिखते हुए भी द्विवेदी जी जब कभी कथा के तत्वों का आश्रय ले लेते हैं तो उनके निबन्ध हलके पड जाते हैं, परतु जहाँ कहीं व्यंग्यात्मक शैली का आश्रय ले वे वैयक्तिक गुणो को सामने ला लिखते हैं वहाँ उनके निबन्ध उत्कृष्ट बन पडते हैं।

द्विवेदी जी के अधिकाश निबन्ध विचारात्मक श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। उनके लिखे हुए भावात्मक निबन्धों की संख्या यद्यपि थोड़ो है तथापि वह

थोड़ी सख्या भी उत्कृष्ट कोटि के निवन्ध लेखक के लिए पर्याप्त है।

द्विवेदी जी की भाषा तत्सम शब्दों से युक्त संस्कृत-गर्भित है। विदेशी शब्दों का पूर्ण वहिष्कार किया गया है, परन्तु व्यंग्यात्मक शैली से लिखे निबन्धों में उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। गम्भीर विषयों पर लिखते समय द्विवेदी जी की भाषा में संस्कृत शब्दों की बहुलता हो गयी है। वास्तव में द्विवेदी जी का महत्त्व निबन्ध लेखन में शैलीकार के रूप में इतना नहीं जितना कि भाषा की शुद्ध व्यवस्था के स्थापना में है।

द्विवेदी जी के निबन्ध के सग्रह 'रसज्ञ-रञ्जन' तथा 'साहित्य-सीकर' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं, इनके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने वेकन के अंग्रेजी निवन्धो का अनुवाद 'वेकन विचार-रत्नावली' के नाम से किया है।

निवन्ध-लेखन शैली में द्विवेदी जी का प्रभाव पर्याप्त व्यापक रहा है। उनसे प्रभावित लेखकों में भी द्विवेदी जी की विशेषताएँ विभिन्न रूप में प्राप्य हैं परन्तु अधिकाश लेखकों के निवन्धों में न तो व्यक्तित्व का विकास प्राप्त है, और न मौलिकता ही। मराठी, बंगला तथा अग्रेज़ी निवन्धों तथा पुस्तको का आश्रय ले कभी विस्तार मे तो कभी संक्षेप से विषय को बान्ध देने की प्रवृत्ति से मौलिकता तथा नवीन शैली का विकास न हो सका। विषय भी अधिकतर प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्धित नहीं थे इस कारण उनमें सजीवता का भी अभाव ही रहा। प्रारम्भिक निबन्ध लेखकों में जो जिन्दादिली और अनुभूति की तीव्रता थी वह द्विवेदी जी के समकालीन लेखकों में अप्राप्य है। या तो गम्भीर विषयों का विवेचन किया ही नहीं गया और यदि किया भी गया तो उसकी गहनता में प्रवेश करने का प्रयत्न न किया गया। इस प्रकार द्विवेदी जी के समकालीन लेखकों की निबन्ध विषयक स्थिति को संक्षेप से इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) व्यक्तित्व का ह्रास, जिन्दादिली की कमी।

(२) गहन विषयों पर विवेचन का अभाव। भाव गाम्भीर्य की कमी।

(३) अनुकरण की प्रधानता। हास्य-विनोद की मात्रा की कमी।

(४) विशद विवेचन का अभाव।

(५) कल्पनात्मक तथा कवित्वपूर्ण शैली का आधिक्य।

द्विवेदी-युग के प्रधान लेखक पं० माधवप्रसाद मिश्र, बा० गोपाल-राम गहरी, प० गोविन्दनारायण मिश्र, बा० बालमुकुन्द, प० पद्मसिंह शर्मा, पं० चन्द्रधर गुलेरी इत्यादि हैं।

द्विवेदी जी के प्रभाव क्षेत्र से बाहर स्वतत्र रूप से निबन्ध लिखने वालों की भी एक बड़ी सख्या है, इन लेखकों के निबन्ध यद्यपि अपने युग से प्रभावित हैं तथापि उनमें पर्याप्त मौलिकता तथा गम्भीरता है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल :—के साथ ही वास्तव में निबन्ध-साहित्य में आधुनिक युग का प्रारम्भ समझना चाहिए। हिन्दी में विश्लेषणात्मक निबन्धों का सूत्रपात शुक्ल जी ने ही किया है। मानसिक विश्लेषण के आधार पर क्रोध, प्रेम, करुणा आदि पर लिखे हुए इनके निबन्ध बहुत उत्कृष्ट बन पडे हैं। 'कविता' इत्यादि साहित्य शास्त्र से सम्बन्धित विषयों पर भी शुक्ल जी ने अधिकारपूर्वक लिखा है। साधरणीकरण तथा व्यक्तित-वैचित्र्यवाद आदि पर लिखे हुए इनके निबन्ध मौलिकता तथा विपय प्रतिपादन शैली की नवीनता के कारण हिन्दी साहित्य में अनुपम हैं। इस प्रकार शुक्ल जी ने विचारात्मक तथा साहित्यिक निबन्ध लिखने में अद्भुत क्षमता प्रदर्शित की है। कहीं-कहीं व्यंग्य तथा हास्य के मिश्रण के कारण इनके व्यक्तित्व का प्रतिफलन अच्छा हो जाता है। विचारों की विश्रृंखलता कहीं भी प्राप्त नहीं होती, सम्पूर्ण निबन्ध एक विशिष्ट केन्द्र विन्दु से सम्बन्धित हुआ हुआ समग्र व्याख्या को श्रृखलाबद्ध किए रखता है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् के वैज्ञानिक चिन्तन प्रधान निबन्धों का प्रारम्भ शुक्ल जी से ही होता है।

शुक्लजी की भाषा अत्यन्त परिमार्जित होती है, वाक्य रचना का प्रत्यक शब्द अपना महत्व रखता है। चमत्कार प्रदर्शन या शब्दाडम्बर की ओर तो वे प्रवृत्त हो नहीं हुए। नपे तुले शब्दों में भावाभिव्यक्ति ही उनकी भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। सस्कृत तथा अग्रेजी के आधार पर आधारित

लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भी बहुत सफलता पूर्वक किया गया है। गम्भीर विषयों की विवेचना में भी न तो भाषा की जटिलता आने पायी है और न भावों की नीरसता ही। वास्तव में शुक्लजी की भाषा उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता को बराबर ग्रहण किए रखती है। गम्भीर विवेचन में संस्कृत शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है, परन्तु अरबी फारसी के प्रचलित शब्दों का बहिष्कार कहीं नहीं किया गया।

आचार्य शुक्ल के निबन्धों का संग्रह 'चिन्तामणि' के नाम से हो चुका है, और इसके लिए आप मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त कर चुके हैं। आचार्य शुक्ल निश्चय ही हिन्दी के उत्कृष्ट निबन्ध लेखक हैं।

डा० श्यामसुन्दर दासः—(१९३२–२००१) ने विचारात्मक तथा भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। विषय विवेचन के लिए सूक्ष्म दृष्टि और आवश्यक गम्भीरता आप में पर्याप्त है। इसी कारण आपके निबन्धों के विषय अत्यन्त गम्भीर हैं, और आपने प्रायः उन्हीं विषयों पर लिखा है जिन पर कि अभी तक किसी ने लिखने का साहस नहीं किया था। आपके विचार श्रृंखलाबद्ध और स्पष्ट हैं। विषय की गम्भीरता के कारण कहीं-कहीं क्लिष्टता अवश्य है। भाव तथा विषय की गम्भीरता के अनुरूप ही बाबूजी की भाषा भी बन पड़ी है। संस्कृत शब्दावली का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। भावों को स्पष्टता प्रदान करने के लिए अलंकारों का आश्रय भी ग्रहण किया है। विषय की नवीनता तथा गम्भीरता के होते हुए भी न तो भावों में ही शिथिलता आने पायी है और न भाषा में ही। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग नहीं किया गया। बाबूजी ने चित्रमयी भाषा में वर्णनात्मक निबन्ध भी लिखे हैं।

बाबूजी हिन्दी साहित्य के भण्डार को विविध प्रकार से पूर्ण करने वालों में अग्रणी हैं। आपकी साहित्यिक रचनाएँ भाव, भाषा, शैली सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट बन पड़ी हैं।

आप वास्तव में हिन्दी साहित्य के अमूल्य रत्न हैं।

बाबू गुलाबराय:—भी हिन्दी के उत्कृष्ट निबन्ध लेखकों में हैं। आपके निबन्धों में दार्शनिकता की छाप रहती है। विचारात्मक तथा भावात्मक दोनो प्रकार के निबन्ध लिखने मे आपको विशेष सफलता प्राप्त हुई है किन्तु आपकी प्रतिभा का विशेष विकास तो विचारात्मक निबन्धों में ही प्राप्य है।

अध्यापक पूर्णसिंह तथा कन्नोमल ने भी बहुत सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। अध्यापक जी भावात्मक निबन्ध लिखने में तो बेजोड़ हैं, निर्भीकता तथा स्वाभाविकता आपकी सबसे बड़ी विशेषता है, कला पर आपने विशेष ध्यान नहीं दिया।

वर्तमान युग में साहित्य के अन्य अंगों की भाँति निबन्ध साहित्य की भी पर्याप्त वृद्धि हो रही है। प्रथम महायुद्ध के अनन्तर हिन्दी में वैज्ञानिक चिन्तन-प्रधान निबन्धों का प्रचलन हुआ और देखते ही देखते अनेक उत्कृष्ट लेखकों ने अपनी शैलियों के साथ इस क्षेत्र में प्रवेश कर वृहद्-निबन्ध साहित्य की रचना की। प्रत्येक लेखक ने अपनी वैयक्तिक शैली का प्रयोग किया और अपनी चिंतन-पद्धति को प्रस्तुत किया। इन प्रसिद्ध लेखकों मे आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, जयशंकर प्रसाद, श्रीनाथसिंह, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला प्रमुख हैं। इन लेखकों ने अधिकांश में गम्भीर समस्याओं का विशद विवेचन किया है।

विगत दशाब्द में भाषा, शैली तथा विचार-धारा आदि सभी दृष्टियों से इस क्षेत्र में अनेक लेखकों ने सफल नवीन प्रयोग किए हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा (शृंखला की कड़ियाँ) श्री सियारामशरण गुप्त (सच झूट) डा० धीरेन्द्र वर्मा (विचार धारा) तथा डा० रघुवीरसिंह (शेष स्मृतियाँ) आदि ने इस क्षेत्र में सर्वथा मौलिक रचनाएँ दे अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिए हैं। सर्वश्री प्रभाकर माचवे, सद्गुरुशरण अवस्थी, केदारनाथ गुप्त, बालेन्दु, डा० रघुवीरसिंह और सर्वदानन्द आदि इस क्षेत्र के विशेष प्रतिभासम्पन्न नवीन लेखक हैं।

इन नवीन लेखकों के अतिरिक्त अनेक विगत परम्परा से सम्बन्धित लेखक सर्वश्री *नन्ददुलारे बाजपेयी, बख्शी नगेन्द्र, सत्येन्द्र तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी* आदि भी नवीन विचार अपनी व्यक्तिगत शैलियो में उपस्थित कर रहे हैं।

साहित्यिक निबन्धों के अतिरिक्त राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विषयो पर आज निरतर मासक, साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रों में लिखा जा रहा है। साहित्यिक ढंग पर लिखे वैज्ञानिक लेखों की भी आज कमी नहीं। इस प्रकार आज का निबन्ध-साहित्य हिन्दी साहित्य के अन्य अ गो की भाँति पूर्ण विकसित हो रहा है। नवीन प्रयोग तथा नवीन शैली को अपना अनेक लेखक आज हमें इस क्षेत्र की उन्नति का बहुत कुछ विश्वास दिलाते हैं।

समालोचना

इससे पूर्व कि समालोचना साहित्य का विस्तृत परिचय दिया जाए, यहाँ यह उपयुक्त होगा कि हम पहले समालोचना के विभिन्न प्रकारों को जान उनके भेद समझ लें। मुख्य रूप से आलोचना के निम्न प्रकार बतलाए जाते हैं।

(१) निर्णयात्मक आलोचना (Judicial Criticism) के अनुसार आलोचक पुस्तक के गुण दोष प्रदर्शित करता है।

(२) सैद्धान्तिक आलोचना (Speculative Criticism, में आलोचक आलोचना शास्त्र के विभिन्न सिद्धातों तथा नियमों का परिचय देता है। ये नियम या सिद्धान्त ही निर्णयात्मक आलोचना के आधार होते हैं।

(३) प्रभाव प्रधान या आत्मप्रधान (Subjective or Impressionist Criticism) आलोचना के अन्तर्गत लेखक के अपने मन पर पड़े हुए किसी भी पुस्तक के प्रभाव को बतलाता है। उसका मन ही पुस्तक की अच्छाई या बुराई की कसौटी होती हैं।

(४) व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive Criticism) में आलोचक

कवि के विचारों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। वह न तो अपने मनको मन को ही प्रधानता देता है और न सैद्धान्तिक आलोचना के नियमों को ही।

(५) मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psychological Criticism) के अनुसार आलोचक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का अनुसरण करता हुआ लेखक के मन का विश्लेषण करता है।

इन मुख्य प्रकारों के अतिरिक्त हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना (Historical Criticism) और तुलानात्मक आलोचना (Comparative Criticism) का भी विकास हुआ है।

हिन्दी में आलोचना साहित्य का प्रारम्भ भारतेन्दु के समय मे हो चुका था, परन्तु तत्कालीन आलोचना साहित्य परिचयात्मक ही अधिक रहा; वह वैज्ञानिक आलोचना के अन्तर्गत गृहीत नहीं किया जा सकता। द्विवेदी युग की आलोचना ने ही आधुनिक युग की आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया है। 'सरस्वती' में द्विवेदीजी सस्कृत तथा हिन्दी कवियों पर आलोचनात्मक लेख लिखते रहे थे, परन्तु किसी एक विशिष्ट कवि का आलोचनात्मक अध्ययन तो उन्होंने सर्व प्रथम 'कालिदास की निरकुशता' नामक पुस्तक में ही प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् तो उन्होंने 'विक्रमाङ्क देव चरित चर्चा' तथा 'नैषध चरित चर्चा' नामक आलोचनात्मक पुस्तकें लिख इस क्षेत्र में नवीन आलोचना शैली के उदाहरण प्रस्तुत किए। परन्तु द्विवेदीजी की आलोचनाएँ अधिकाश में निर्णयात्मक होती थी, और इनमें भी अधिकतर दोष-परिगणन की रीति का ही अनुसरण किया गया है। द्विवेदीजी ने ही सर्व प्रथम पत्रिकाओं में पुस्तक समीक्षा की परिपाटी चलाई। द्विवेदीजी के अनुकरण पर लिखा गया आलोचना साहित्य अधिकतर निर्णयात्मक और परिचयात्मक ही है।

द्विवेदीजी के समकालीन आलोचकों में मिश्र बन्धु महत्त्व पूर्ण हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में गुण-दोष विवेचन की पद्धति को अपना आलोचना साहित्य की पर्याप्त सृष्टि की है। इनका 'हिन्दी नव-रत्न' नामक ग्रन्थ बहुत

प्रसिद्ध है, इसमें इन्होंने कवियों का श्रेणी-विभाजन कर उनके मूल्य निर्धारण का प्रयत्न किया है। कवियों की भाषा-शैली तथा काव्य गुणों का विवेचन करते हुए उनकी विशेषताओं का प्रदर्शन किया है। यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियों मे उन्होंने सराहनीय कार्य किया है, तथापि उनकी आलोचाएँ उत्कृष्ट श्रेणी की नहीं बन पड़ी। मिश्र बन्धुओं द्वारा लिखित हिन्दी-साहित्य का इतिहास अपने ढंग की अनूठी रचना है।

प० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की भूमिका लिख, हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का सूत्रपात किया। वैसे मिश्र-बन्धुओंने भी 'हिन्दी-नवरत्न' में थोड़ा बहुत तुलनात्मक आलोचना का आश्रय ग्रहण किया था, परन्तु इसका पूर्ण विकसित रूप 'बिहारी सतसई की भूमिका' में ही उपलब्ध होता है। शर्माजी ने अपनी पुस्तक में बिहारी की उत्कृष्टता को सिद्ध करते हुए अन्य कवियों से उनकी तुलना की है, परन्तु इनकी तुलना अधिक सगत नही बन पड़ी। शास्त्रीय सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण कर यद्यपि शर्माजी ने गम्भीर विवेचन का प्रयत्न भी किया है, परन्तु अधिकाश मे आलोचना गम्भीर न रह प्रभाववादी हो गयी है।

बिहारी के विपरीत देव की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए प० कृष्ण-बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम की एक विद्वता-पूर्ण पुस्तक लिखी मिश्रजी ने शर्माजी की व्यंग्यात्मक शैली का परित्याग कर संतुलन-शील गम्भीर विवेचन पद्धति का अनुसरण किया, इसी कारण इनकी पुस्तक अधिक साहित्यिक बन पड़ी है। इस पुस्तक मे मिश्रजी वास्तव में निष्पक्ष और एक सहृदय मार्मिक आलोचक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। इनकी भाषा बहुत सयत और शिष्ट है। देव की उत्कृष्टता को सिद्ध करते हुए भी मिश्रजी ने बिहारी को महत्ता को अस्वीकार नहीं किया।

इसी वाद-विवाद के सिलसिले में ही बिहारी की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिए ला० भगवानदीन 'दीन' ने भी 'बिहारी तथा देव' नामकी एक पुस्तक लिखी। विपक्ष में अनेक लेख लिखे गए परन्तु इनमें से अधिकांश लेखों में साहित्यिक आलोचना के स्थान पर वितण्डावाद के ही दर्शन होते

हैं। हाल ही में विश्वनाथ मिश्र ने 'बिहारी की वाग्विभूति' के नाम से एक पुस्तक लिख बिहारी की कविता का शास्त्रीय विवेचन किया है।

अंग्रेजी ढग की व्याख्यात्मक तथा मनोवैज्ञानिक आलोचना का सूत्रपात आचार्य शुक्ल ने किया है। भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य शास्त्र का विस्तृत अध्ययन कर और भारत की रस पद्धति और पश्चिम के आलोचना सम्बन्धी दृष्टिकोण का समन्वय कर शुक्ल जी ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। विभिन्न कवियों की ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनकी कला का शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक ढग से विश्लेषण किया है। सूरदास, तुलसीदास, जायसी आदि लिखी गई आलोचनाएँ इसी ढंग की हैं, और इसमें उन्होंने कवियों के पर कलात्मक तथा मानसिक विकास पर बहुत विस्तृत प्रकाश डाला है।

आधुनिक आलोचक वर्ग पर आचार्य शुक्ल का ही सर्वाधिक प्रभाव है, आज उन्हीं के ढग पर उनके बहुत से शिष्यों ने आलोचना साहित्य की अभिवृद्धि में पूर्ण सहयोग दिया है। आचार्य शुक्ल के प्रमुख शिष्य पण्डित कृष्णशकर शुक्ल ने 'कविवर रत्नाकर' नामक पुस्तक लिख रत्नाकर के काव्य की बहुत विशद आलोचना की है।

डा० श्यामसुन्दरदास तथा उनके शिष्य पाश्चात्य आलोचना शास्त्र से विशेष रूप से प्रभावित हैं तो भी उन्होंने भारतीय आलोचना सम्बन्धी दृष्टिकोण की अवहेलना नहीं की। बाबू श्यामसुन्दरदास की सैद्धान्तिक आलोचना बहुत विस्तृत और विशद है। 'साहित्यालोचन' नामक पुस्तक में उन्होंने साहित्य शास्त्र के विविध अगों का बहुत पाण्डित्य पूर्ण विवेचन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा गोस्वामी तुलसीदास पर लिखी व्याख्यात्मक तथा मनोवैज्ञानिक आलोचनाएँ भी आपकी बहुत विस्तृत तथा मार्मिक हैं। नाट्य कला के विवेचन पर लिखी हुई बाबूजी की 'रूपक रहस्य नामक' पुस्तक अपने ढग की अनूठी है। डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल तथा पद्मनारायण आदि ने बाबूजी की आलोचना पद्धति का अनुसरण कर हिन्दी आलोचना-साहित्य की अभिवृद्धि की है।

मनोवैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक आलोचना की इस परिपाटी पर आज हिन्दी में अनेक उत्कृष्ट आलोचना पुस्तकें लिखी जा रही हैं। आधुनिक कवियों की विशद आलोचना प्रस्तुत करने में श्री नगेन्द्र (साकेत—एक अध्ययन) श्री सत्येन्द्र (गुप्तजी की कला) रामनाथ सुमन (जयशंकर प्रसाद की काव्य साधना) नन्ददुलारे वाजपेयी (जयशंकर प्रसाद) गंगाप्रसाद पाण्डेय (कामायनी—एक परिचय) डा० रामरतन भटनागर (निराला एक अध्ययन, सूर एक अध्ययन) तथा गिरजादत्त शुक्लगिरिश' (महाकवि हरिऔध) प्रमुख हैं। इन आलोचकों ने अपने अपने विशिष्ट कवि के बहुत सुन्दर आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किए हैं। डा० धीरेन्द्र वर्मा के शिष्य आलोचना में ऐतिहासिक खोज को अधिक महत्व देते हैं। श्री माताप्रसाद गुप्त ने तुलसीदास जी पर ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आलोचना लिखी है। इसी प्रकार डा० बल्देवप्रसाद मिश्र ने 'तुलसीदर्शन' नामक पुस्तक में तुलसीदासजी के दार्शनिक सिद्धान्तों की बहुत विशद विवेचना की है।

तुलसीदास के काव्य की विवेचना करने वालों में श्री रामप्रसाद गौड़ तथा श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने भी अच्छा कार्य किया है।

प्राचीन कवियों पर विशद विवेचन करने वाले आलोचकों में आचार्य श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रमुख स्थान है। द्विवेदी जी एक सुलझे हुए विचारों वाले विद्वान् आलोचक हैं, प्रचीन तथा नवीन साहित्य का आपका बहुत विस्तृत अध्ययन है। आलोचक के लिए आवश्यक स्वाभाविक सहृदयता तो आप में कूट-कूट कर भरी हुई है। द्विवेदी जी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' लिख हिन्दी साहित्य के इतिहास की प्रारम्भिक पृष्ट भूमि का अत्यत पाण्डित्य पूर्ण तथा वैज्ञानिक विवेचन किया है। सन्त-साहित्य पर आपका अध्ययन पर्याप्त विस्तृत है, आपकी 'कबीर' तथा 'सूरदास' पर लिखी हुई आलोचनाएँ सर्वथा मौलिक और अपने ढंग की अनूठी पुस्तकें हैं। इधर आपके सामायिक कवियों तथा काव्य धाराओं पर भी बहुत सुन्दर आलोचनात्मक लेख मासिक पत्रों में निकलते रहते हैं।

प्राचीन साहित्य के मनोवैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रमु

करने वालों में सर्वश्री अखौरी गंगाप्रसाद सिंह (पद्माकर की काव्य साधना तथा केशव की काव्य कला) डा० ब्रजेश्वर वर्मा (सूरदास) गंगानाथ झा (महाकवि विद्यापति) भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र (मीरा की प्रेम साधना) डा० रामकुमार वर्मा (कबीर का रहस्यवाद) रामरतन भटनागर (सूर साहित्य की भूमिका, केशवदास, विद्यापति) शिखरचन्द्र जैन (सूर. एक अध्ययन) नलिनिमोहन सान्याल (भक्तवर सूरदास) भुवनेश्वरप्रसाद माधव (सन्त साहित्य) तथा श्री मुन्शीराम शर्मा (सूर सौरभ) इत्यादि प्रमुख हैं।

हिन्दी नाट्य साहित्य और उपन्यास साहित्य पर भी विविध लेखकों ने आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किए हैं इनमें पं० रामकृष्ण शुक्ल (प्रसाद जी की नाट्य कला) डा० रामविलास शर्मा (प्रेमचन्द) श्री नगेन्द्र (आधुनिक हिन्दी नाटक) डा० इन्द्रनाथ मदाम (प्रेमचन्द एक विवेचन) सोमनाथ गुप्त (हिन्दी नाट्य-साहित्य) ब्रजरत्नदास (हिन्दी नाट्य-साहित्य) डा० जगन्नाथ (प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन) शिवनारायण श्रीवास्तव (हिन्दी उपन्यास) तथा प० ब्रह्मदत्त शर्मा (हिन्दी साहित्य में निवन्ध) आदि प्रमुख हैं।

सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में हमारे आलोचक अधिकतर पाश्चात्य आलोचना शास्त्र की ओर अधिक झुके हैं। डा० श्यामसुन्दर दास ने साहित्य शास्त्र के विभिन्न अंगों पर अपनी पुस्तक 'साहित्यलोचन' में बहुत सुन्दर प्रकाश डाला है, परन्तु उन पर पाश्चात्त्य साहित्य शास्त्र का बहुत प्रभाव है। फिर भी उनकी देन इस विषय में बहुत पाण्डित्यपूर्ण और बहुमूल्य है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी सैद्धान्तिक आलोचना क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। बख्शी जी ने 'विश्व-साहित्य' नामक पुस्तक में साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए पाठकों को विश्व साहित्य से परिचित कराने का प्रयत्न किया है, परन्तु मनन तथा अध्ययन की कमी के कारण आलोचना साहित्य में बख्शी जी का अनुकरण न हो सका।

आचार्य शुक्ल ने भी कविता इत्यादि साहित्य के विभिन्न अंगों की विशद विवेचना की है। डा० श्यामसुन्दर दास के विपरीत शुक्ल जी पर भारतीय साहित्य शास्त्र का विशेष प्रभाव है, पाश्चात्य साहित्य शास्त्र का भी आपका पर्याप्त अध्ययन है, यही कारण है कि आपने दोनों सिद्धान्तों के समन्वय का सफल प्रयत्न किया है

बाबू गुलाबराय की 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' विशद अध्ययन के फलस्वरूप साहित्य शास्त्र की बहुत सुन्दर पुस्तकें बन पड़ी हैं। भारतीय साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों के दिग्दर्शन के साथ पाश्चात्य आचार्यों की साहित्य शास्त्र सम्बन्धी धारणाओं का भी बहुत पाण्डित्य-पूर्ण विवेचन किया गया है। विद्वान लेखक ने बड़ी सावधानी से अनेक जटिल विषयों को अपनी सुबोध शैली में सफलता पूर्वक सरल बना दिया है।

श्री सुधांशु ने काव्य के विभिन्न तत्वों की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना करते हुए उनके मानव जीवन से सम्बन्ध की व्याख्या अपनी 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक पुस्तक में बहुत सुन्दरता से की है। हिन्दी साहित्य में ये अपने ढंग की सर्व प्रथम पुस्तक हैं। सुधांशु जी की 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' नामक पुस्तक भी बहुत प्रसिद्ध है। श्री इलाचन्द्र जोशी की 'कला कला के लिए है' के सिद्धान्त के समर्थन में लिखी पुस्तक 'साहित्य सर्जना' और 'आदर्शवाद' तथा 'यथार्थवाद' के विवेचन में लिखी गयी श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव की 'आदर्श तथा यथार्थ' नामक पुस्तक भी बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं। इधर डा० सूर्यकान्त शास्त्री ने भी 'साहित्य मीमांसा' नामक पुस्तक साहित्य शास्त्र पर लिखी है। महादेवी वर्मा तथा श्री जयशंकर प्रसाद द्वारा काव्य कला तथा छायावाद पर लिखे स्वतन्त्र निबन्ध अपने विषय में पूर्ण और सुन्दर बन पड़े हैं।

रस तथा अलंकार शास्त्र पर प्राचीन परिपाटी पर लिखे हुए विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं—'रस मञ्जरी' 'अलंकार मञ्जरी' (सेठ कन्हैयालाल पोद्दार) नवरस (गुलाबराय) रस-रत्नाकर (हरिशंकर शर्मा) काव्यालोक

(रामदहिन मिश्र) काव्यकल्पद्रुम (सेठ कन्हैयालाल पोद्दार) अलंकार पीयूष (रमाशंकर शुक्ल) तथा काव्य-दर्पण (रामदहिन मिश्र)।

संस्कृत में साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों पर बहुत विशद विवेचन किया गया है। रस, ध्वनि, गुण, अलंकार इत्यादि विभिन्न सम्प्रदायों के समर्थन के लिए आचार्यों ने अकाट्य तर्क तथा युक्तियाँ प्रस्तुत कीं। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के आचार्यों का विशाल मनोवैज्ञानिक अध्ययन था। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से संस्कृत आचार्य की यह सम्पदा न केवल भारतीय साहित्य अपितु विश्व साहित्य में अनुपम है। वर्तमान युग में समालोचना साहित्य के परिचय के लिए इन सिद्धान्तों को अध्ययन आवश्यक है, अत. हिन्दी मे इन आचार्यों के न केवल ग्रन्थों को अनुवादित रूप में ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए अपितु उनका तुलनात्मक अध्ययन भी होना चाहिए। आधुनिक समालोचना साहित्य को पूर्ण तथा प्रामाणिक बनाने के लिए यह आवश्यक है।

सामायिक युग में आलोचनात्मक अध्ययन में मनोवैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण को अधिक अपनाया जा रहा है। सर्वश्री नगेन्द्र, अज्ञेय तथा जैनेन्द्र मनोविश्लेषण (Phycho Analysis) का आश्रय ग्रहण कर मानव मन की खोज का प्रयत्न कर रहे हैं।

लेखकों के एक अन्य दल ने मार्क्स दर्शन से प्रभावित हो आज साहित्य को जीवन की तुला पर तोलना प्रारम्भ किया है। उनके साहित्यिक मापदण्ड बदल चुके हैं. वे साहित्य तथा जीवन को और भी अधिक सानिध्य में लाना चाहते हैं। इन आलोचकों में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न नवयुवक हैं; जिनसे कि हमें बहुत आशाएँ हैं। सर्व श्री डा० रामविलास शर्मा, अमृतराय, शिवदानसिंह चौहान, नागार्जुन, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नरोत्तम नागर, अञ्चल तथा भगवतीशरण उपाध्याय इनमे प्रमुख हैं।

इस प्रकार नवयुग में हिन्दी साहित्य के आलोचक दो वर्गों मे बँट चुके हैं—एक तो भारतीय साहित्य शास्त्र को आदर्श मानकर

चल रहा है और दूसरा मार्क्सवादी साहित्य से प्रभावित हुआ प्रगतिवादी बन चुका है।

पिछले पृष्ठों में हम समालोचना साहित्य के विकास को दिखा चुके हैं, इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी साहित्य के अन्य विविध अङ्गों की भाँति समालोचना साहित्य भी निरन्तर विकासोन्मुख है। समय तथा परिस्थितियों के अनुरूप हिन्दी साहित्य का आलोचक आज मानवता के प्रति जागरूक हुआ हुआ साहित्य को दिन-प्रति दिन शोषित तथा पीड़ित वर्ग के निकट ला रहा है। साहित्य तथा जीवन के सम्मिलन के ये मंगलमय चिन्ह हैं।

जीवनी तथा आत्मकथा

हिन्दी साहित्य का यह अंग अब तक पुष्ट नहीं हो सका। जीवनियाँ बहुत लिखी गयीं परन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनमें बहुत कम ही सफल हो सकीं। हिन्दी में जीवनियों की परम्परा का प्रारम्भ 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' और 'भक्तमाल' से माना जाता है। बनारसीदास जैन द्वारा पद्य में लिखित 'अर्द्ध कथानक' नामक आत्मकथा हिन्दी की प्रथम आत्मकथा है। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार भी यह आत्मकथा सब प्रकार से पूर्ण है। लेखक ने बहुत ईमानदारी से अपने जीवन की सफलताओं और असफलताओं का वर्णन किया है। भारतेन्दु बाबू के समय में जीवनी लिखने की परिपाटी पुनः प्रारम्भ होती है और अनेक लेखकों ने धार्मिक तथा सामाजिक नेताओं की जीवनियाँ लिखीं। द्विवेदी जी के समय में जीवनी लिखने की शैली का पर्याप्त विकास हुआ। द्विवेदी काल के प्रमुख जीवनी लेखक पं० माधवप्रसाद मिश्र, बाबू शिवनन्दनसहाय, पं० किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू राधाकृष्ण हैं। पं० रामनारायण मिश्र ने 'जस्टिस रानाडे' की सुन्दर जीवनी लिखी है। हिन्दी की स्त्री कवयित्रियों की एक सुन्दर जीवनी पं० ज्योतीप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने 'स्त्री कवि कौमुदी' नाम से लिखी है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी जीवनी लेखन में विशेष कुशल प्रतीत होते हैं, और इस विषय में चतुर्वेदीजी ने अनेक बार बड़ी बड़ी आशाएँ भी दिलायी हैं, परन्तु दुःख है कि उन्होंने इस विषय में अपने हाथ अभी तक खुलके नहीं

दिखाये। "चतुर्वेदी जी की लिखी हुई स्व० कविरत्न प० सत्यनारायण की जीवनी की बहुत प्रशसा की जाती है।

बा० ब्रजरत्नदास ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का एक विस्तृत तथा सुन्दर जीवन चरित्र लिखा है। प० रामनरेश त्रिपाठी ने 'मालवीय जी के साथ तीन दिन' नामक पुस्तक में मालवीय जी की जीवन कथा को सुन्दर ढग से लिखा है। मालवीय जी पर प० सीताराम चतुर्वेदी द्वारा लिखी पुस्तक पर्याप्त कलात्मक और सफल बन पड़ी है। प० जवाहरलाल नेहरू, महात्मा गान्धी तथा सुभाषचन्द्र आदि राजनैतिक नेताओं की जीवनियाँ तो हिन्दी साहित्य में बहुत लिखी गयी हैं, परन्तु उनमें कलात्मक बहुत थोडी ही हैं। धार्मिक तथा सामाजिक सुधारकों की लिखी गयी जीवनियों की तो कोई कमी ही नहीं। इधर पाश्चात्य राजनैतिक नेताओं की कुछ जीवनियाँ हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं इनमें स्टालिन, हिट्लर, मुसोलिनी, कार्लमार्क्स तथा मेजनी आदि प्रमुख है।

मौलिक आत्मकथाओं में स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक' बहुत सुन्दर रचना है। बाबू श्यामसुन्दरदास की आत्मकथा भी एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है। श्री राहुल साकृत्यायन की मेरी 'जीवन यात्रा' हिन्दी की एक अनूठी पुस्तक है। यद्यपि उनकी भाषा तथा शैली अधिक साहित्यिक नहीं, तथापि यह आत्मकथा हिन्दी साहित्य मे सर्वथा नवीन प्रयोग है। राहुल जी की लिखी हुई 'सरदार पृथ्वीसिंह' की जीवनी भी सर्वथा नवीन तथा मौलिक शैली में लिखी गयी है। भारत के उच्चकोटि के राजनैतिक नेताओं में से डा० राजेन्द्रप्रसाद ने ही अपनी आत्मकथा हिन्दी में लिखी है। राजनैतिक दृष्टि से तो इस पुस्तक का विशिष्ट महत्त्व है ही साहित्यिक दृष्टि से भी यह हिन्दी में अनुपम है। आत्मकथा के क्षेत्र में महादेवी वर्मा ने 'अतीत के चलचित्र' में बहुत सफल कलात्मक प्रयोग किए हैं। 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' हिन्दी में लिखे गए कलात्मक गद्य में सर्वश्रेष्ठ हैं। इधर श्री निराला जी ने भी 'कुल्लि भाट' तथा 'बिल्लेश्वर बकरिहा' में अव्यक्त ढग से आत्मकथा के कुछ अशों की अभिव्यक्ति की है। गुलाबराय ने 'मेरी

असफलताएँ' के नाम से अपने जीवन के कुछ रोचक अंशों का बहुत आकर्षक वर्णन किया है। स्वामी भवानीदयाल की लिखी 'प्रवासी की आत्मकथा'। राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।

अनुवादित आत्मकथाओं मे महात्मा गाधी तथा प० जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त श्रीमती कृष्णा हठीसिंह की आत्मकथा 'कोई शिकायत नहीं' शीर्षक से प्रकाशित हो चुकी है, श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के सस्मरण भी हिन्दी में अनुवादित हो चुके हैं।

सस्मरण लिखने में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को विशेष सफलता प्राप्त हुई है, उनके सस्मरण बहुत सजीव होते हैं, परन्तु चतुर्वेदीजी के सस्मरण पत्र-पत्रिकाओं मे ही बिखरे पडे हैं। प० अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी ने भी अपने जीवन के सुन्दर सस्मरण लिखे हैं। 'विशाल भारत' सम्पादक श्री प० श्रीराम शर्मा के भी सन्' ४२ के सस्मरण उक्त पत्रिका मे निकलते रहे हैं। यद्यपि ये संस्मरण सुन्दर बन पड़े हैं, परन्तु इनमें कुछ अभिमान की प्रधानता है जो कि एक साहित्य-सेवी—विशेष रूप से गान्धीवादी—के लिए शोभा नही देता। श्रीमती शिवरानी देवी ने मु शी प्रेमचन्द विषयक बहुत सुन्दर सस्मरण लिखे हैं ये सस्मरण सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित हो चुके हैं। अभी हमारे साहित्य का यह अग पूर्ण समृद्ध नहीं हो सका।

यात्रा सम्बन्धी पुस्तकों में पृथ्वी प्रदक्षिणा (श्री शिवप्रसाद गुप्त) मेरी यूरोप यात्रा (श्री रामनरायण मिश्र) मेरी तिब्बत यात्रा तथा सोवियट भूमि (श्री राहुल साकृत्यायन) अवारे की यूरोप यात्रा (डा० सत्यनारायण) मेरी इरान यात्रा (मु शी महेशप्रसाद) और मेरी यूरोप यात्रा (बाबू गौरीशकर प्रसाद) बहुत रोचक तथा पठनीय हैं।

उपसंहार

गद्य के विकास के फलस्वरूप इतिहास, राजनीति शास्त्र, अर्थ शास्त्र, दर्शन, समाजशास्त्र, भाषा विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान आदि विषयो पर भी प्रामाणिक तथा उत्कृष्ट रचना हो रही हैं। वैधानिक विषयो पर पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ हो चुका है।

साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी में तुलसी, सूर, कबीर, प्रसाद तथा प्रेमचन्द जैसे उत्कृष्ट कलाकार हो चुके हैं, उनकी अमर रचनाएँ विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है। विगत एक हजार वर्ष की परम्परा में हिन्दी साहित्य में आध्यात्म-चिन्तन की प्रधानता रही है, परन्तु आज का कलाकार इस पैत्रिक परम्परा को छोड बुद्धिवादी भौतिकता की ओर झुक रहा है। वर्तमान में प्रवृत्तियो की अस्थिरता के होते हुए भी निश्चय ही हिन्दी साहित्य प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। जन-संस्कृति तथा जन-जीवन मे आज कलाकार नवीन प्रयोग करने को उत्सुक है। शताब्दियो की साधना के अनन्तर हिन्दी आज स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र भाषा स्वीकृत हो चुकी है। हिन्दी कलाकार का उत्तरदायित्व बढ़ गया है, परन्तु हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि उसमें इस उत्तरदायित्व को निभाने की पूर्ण क्षमता है। वह आज जन-सम्पर्क में आ जनसाधारण को साहित्य का अधिदेवता बना रहा है।

हिन्दी साहित्य का भविष्य निश्चय ही उज्ज्वल है।

परिशिष्ट १

BIBLIOGRAPHY

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास

२. श्यामसुन्दरदास—हिन्दी साहित्य

३. हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका

४. आधुनिक हिन्दी साहित्य—लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय

५. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—कृष्णलाल

६. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—अयोध्यासिंह उपाध्याय

७. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामकुमार वर्मा

८. हिन्दी साहित्य का इतिहास—चतुरसेन शास्त्री

९. हमारा हिन्दी साहित्य और भाषा परिवार—भवानीशङ्कर शास्त्री

१०. जायसी—रामरत्न भटनागर

११. कबीर—हजारीप्रसाद

१२. तुलसीदास—माताप्रसाद गुप्त

१३. तुलसी—रामबहोरी शुक्ल

१४. महाकवि विद्यापति—गंगानाथ झा

१५. विद्यापति—रामरत्न भटनागर

१६. केशवदास—रामरत्न भटनागर

१७. संक्षिप्त हिन्दी नव रत्न—मिश्रबन्धु

१८. गुप्त की काव्यधारा—गिरिजादत्त शुक्ल

१९. जयशंकर प्रसाद—नन्ददुलारे लाल वाजपेयी

२०. निराला : एक अध्ययन—रामरत्न भटनागर

२१. पन्त : एक अध्ययन—नगेन्द्र

२२. हिन्दी उपन्यास—शिवनारायण श्रीवास्तव

२३. प्रेमचन्द : एक विवेचना—इंद्रनाथ मदान

२४. आधुनिक हिन्दी नाटक—नगेन्द्र

२५. सुकवि समालोचना—हरिदत्त
२६. हिन्दी के कलाकार—इन्द्रनाथ मदान
२७. नाट्य विमर्श—गुलाबराय
२८. नाटक साहित्य का इतिहास—सोमनाथ गुप्त
२९. कुछ विचार—प्रेमचन्द
३०. कहानी कला—विनोद शंकर व्यास
३१. उपन्यास कला—विनोद शंकर व्यास
३२. ग़बन—एक अध्ययन—प्रेमनारायण टंडन
३३. प्रेमचन्द—डा० रामविलास शर्मा
३४. प्रेमचन्द्र—मन्मथ नाथ गुप्त
३५. प्रेमचन्द की उपन्यास कला—जनार्दन झा द्विज
३६. प्रेमचन्द्र घर में—शिवरानी
३७. हिन्दी उपन्यास—शिवनारायण श्रीवास्तव
३८. २० वी सदी का साहित्य—नन्द दुलारेलाल बाजपेयी
३९. सूर सौरभ—मुन्शीराम शर्मा
३०. मानसांक—कल्याण
४१. अष्टछाप—धीरेन्द्र वर्मा
४२. केशव की काव्य कला—कृष्णशङ्कर शुक्ल
४३. केशव दास—चन्द्रवली पाण्डेय
४४. बिहारी की वाग्विभूति—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
४५. भारतेन्दु युग—राम विलास शर्मा
इत्यादि..................

परिशिष्ट २

यूनिवर्सिटियों के महत्व-पूर्ण प्रश्न

आदि युग

१. "विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में गूंजती हुई राधा कृष्ण के चरणों पर समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम साम्राज्य में अपने हृदय के सभी

विचारों को अन्तर्हित कर दिया है। उन्होंने श्रृगार रस पर ऐसी लेखनी उठाई कि राधा कृष्ण के जीवन का तत्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है।"

उपर्युक्त कथन की विवेचना करते हुए बतलाइये कि आपके मत से विद्यापति को शृंगारी कवियों में रखना उचित होगा अथवा भक्त कवियों में ?

(साहित्यरत्न—संवत् १९९७)

२. वीर गाथा काल की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। 'पृथ्वीराज रासो' चन्द वरदाई का लिखा नही, इसके पक्ष अथवा विपक्ष में प्रमाण दीजिए।

(साहित्यरत्न—सं० १९९९)

३. विद्यापति के पदा में जो माधुर्य है उस माधुर्य को उपासना का मर्मज्ञ ही प्राप्त कर सकता है। (साहित्यरत्य—स० २०००)

४. हिन्दी भाषा के प्राचीनतम नमूने किन मूला से प्राप्य हैं। उनसे प्राप्त सामग्रिया से भाषा के प्राचीन स्वरूप पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

(साहित्यरत्न—सं० २००१)

५. हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी शब्दा के शब्दार्थ, साधारण प्रचलित अर्थ तथा शास्त्रीय अर्थ क्या हैं ? (साहित्यरत्न—सं० २००१)

६. हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री की परीक्षा कीजिए। क्या यह सामग्री प्रमाणिक साहित्य के लिए पर्याप्त है ? कारण सहित उत्तर दीजिए। (साहित्यरत्न—सं० २००२)

६. हिन्दी भाषा की पूर्ण तथा वैज्ञानिक परिभाषा दीजिए तथा उसके इतिहास, भौगोलिक विस्तार तथा प्रधान जानपदिक (ग्रामीण) रूपों का संक्षिप्त परिचय दीजिए। (साहित्यरत्न—सं० २००२)

७. हिन्दी साहित्य के इतिहास में योगमार्ग का क्या महत्व है ? उसकी कुछ रचनाएँ साहित्य के अन्तर्गत गृहीत हो सकती है, या नहीं ?

(साहित्यालंकार—सन् १९०६)

८. हिन्दी साहित्य में वीरकाव्य के वारम्बार उत्थान का इतिहास संक्षेप में बतलाइए, और सतर्क उत्तर दीजिए कि आधुनिक काव्य धारा में देशभक्ति की

जितनी रचनाएँ हुईं ? उनमें से कौनसी वीरकाव्य में गृहीत हो सकती है ?

(साहित्यालंकार—सन् १९४९)

९. चन्द बरदाई का क्या रचना काल है ? इनके जीवन और ग्रन्थों का परिचय देकर रासो की ऐतिहासिकता और कविता की समालोचना करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९५१)

१०. हिन्दी साहित्य में वीरगाथा काल का जन्म कब और कैसे हुआ ? इसकी क्या विशेषताएँ हैं ? इस काव्य की भाषा की समालोचना करो। इस काव्य की ऐतिहासिकता कहाँ तक प्रमाणित हो सकती है ?

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९५२)

११. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति कब हुई ? उसकी जननी कौनसी भाषा है ? सप्रमाण और सोदाहरण लिखो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९५४)

१२. अपभ्रंश भाषा का क्या स्वरूप है ? अपभ्रंश तथा देश भाषा में क्या भेद है ? अपभ्रंश भाषा के उपलब्ध साहित्य का संक्षेप से वर्णन करो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९५४)

१३. "अनेक विद्वानों ने 'पृथ्वीराज रासो' के सम-सामयिक किसी कवि की रचना होने में पूरा सन्देह किया है और इसे १६ वीं शताब्दी में लिखा हुआ जाली ग्रन्थ माना है। यह ग्रन्थ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।" शुक्लजी के इन विचारों की युक्ति तथा प्रमाण सहित आलोचना करो। (प्रभाकर—सन् १९५५)

१४. हिन्दी साहित्य को कितने कालों में बांट सकते हैं ? और क्यों ? पं० रामचन्द्र शुक्ल के काल विभाग के आधार भूत नियम क्या हैं प्रत्येक काल की विशिष्ट विशेषता का वर्णन करते हुए उसके एक-एक प्रतिनिधि कवि का संक्षेप से वर्णन कीजिए। (हिन्दीप्रभाकर—सन् १९५५)

१५. हिन्दी में वीरगाथा काल के आविर्भाव के क्या कारण थे ? तत्कालीन परिस्थितियों का संक्षेप से वर्णन करते हुए इस काल के किसी प्रसिद्ध महाकाव्य की भाषा, छन्द तथा भावों की समालोचना करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९५५)

१६. पृथ्वीराज रासो' तथा उसके कर्त्ता के विषय में तुम क्या जानते हो ? रासो के प्रमाणित या कल्पित होने में क्या क्या युक्तियाँ हैं ? सप्रमाण अपने विचार प्रकट करो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४६)

१७. पृथ्वीराज रासो चन्द कृत है अथवा बारहवीं शताब्दी की रचना ? अपने मत की पुष्टि में कारण सहित उत्तर दीजिए। (प्रभाकर—सन् १९५०)

पूर्व-मध्य युग

(भक्ति काल)

१. सन्त साहित्य किन मूल धारणाओं को लेकर चला है ? उसका प्रेम मार्गी और भक्ति मार्गी साहित्य से क्या संबंध है ? (साहित्यरत्न—स० १९९७)

२. वैष्णव धर्म का विकास दिखाते हुए यह बतलाइए कि क्या वैष्णव-धर्म भी सुधार की भावना को लेकर चला है ? यदि ऐसा है तो वह सुधार भावना कौनसी थी ? आप के मत से वैष्णव धर्म बौद्ध तथा जैन धर्म से कहाँ तक प्रभावित है ? (साहित्यरत्न—स० १९९७)

३. कवि की दृष्टि से सूर तथा तुलसी की कविता की तुलनात्मक आलोचना कीजिए, और उसके आधार पर "सूर सूर तुलसी ससी" के पक्ष या विपक्ष में अपना मत लिखिए। (साहित्यरत्न—सं० १९९८)

४. हिन्दी के सन्त कवियों पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए। उसमें इस बात की छान-बीन कीजिए कि उन्होंने देश का क्या उपकार किया। (साहित्यरत्न—सं० १९९८)

५. कबीर और जायसी की तुलनात्मक समालोचना कीजिये। आपको दोनों में कौनसी शैली पसन्द है और क्यो ? (साहित्यरत्न—सं० १९९९)

६. कबीर की रचनाओं में सिद्धान्तों का प्राधान्य है, काव्य का नहीं। उनमें हमें साहित्य का सौंदर्य नहीं मिलता, हमें मिलता है एक महान सन्देश।" व्यापक काव्य सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर इस कथन की आलोचना कीजिए। (साहित्यरत्न—सं० २००१)

७. "सूर भक्ति के क्षेत्र में इतना आगे पहुँच गए थे कि समाज की

आवश्यकताओं का उन्हें ध्यान ही नही रहा।" इसकी विवेचना कीजिए।

(साहित्यरत्न—सं० २००६)

८. "कबीर की रचनाओं में सिद्धान्त का प्राधान्य है; काव्य का नहीं।" काव्य सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर इस कथन की आलोचना कीजिए।

(साहित्यरत्न—सं० २००६)

९ हिन्दी साहित्य की भूमिका निर्गुण सन्त शाखा पर अवलम्बित है या सगुण भक्ति काव्य पर? सोत्पत्ति उत्तर दीजिए।

(साहित्यालंकार—सन् १९३९)

१०. कबीर के जीवन की घटनाओं का उल्लेख करके उनके दार्शनिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों पर प्रकाश डालिए।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४०)

११. तुलसीदास और सूरदास की तुलनात्मक आलोचना करो। अथवा तुलसीदास का समय क्या है? इनके जीवन और ग्रन्थों का परिचय और कविता की समालोचना करो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४०)

१२. उत्तम पद कवि गंग के कविता को बलवीर।
केशव अर्थ गंभीर को सूर तीन गुण धीर॥

ऊपर लिखे दोहे की सोदाहरण आलोचना करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४०)

१३. भक्ति काव्य कृष्ण-भक्ति-शाखा का आरम्भ कब और कैसे हुआ? इस शाखा के सबसे प्रसिद्ध कवि के रचना काल, जीवनी और ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देकर उसकी कविता की समालोचना करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४१)

१४. हिन्दी साहित्य में भक्ति काव्य का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ? भक्ति काव्य की कितनी शाखाएँ हैं? कबीर किस शाखा के कवि हैं? इनके जीवन और ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देकर कविता की आलोचना करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४२)

१५. 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगण केशवदास।
अबके कवि खद्योत सम, इत उत करत प्रकास॥

ऊपर लिखे दोहे की सोदाहरण आलोचना करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४३)

१६. तुलसीदास का रचना काल क्या है ? इनके जीवन और ग्रन्थों का परिचय देकर उनकी कविता की सोदाहरण आलोचना करो ?

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४३)

१७. भक्ति काव्य मे कृष्ण भक्ति शाखा का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ ? इस शाखा के सबसे प्रसिद्ध कवि का रचना काल, जीवन और ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय लिखकर उस की कविता की समालोचना करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४३)

१८. हिन्दी साहित्य में भक्ति काल के कारण तथा परिस्थितिया पर एक सारगर्भित टिप्पणी लिखो। साथ ही भक्ति काल की भिन्न २ धाराओं का विशलेष्णात्मक का दिग्दर्शन कराओ। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४४)

१९. "सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास" इस प्राचीन उक्ति की आलोचना करते हुए तीनों महाकवियों का तुलनात्मक स्थान निर्धारित करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४४)

२०. जायसी तथा महात्मा कबीर की भाव, भाषा, तथा नैत्तिक शिक्षा की दृष्टि से तुलनात्मक विवेचना करो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४४)

२१. "भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्ही महानुभावों को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले है पर उनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और विचारों तक है। लोक सग्रह का भाव इनकी भक्ति का एक अग था।" गोस्वामी तुलसीदासजी के सम्बन्ध मे प्रगट किए गये इन विचारों का अपने शब्दों में उदाहरण तथा प्रमाण देकर समर्थन करो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४५)

२२. "यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उस में जीवन की भिन्न २ दशाओं का समावेश हो, पर जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने सचार किया उसका कोई कोना अछूता नहीं छोड़ा।" इस उक्ति के आधार पर सूर तथा तुलसी की तुलना करते

हुए उक्त विचारों का सोदाहरण समर्थन करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४५)

२३. कृष्ण भक्ति धारा का हिन्दी कविता में क्या स्थान है ? इस के प्रमुख कवियों पर निबन्ध लिखो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४६)

२४. निर्गुणधारा की कविता में कबीर का महत्व बताएँ।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४८)

२५ 'रामचरित मानस' क्यों हिन्दी की महान रचना समझा जाता है ?

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४८)

२६. मीरा बाई की कविता पर एक लेख लिखो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४८)

२७ 'सूर भक्ति के क्षेत्र में इतने आगे पहुँच गए थे कि समाज की आवश्यकता का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा।' इसकी विवेचना कीजिए।

(साहित्यरत्न—सं० २००६)

२८ कबीर की रचनाओं में सिद्धान्त का प्राधान्य है, काव्य का नहीं।' काव्य सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर इस कथन की आलोचना कीजिए।

(साहित्यरत्न—सं० २००६)

२६. जायसी कृत पद्मावत का आलोचनात्मक परिचय दीजिए। इस धारा के कवि हिन्दी प्रदेश में क्यों लोक प्रिय नहीं हो सके ?

(प्रभाकर—सन् १६५०)

३०. गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी के सर्व श्रेष्ठ कवि क्यों माने जाते हैं ? उनके संदेश का सार अपने शब्दों में दीजिए। (प्रभाकर—सन् १६५०)

३१. हिन्दी के मुसलमान कवियों पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए। (प्रभाकर—सन् १६५०)

३२ ज्ञानाश्रयी, प्रेममार्गी तथा सगुण भक्ति शाखाओं के पारस्परिक साम्य वैषम्य का निर्णय करते हुए बतलाइए कि इनके पौर्वापर्य में क्या किसी प्रकार के जनक जन्य सम्बन्ध का भी आरोप किया जा सकता है।

(एम० ए० आगरा—सन् १६४८)

उत्तर-मध्य युग

(रीति काल)

१. हिन्दी काव्य ग्रन्थ की समालोचना करने के लिए आलोचना के जिन सिद्धान्तों का ध्यान रखना पड़ता है उनको दृष्टि में रखकर 'रामचंद्रिका' या 'बिहारी सतसई' की समालोचना कीजिए।

(साहित्यरत्न—सं० १९९८)

२. रीति काल की क्या विशेषताएँ हैं? आचार्यत्व से आपका क्या अभिप्राय है? क्या बिहारीलाल जी आचार्य नहीं थे? रीतिकालीन कविता में उनका क्या स्थान है? (साहित्यरत्न—सं० १९९९)

३. निम्नलिखित विषय पर अपने विचार प्रगट कीजिए। आपके मत के विपक्ष में जो युक्तियाँ दी जा सकती हैं, उनका उत्तर अवश्य दीजिए।

"भूषण की कविता कवि कीर्ति सम्बन्धी एक अविचल सत्य का दृष्टान्त है।" (साहित्यरत्न—सं० २००१)

४. हिन्दी रीति-साहित्य पर उस विषय के संस्कृत साहित्य के प्रभाव की मात्रा तथा विस्तार का विवेचन कीजिए। (साहित्यरत्न—सं० २००२)

५. "साहित्य के इतिहास के किसी युग में भाव पक्ष की प्रधानता और कला पक्ष की न्यूनता तथा किसी दूसरे युग में इसके विपरीत परिस्थिति हो जाती है।" उपर्युक्त दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य के भिन्न युगों की समीक्षा कीजिए। (साहित्यरत्न—स० २००२)

६. "केशवदास के पीछे हिन्दी कविता अपने उच्च-शिखर से गिरकर अलकार आदि के मायाजाल में ऐसी फंसी कि वह हृदय तन्त्री को बजाने वाली और समस्त सृष्टि से मनुष्य मात्र के रागात्मक सामंजस्य को स्थापित करने वाली न रह गई।" इस कथन की विशद् विवेचना कीजिए।

(साहित्यरत्न—स० २००६)

७. द्वितीय उत्थान काल की वीरगाथाओं की तुलना आदि की वीर रचनाओं से कीजिए; और उनके साम्य और विभेद पर पूर्ण प्रकाश डालिए।

(साहित्यरत्न—सं० २००६)

८. देव कवि का क्या समय है ? इनके मुख्य ग्रन्थों का उल्लेख कीजिए और इनकी रचनाओं की आलोचना कीजिए। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४९)

६. भूषण कवि का क्या रचनाकाल है ? इनके जीवन और ग्रन्थों का परिचय देकर इनकी कविता की समालोचना करो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४०)

६. हिन्दी काव्य में रीति काव्य का प्रारम्भ कब और कैसे हुआ। रीतिकाव्य का क्या स्वरूप है ? हिन्दी काव्य पर इसका क्या प्रभाव पड़ा। इस काल के रचनाकाल और ग्रथों का नाम लिखो।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४३)

१०. रीति ग्रन्थों के सामान्य स्वरूप को दिखाते हुए यह प्रगट करो कि इन्हें साहित्य मीमासा के ग्रंथ मानने मे क्या आपत्ति है ? और क्यों ?

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४४)

११. "जो शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य मीमांसा का मार्ग अच्छी तरह खोलने के लिए हिन्दी साहित्याचार्य केशव की ऋणी रहेगी।" इस उक्ति को सप्रमाण सिद्ध करो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४४)

१२. कविवर बिहारी की कवित्व प्रतिभा एवं उनके ग्रन्थ की विशद आलोचना करो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४४)

१३. "इन नीति ग्रन्थों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था न कि शास्त्रीय काव्याङ्गों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना।" शुक्ल जी के इस कथन की उपलब्ध रीति ग्रन्थों के आधार पर आलो- चना करो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४५)

१४. "इन रीति ग्रन्थों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति का साहित्य-ज्ञान कच्चा ही समझना चाहिए।" प० रामचन्द्र शुक्ल के इस विचार की सहेतुक समालोचना कीजिए। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४६)

१५. रीतिकाल का सर्वोत्कृष्ट आचार्य कवि आप किसे मानते हैं और क्यों ? उसकी दो महत्वपूर्ण रचनाओं का भी परिचय दीजिए।

(प्रभाकर—सन् १९५०)

१६. रीति युगीन ग्रन्थकारों की आचार्यत्व की स्पृहा का तत्कालीन काव्य की प्रवृत्ति और उसके विकास पर जो प्रभाव पड़ा उसका निरूपण कीजिए।

(एम. ए. आगरा १६४८)

आधुनिक युग

गद्य

नाटक

१. ' हिन्दी के रग-मच की जो अवस्था भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में थी, वह अब भी है।'' इसका क्या कारण है? क्या इस दशा में कुछ उन्नति हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए 'प्रसाद' जी के नाटकों के अभिनेयत्व के प्रश्न पर प्रकाश डालिए। (साहित्यरत्न—सं० १९९७)

२. हिन्दी गद्य साहित्य का सिंहावलोकन कीजिए, और उनमें पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की सेवाओं का सविस्तर वर्णन कीजिए।

(साहित्यरत्न—सं० १९९९)

३. हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास सक्षेप से लिखिए, और बतलाइये कि उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा बा० जयशंकर प्रसाद ने क्या योग दिया।

(साहित्यरत्न—सं० १९९८)

४. आपके मत से आधुनिक हिन्दी का सर्व श्रेष्ठ नाटककार कौन है? हिन्दी के एक या दो अन्य नाटककारो से तुलना करते हुए अपने रुचि-सम्मत-नाटककार की श्रेष्ठता सिद्ध कीजिए। (साहित्यरत्न—सं० २००१)

५. हिन्दी नाटक के विकास पर आलोचनात्मक प्रबन्ध लिखिए।

(साहित्यरत्न—सं० २००२)

६. हिन्दी साहित्य में गद्य का विकास कब हुआ और कैसे? गद्य के प्राचीन विकास युग में कौन तीन प्रसिद्धतम लेखक हुए हैं? उनकी भाषा तथा शैली की सोदाहरण समालोचना करो। (हिन्दी प्रभाकर सन् १९४०)

७. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का हिन्दी मे क्या स्थान है? इनके अधिक प्रसिद्ध ग्रन्थो का परिचय देकर इनके गद्य तथा पद्य की समालोचना करें।

(हिन्दी प्रभाकर सन् १९४०)

८. हिन्दी गद्य के विकास पर शिक्षा प्रचार और धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों का क्या प्रभाव पड़ा? राजा शिवप्रसाद, स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु के गद्य की समालोचना करो। (हिन्दी प्रभाकर सन् १९४२)

९. हिन्दी नाटक का जन्म कब और कैसे हुआ? इसकी विशेषताएँ क्या हैं? जयशङ्कर प्रसाद के नाटकों का परिचय देकर उनकी नाटक कला की समालोचना करो। (हिन्दी प्रभाकर सन् १९४२)

१०. "भारतेन्दु ने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित किया, और उसे मधुर स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य तथा पद्य को भी नये मार्ग पर ला खड़ा किया।" ऊपर लिखे वाक्य की समालोचना करो।

(हिन्दी प्रभाकर सन् १९४३)

११. द्विवेदी जी का रचनाकाल क्या है? उनके जीवन और ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देकर उनके गद्य तथा पद्य की आलोचना और उनके स्थान का निर्णय करो। (हिन्दी प्रभाकर सन् १९४३)

१२. हिन्दी साहित्य में गद्य साहित्य के आविर्भाव, विकास एवं प्रसार पर विहंगम दृष्टि से आलोचना करे। (हिन्दी प्रभाकर सन् १९४४)

१३. हिन्दी नाटक साहित्य के उत्थान का संक्षेप से वर्णन करते हुए भारतेन्दु के नाटकों का स्थान निर्धारित करो। (हिन्दी प्रभाकर सन् १९४५

कविता

१. "वर्त्तमान हिन्दी कविता की मूल धाराओं पर विचार करतेहुए बतलाइये कि उनका देश की परिस्थितियों से क्या सम्बन्ध है?"

(साहित्यरत्न—सं० १९९७)

२. श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा प० अयोध्यासिंह उपाध्याय की कवि के रूप में तुलनात्मक समालोचन कीजिए। महाकाव्य के लक्षण स्पष्ट रूप से बतलाते हुए सप्रमाण लिखिए कि 'प्रिय प्रवास' तथा 'साकेत' में से किसमें महाकाव्य के लक्षण अधिक हैं। (साहित्यरत्न—सं० १९९८)

३. "आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यञ्जनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्य शैली की असली

विशेषता है ।" इस कथन का क्या अर्थ है ? द्विवेदी-कालीन कविता की छायावादी कविता की तुलना करते हुए, इस कथन की सत्यता की जाँच कीजिए । (साहित्यरत्न—सं० २००१)

४. प्राचीन तथा अर्वाचीन रहस्यवाद के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के विचार प्रगट कीजिए । उनके विचारों से आप कहाँ तक सहमत हैं, यह भी बतलाइए । (साहित्यरत्न—सं० २००६)

५. आधुनिककाल के दो श्रेष्ठ महाकाव्यों का उल्लेख कीजिए और उनकी भाषा शैली और काव्यगत विशेषताओं की दृष्टि से तुलना कीजिए । (साहित्यरत्न—सं० २००६)

६. छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद से आप क्या समझते हैं ? उनमे जो स्पष्ट भेद हो उसका सक्षेप मे उल्लेख कीजिए ।
(साहित्यालङ्कार—सन् १६३६)

७. हिन्दी काव्य में नवीन युग का प्रारम्भ कब होता है ? इस युग के काव्य की विशेषताएँ क्या हैं ? इस युग में हिन्दी का साहित्यिक स्वरूप कैसा रहा ? (हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४०)

८. हिन्दी काव्य में खडी बोली ने कब स्थान प्राप्त किया ? ब्रजभाषा को छोड़ हिन्दी काव्य ने यह नया रूप क्यों धारण किया ? श्रीधर पाठक, और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस परिवर्तन मे क्या सहयोग दिया ? इनकी कविता की समालोचना करो । (हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४२)

९. मैथिलीशरण गुप्त का रचनाकाल क्या है ? इनके जीवन और ग्रन्थों का परिचय देकर इनकी कविता की सोदाहरण समालोचना करो, और खड़ी के काव्य में इनके स्थान का निर्णय करो । (हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४२)

१०. हिन्दी काव्य में छायावाद के लक्षण निरुपण करो । पाश्चात्य साहित्य का छायावाद पर क्या प्रभाव पड़ा ? प्रसिद्ध छायावादी कवियो के नाम, उनके रचनाकाल तथा कृतियों के नाम लिखो । (हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४३)

११. वर्तमान हिन्दी काव्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए उसकी सामान्य प्रगति का निरूपण करो । (हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४४)

१२. आधुनिक काल की पुरानी तथा नई धारा के कवियों और उनके ग्रन्थों का दिग्दर्शन कराते हुए इस काल की विशेषताओं तथा उनके कारणों का विवेचन करो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४५)

१३. बाबू मैथिलीशरण गुप्त के ग्रन्थों तथा कवित्व की विशद आलोचना करो। साथ ही यह भी बताओ कि उन्हें राष्ट्रीय कवि क्यों कहते हैं?

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४५)

१४. आधुनिक रहस्यवादी कविता की विशेषताएँ क्या हैं।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४८)

१५. मैथिलीशरण गुप्त आर्य संस्कृति के कवि माने जाते हैं। इनकी रचनाओं के उदाहरण देकर उत्तर दो। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४८)

उपन्यास—कहानी—निबन्ध—समालोचना

१. श्री प्रेमचन्द तथा जयशंकर प्रसाद की गद्य शैलियो की तुलनात्मक आलोचना कीजिए, और प्रमाण देकर समझाइये कि इस समय अमुक कथाकार की शैली का हिन्दी पर सबसे अधिक प्रभाव है।

(साहित्यरत्न—सं० १९९७)

२. उपन्यास, छोटी कहानी तथा निबन्ध में क्या अन्तर है? हिन्दी साहित्य में इन तीन कलाओं की वर्तमान दशा का चित्रण कीजिए।

(साहित्यरत्न—सं० १९९९)

३. हिन्दी में निबन्धों के विकास पर छोटा सा लेख लिखिए और उसकी शाखा प्रशाखा का स्वरूप भेद समझाइये। (साहित्यालंकार—सन् १९४१)

४. वर्तमान युग में उपन्यास और आख्यायिका के कौन प्रसिद्ध लेखक हैं? केवल एक-एक लेखक का निर्माण काल, जीवन और ग्रन्थों का परिचय देकर उसकी शैली की समालोचना करो। (हिन्दीप्रभाकर—सन् १९४१)

५. हिन्दी साहित्य में आख्यायिका और समालोचना का जन्म कैसे हुआ? इनकी विशेषताओं और वृद्धि का सोदाहरण परिचय दो।

(हिन्दीप्रभाकर—सन् १९४३)

६. मुंशी प्रेमचन्द को उपन्यास सम्राट क्यों कहा जाता है? उनकी

कला की विशद विवेचना करते हुए उनके ग्रन्थों का पूर्ण परिचय दो।

(हिन्दीप्रभाकर सन् १६४६)

७. प्रेमचन्द की कहानी और कला पर एक निबन्ध लिखो।

(हिन्दीप्रभाकर—सन् १६४२)

साधारण टिप्पणियाँ

१. निम्नलिखित ग्रन्थकारों में से किन्हीं पाँच का परिचय देकर उनके ग्रन्थों के नाम लिखो :—मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम, पद्माकर, मैथिलीशरण गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी, प्रेमचन्द, नाथूराम शंकर, लक्ष्मणसिंह। (हिन्दीप्रभाकर—सन् १६४०)

२. नीचे लिखे कवियों में किन्हीं पाँच पर टिप्पणी लिखो—

खुसरो, उसमान, विद्यापति, मीरा, गिरधरदास, सियारामशरण गुप्त, प्रसाद, देव। (हिन्दीप्रभाकर—सन् १६४१)

३. हिन्दी में कौन-कौन से प्रसिद्ध मुसलमान कवि हो गए हैं? उनके रचनाकाल और ग्रन्थों के नाम लिखो। इनमें प्रसिद्धतम कवि के जीवन और ग्रन्थों का परिचय देकर इनकी कविता की समालोचना करो।

(हिन्दीप्रभाकर—सन् १६४२)

४. नीचे लिखे कवियों में से केवल पाँच पर टिप्पणी लिखो—

मतिराम, भूषण, चन्द बरदाई, महादेवी वर्मा, प्रताप नारायण मिश्र, प्रेमचन्द, गुरु नानक, राय देवीप्रसाद पूर्ण।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४२)

५. नीचे लिखे साहित्यिकों में से केवल पाँच पर टिप्पणी लिखो—

मीराबाई, स्वा० दयानन्द, राजा लक्ष्मणसिंह, प्रेमचन्द, मैथिलीशरण गुप्त, कबीर, विद्यापति, श्रीधर पाठक। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १६४३)

६. निम्नलिखित लेखकों में से पाँच पर संक्षिप्त विवेचनात्मक टिप्पणी लिखो—

मीरा बाई, भूषण, भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, जयशंकर प्रसाद,

मैथिलीशरण गुप्त, मुंशी प्रेमचन्द, राजा लक्ष्मण सिंह, लल्लूलाल।

(हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४४)

७. निम्नलिखित में से किन्हीं पाँच पर संक्षिप्त परन्तु विवेचनात्मक टिप्पणियाँ लिखिए—

जगनिक, मलूकदास, उसमान, कबीर, केशव, मतिराम, वियोगीहरि और पण्डित सत्यनारायण कविरत्न। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४५)

८. हिन्दी के मुसलमान कवियों पर एक सारगर्भित टिप्पणी लिखते हुए यह बताओ कि उन्होंने हिन्दी को क्यों अपनाया। (हिन्दी प्रभाकर—सन् १९४६)

९. निम्नलिखित कवियों में से किन्हीं चार पर परिचयात्मक टिप्पणी लिखो—विद्यापति मैथिलकोकिल, प्रतापसाहि, जायसी, केशव, पद्माकर, श्रीधरपाठक, महादेवी वर्मा। (प्रभाकर—सन् १९४६)

१०. निम्नलिखित में से किन्हीं चार पर परिचयात्मक टिप्पणियाँ लिखिए—

अपभ्रंश, पैशाची प्राकृत, बिहारी भाषा, ब्राह्मी लिपि, द्राविड़ भाषाएँ शौरसैनी प्राकृत, प्रतिशाख्य, लाहौरी। (साहित्यरत्न—सं० २००२)

आधुनिक काल

१. प्राचीन तथा अर्वाचीन रहस्यवाद के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के विचार प्रकट कीजिए। उनके विचारों से आप कहाँ तक सहमत हैं यह भी बतलाईये। (साहित्यरत्न—२००६)

२. आधुनिक काल के दो श्रेष्ठ महाकाव्यों का उल्लेख कीजिए और उनकी भाषा शैली, और काव्यगत विशेषताओं की दृष्टि से तुलना कीजिए।

(साहित्यरत्न—२००६)

३. हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का इतिहास संक्षेप में दीजिए। आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में इनसे कहाँ तक सहायता मिली है?

(प्रभाकर—१९५०)

४. आधुनिक हिन्दी कविता की छायावादी अथवा प्रगतिवादी धारा की विशेषताओं तथा गुणदोषों का विवेचन कीजिए। (प्रभाकर—१९५०)

५. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण में क्या महत्व था? उनके समकालीन दो अन्य लेखकों का भी परिचय दीजिए।

(प्रभाकर—१९५०)

६. अंग्रेजी भाषा और साहित्य का हिन्दी भाषा और साहित्य पर किस मात्रा में प्रभाव हितकर कहा जा सकता है अथवा अहितकर? कारण सहित उत्तर दीजिए। (प्रभाकर—१९५०)

७. हिन्दी में कहानी और उपन्यास के उदय तथा विकास पर एक लेख लिखिए। (एम० ए० आगरा—४८)

८. गत २५-३० वर्षों में पैदा हुए भिन्न-भिन्न साहित्यिकवादों का परिचय देते हुए बतलाइए कि वे हिन्दी-साहित्य की किस तरह की सामयिक जीवन स्थिति का बोध कराते हैं। (एम० ए० आगरा—४८)

९. "आधुनिक हिन्दी साहित्य गांधीवाद से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पूर्णतया प्रभावित है।" क्या यह कथन सच है? इसकी जॉच करो।

(साहित्यालंकार—१९५०)

१०. आधुनिक वैज्ञानिक युग में रहस्यवाद की ओर हिन्दी साहित्य कैसे प्रेरित हुआ? इस रहस्यवाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए प्राचीन रहस्यवाद से इसकी तुलना करो। (साहित्यालंकार—१९५०)

११. हिन्दी उपन्यास साहित्य के जन्म तथा विकास पर विचार करते हुए वर्तमान उपन्यासों की गति-विधि की विवेचना कीजिए।

(साहित्यालंकार—१९५०)

१२. प्रगतिशील साहित्य का मूल्यांकन कीजिए।

(साहित्यालंकार—१९५०)

१३. क्या छायावाद का युग समाप्त होगया? हिन्दी साहित्य को छायावाद की क्या देन है? (साहित्यालंकार—१९५०)